श्री काशी संस्कृत प्रन्थमाला २१

श्रीशौ बन्दे सस-पाठि श्रीशिव-

महिम्न-स्तोत्रम्

श्रोमद्गन्धर्वराजपुष्पदन्ताचार्यमुखकमलगीतम्



चीरवम्भा संस्कृत संस्थान

भारतीय सांस्कृतिक साहित्य के प्रकाशक तथा प्रचारक पो॰ बा॰ चौखम्भा, पो॰ बा॰ नं॰ १३९ जड़ाव भवन, के. ३७/११६, गोपाल मन्दिर लेन वागणसी (भारत)



ित्राम्याः । अस्य सम्बद्धाः ।। सम्बद्धाः ।। सम्बद्धाः ।। काशी संस्कृत ग्रन्थमाला

descent trait, fire HH

श्रीशौ वन्दे सप्त-पाठि श्रीशिव-

महिम्न-स्तोत्रम्

श्रीमदुगन्धवराजपुष्पदन्ताचार्यमुखकमलगीतम्

हरिहरपक्षीय-मधुद्धदनीटीकासमलङ्कतम् तद्नु च त्रिपाट्यपपद-पण्डितश्रीनारायणपतिश्मम-

विरचित-संस्कृतटीका १. संस्कृतपद्यानुवाद २. भाषाटीका ३. भाषापद्यानुवाद ४. भाषाबिम्ब- ५.

प्रभृति-

पश्चमुख्याख्यया व्याख्यया सम्वलितम् तथा शक्तिमहिम्नस्तोत्रसहितम्



चौरवग्भा संस्कृत संस्थान

भारतीय सांस्कृतिक साहित्य के प्रकाशक तथा प्रचारक पो॰ आ॰ चौखम्भा, पो॰ बा॰ नं० १३६ जड़ाव भवन, के. ३७/११६, गोपाल मन्दिर लेन वाराणसी (भारत)

प्रकाशक: चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी

मुद्रक : विद्याविलास प्रेस, वाराणसी संस्करण : द्वितीय, वि० संवत् २०४०

मूल्य : रु० ३०-००

(C) चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी इस ग्रन्थ के परिष्कृत तथा परिवर्धित मूल पाठ एवं टीका, परिशिष्ट आदि के सर्वाधिकार प्रकाशक के अधीन हैं।

संस्कृतिक विकास स्थापन स्थ स्थापन स्थापन

अन्य प्राप्तिस्थान
चौखम्मा विश्वमारती
पोस्ट बाक्स नं ० ८४
चौक, (चित्रा सिनेमा के सामने)
वाराणसी-२२१००१ (भारत)
फोन: ६४४४४

Charles and the Separation of the State of the Charles

KASHI SANSKRIT SERIES 21

ŚRĪŚIVA MAHIMNA STOTRA

> By PUSPADANTĀ CĀRYA,

with a Commentary of Madhusūdana-Sarasvatī,
and five other commentaries of

Pt. ŚRI NĀRĀYAŅA PATI ŚARMA TRIPĀTHĪ
and
ŚAKTI-MAHIMNA-STOTRA

Et. Mic 1 0544

CHAUKHAMBHA SANSKRIT SANSTHAN

Publisher and Distributor of Oriental Cultural Literature
P. O. Chaukhambha, P. Box No. 139
Jadau Bhawan, K. 37/116, Gopal Mandir Lane
VARANASI-221001 (INDIA)

C Chaukhambha Sanskrit Sansthan, Varanasi

Phone: 65889

Second Edition: 1983

Price: Rs. 30-00

MAHIMNA STOTRA

AVIETAR

PUREAUANTA GARYA

with a Commentary of Mart undana-suresculs.

IL SEL NARAYAMA PATT SARM

Also can be had of

CHAUKHAMBHA VISVABHARATI

Post Box No. 84

Chowk (Opposite Chitra Cinema)

VARANASI-221001

Phone: 65444

CHAUKHAMBHA SANSKRYT SARSTHAN

Publisher and Thirth Sucor of Oslan at Chimeral Literature
P. O. Chankhanhhar of Box Mo. 130
19than Bhan an, L. 174156, Gogal Manufullant
VARAMASIL 21001 - 186728

श्रीशौ वन्दे ।

की निवेदन पत्र स्थ

''विश्वनाथ!

मम नाथ!!

पुरारी !!!

त्रिभुवन माहिमा विदित तुह्मारी"।

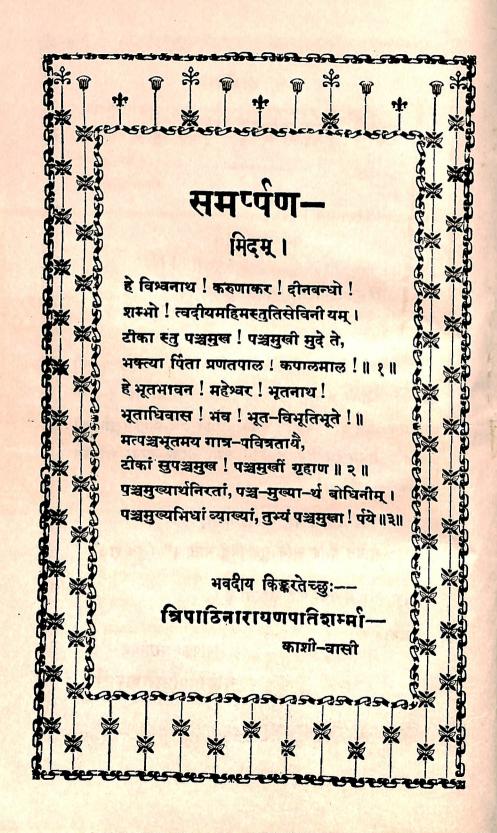
हे अनाथ नाथ !

आपकी महिम्नस्तुतिकी ये सब टीकायें केवल अपनी बुद्धि और वाणी के शुद्ध करनेकी इच्छा से लिखी गई हैं-अत-एव एक मात्र यही निवेदन है कि आपने जब महिम्नस्तोत्रको अपनाया है तो इन टीकाओंकोभी दया करके अपना लीजिए क्योंकि—

> ''जो बालक कह तोतरि बाता. मुदित होहिं सुनि गुरु पितु माता।" (तु॰ रा०)

बस और मैं क्या कह सकता हूं।

आपका परमाधम-नारायणपतिश्चम्मी।

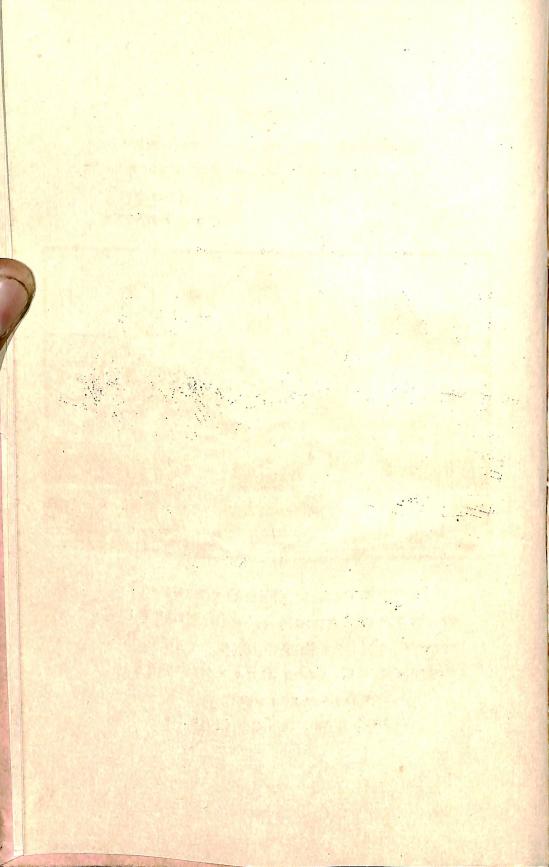


श्री शीवन्दे

"कर्पूरगौरं करुणावतारं, संसारसारं अञ्जगेन्द्रहारम्। सदावसन्तं हृद्यारविन्दे, भनं भवानीसहितं नमामि"॥ १८॥ (विव पुराण) ज्ञानसंहिता ६८ अ०



"यह देख धत्रके पात चबात औ गातसो धूलि लगावतु हैं चहु ओर जटा अटकें लटकें फिन सेक फनी फहरावतु हैं। "रसखान" जोइ चितवें चितहें तिनके दुख दुन्द भजावतु हैं, गजखाल कपालके माल विसाल सो गाल बजावत आवतु हैं।। १।। "गुरु पितु मातु महेस भवानी, प्रनवों दीनबंधु दिन-दानी। (तु० रा०)"



श्रीशौ वन्दे।

भूमिका-

में

प्रायः किव और काव्यके विषयकी कुछ चर्चा लिखी जाती है पर इस महिम्नस्तोत्रके रचियता श्रीमत्पुष्पदन्ताचार्य्य गन्धर्वराज हैं जिनका पता लगाना हम सब नरदेही लोगों के लिये बडाही कितन है फिरभी जो कुछ कथा वार्ता उपलब्ध हो सकी है वह उनके वृत्तान्त "पुष्पदन्तो–दन्त" में लिखदीगई है जो इस प्रनथ के साथ प्रकाशित भी करदी जाती है।

श्री महादेवके इस महिम्नस्तोत्रका वास्तविक नाम "धूर्जिट-स्तोत्र" है जैसा कि इसीमें कहा है "धूर्जरेः स्तोत्रमेतत्"-(३४) पर ग्रंथके आदिमें "महिम्नः" पदका प्रयोग होनेसे लोकमें महिम्न-स्तोत्रही नाम प्रचलित है-क्योंकि सामवेदकी तलबकार शाखाकी "केनोपनिषद्"-भी अध्याय और प्रथम मन्त्र के आदि में "केन" पद पड़नेहीसे तलबकारोपनिषद्के पर्य्याय (बदले) में "केनोपनि-षद" प्रसिद्ध है-इसी प्रकारसे "श्यामारहस्य" की स्वरूपस्तुतिभी आदि में कर्पर शब्द पड़जानेहीसे "कर्पूरस्तुति" कही जाती है। किसी किसी पुस्तकके आदिमें "श्रीपुष्पदन्त उवाच" यह पदभी-पाया जाता है, यह वाक्य "शैवागम" किंवा "शिवरहस्य" का है, क्योंकि उक्त ग्रंथोमें पहिले कविकी कुछ कथाका वर्णन करके तब यह अनादि स्तुति उद्घृत की गई है इससे इस स्तोत्रकी परम-प्राचीनता सिद्ध है। इस स्तोत्रके बत्तीसही ३२ श्लोक 'श्रीपुष्पदन्त-मुखपङ्कजनिर्गत" (४०) हैं इनके आगे फलस्तुति वाले श्लोक प्रायः उक्त शैवागम अथवा शिवरहस्यके हैं - क्योंकि उन श्लोकोंमें बहुत कुछ उलट फेर अथवा न्यूनता अतिरिक्तता (कमी बेशी) पाई जाती है, पर आजकल सर्वत्र ही महिम्नस्तोत्रके श्लोकोंकी संख्या चालीसही ४॰ मानी जाती है, अत एव इस ग्रंथमेंभी उही चालीस व्होकों पर "पञ्चमुखी टीका" अर्थात् संस्कृतटीका १ संस्कृत पद्या-

चुवाद २ भाषाटीका ३ भाषापद्यानुवाद ४ तथा भाषाबिम्ब ५ नाम-की पाँच टीकार्ये इसी इच्छासे लिखी गई है कि संस्कृत अथवा भाषाके प्रेमी लोगोंको कुछ आनन्द प्राप्त होवे और अपनीभी बुद्धि और वाणी पवित्र होसके जैसा कि इसीमें कहा है—

"मम त्वेतां वाणीं गुणकथनपुण्येन भवतः।

पुनामी त्यर्थेऽस्मि न्पुरमथन ! बुद्धि व्यंवसिता" (३)॥
इन संस्कृत और भाषा टीकाओंमें मूल श्लोकोंके जो पद उद्ध्या किये गये हैं वे कोष्ठमें (महिम्नः) रक्खे गये हैं और जहां कहीं कोई पद ऊपरसे लगाना पड़ा है वहां खड़ाकोष्ठ [] लगाया गया है उक्त चालीस श्लोकोंसे भिन्न और और भी जो स्फुट श्लोक मिलें हैं वे भी पद्यानुवादके साथ इसी लेखके अन्तमें लगा दिये गये हैं।

इस स्तोत्रको शैव सम्प्रदायके लोग तो श्रुतिके समानही मानते हैं वरन वेदाध्ययनकी परिपाटीके अनुसार रात्रिमें इसकाभी पाठ नहीं करते पर अन्य लोगोंमें भी इसका कुछ कम आदर नहीं होता—मेरे पूर्वपुरुष पण्डित रामानन्द त्रि गठीजीने अपने "विराड्विवरण" नामकप्रंथमें जो कि संवत् १७ १ वंकममें बनाथा इस महिम्नस्तो- त्रके—"असित गिरिसमं स्यात्" (३२) श्लोकको स्पृति करके लिखा है।

इस स्तेत्रकी कविता अथवा रचनाशैलीकी उत्तमता इतनेहीमें समझ लेना चाहिए कि इसी स्तोत्र के कर्ता पुष्पदन्ताचार्यने वर्र्घित अथवा कात्यायन होकर बड़ेसे बड़े अनेक प्रन्थ बनाये वर्र्ममहिष पाणिनिके रचित व्याकरण शास्त्रके सूत्रोंकी न्यूनताभी अपना वार्तिक बनाकर मेटादिया पर जैसा आदर इस बत्तीस ३२ एलोकके स्तोत्रसे उनको प्राप्त हुआ वह अलौकिकही नहीं वर्र्म अन्य प्रन्थोंसे अलभ्यही बनारहा वास्तवमें यह उहीका कथन बहुत ठीक प्रतीत होता है कि—

"स्थिराया स्त्वद्भक्ते स्त्रिपुरहर ! विस्फूर्जित मिदम्" (११) इसस्तोत्रके–"किमीहः किङ्कायः"(५) इत्यादिलेखों को देखकर कोई कोई इसे बौद्ध अथवा चार्चाक इत्यादिके समयका मानना चाहते हैं, परन्तु उन लोगोंको स्मरण रखना चाहिए कि शाक्यमुनि के पहिले- हीसे नाहितक मत प्रचिलत था वैदिक मत आहितकोंका था और उसके विरोधी लोगही नाहितक थे उही लोगोंके मतावलम्बी दैत्य राक्षसादिके साथी बहुतेरे अनार्य्य म्लेच्छ इत्यादि हुए फिर उहीं में चार्वाकभी बार्ड्यस्त्य मतका प्रचारक हुआ और चार्वाक दर्शनका कर्चा बना-जोहो पर इन प्रमाणोंसे इस-"अनौपम्यं मनोहारि" (३९) स्तोत्रका समय नहीं निणींत होसकता, अत पव इस विषय में माध्यापश्ची करना व्यर्थहीसा जान पड़ता है इसल्यि यह भार केवल पाठकोंके विचार पर निर्भर कर दिया जाता है, आशा है कि वे लोगभी यदि निरंतर उद्योग करते रहेंगे तो कभी न कभी यह त्रुटि (कसर) पूरी पड जावेगी।

इस छोटेसे स्तोज पर अनेक टीकायें यथा समय बनचुकी हैं पर वे सब अब प्रायः अलभ्य सी होगई हैं फिरभी कइक टीकायें प्रचित्तत हैं इन में ३२ श्लोकों पर पण्डितकोमलरामजीकी सुबोधिनी-टीका है जोकि साधारण एवं संक्षिप्त होने परभी मूलार्थ को प्रकट करदेती है-उसीके अन्तका यह श्लोक प्राचीन टीकाओंकाभी पत

वतलाता है-

"छात्राणां सुखबोधाय, नाना टीका नुसारतः। इयं कोमलरामेण, कृता टीका सुबोधिनी॥"

और दूसरी टीका "अद्वैतसिद्धि" नामक वेदान्तविषयक ग्रंथके रचिता तथा "शारीरक स्त्र" एवं "गीता"-इत्यादिके भाष्यकार काशीवासिनरत यतिवर "मधुस्दन सरस्वती" जीकी शिवविष्ण्व-र्थक व्याख्या "मधुस्दनी टीका" के नामसे प्रसिद्ध है इस में ३१ श्लोकों पर हरपक्ष और हरिपक्षकी दुहरी टीका लिखी गई है। यह टीका बहुत उत्तम और विद्वत्तापूर्ण होने से विद्वान् लोगोंके देखने योग्य हैं-अतः यही टीका इसग्रंथ में मूल श्लोकों के बाद रक्खी गई है-इस के भी आदिका श्लोक अन्य टीकाओं की सूचना दे-ता है—यथा—

"विश्वेश्वरं गुरु नत्वा, महिम्नाख्यस्तुतेरयम् । पूर्व्वाचार्य्य कृतव्याख्या-सङ्ग्रहः क्रियते मया ॥"

परन्तु स्वामीमहाराजने अन्त में अपनीटीका को टीकान्तर में लेजाने वालों को मनाकर दिया है—

पथा—"टींकान्तरं कश्चन मन्द्धी रितः, सारं समुद्धृत्य करोति चे त्तदा॥ शिवस्य विष्णो द्विजगोसुपर्वणा— मपि द्विषद्भाव मसौ प्रपद्यते॥ ५॥" (*)

अस्तु मद्तामाज्ञा अशोचनीया तो होतीही है परन्तु विचारणीय विषय यह है कि स्वयं तो—"पूर्व्वाचार्य्य कृतव्याख्या—सग्रहः" किया जावे और दूसरोंको बहुत बड़ा शपथ दिया जावे यह कैसी बात
है—? सम्भव है कि किसी दूसरे ग्रन्थमें इस टीका के सारका समुद्धार करनेके लिये ऐसे उच्चकोटिके विद्रानने रोककिया हो क्योंकि
"मामिनीविलास" के अन्तमें पण्डितराज जगन्नाथजीने भी इसी
भावको प्रकट किया है यथा—

' दुर्वृत्ता जारजन्मानो, हरिष्यन्ती ति शङ्कया। मदीय-यद्यरत्नानां, मञ्जूषेषा मया कृता॥"

जो हो नवीनटीकाकारको तो झखमारकर गुरुस्थानापन्न प्रा-चीन टीकाकारोंका अनुसरण अवश्यही करना पड़ता है-इससे इस पंचमुखीटीकान्तर्गत भाषा टीकामे कहीं कहीं स्वामीजीकी सूक्तियों-का सहारा लिया गया है और "त्रयी सांख्यं" (७) परतो विशेषरू-पसे अनुवाद करना पड़ा है इसके लिये मैं उनकी पवित्र आत्मासे क्षमाप्रार्थी हूं। क्योंकि इस साहस से भाषाभाषियोंकोभी उसका रसास्वादन मिलसकेगा। तीसरे टीकाकार ब्रह्मानन्द सरस्वतीजी-हैं उहाने लिखा है कि—

"यद्यपि विततव्याख्या, मधुसूद्दनप्रभृतिभिः पुराकारि । तथापि बालहिताय, संक्षिप्ता साऽधुना मया क्रियते"॥ १॥ और फिर समाप्ति पर यह लिखते हैं —

"महिन्नाख्य स्तवनस्य, टीकेयं सुमनोरमा । ब्रह्मानन्देन संक्षिप्ताऽकारि तुष्यन्तु सज्जनाः।"

इन सब उपर्युक्त टीकाकारोंके छेखोंसे यह बात भली भांतिसे स्वर्ष है कि ये सब टीकार्ये अनेक पुरातन टीकाओं को देखभालकर लिखी गई हैं, इनसे भिन्न कोई एक शिवरामी टीकाभी बनी है जिसमें एक अर्थ शिवयक्षमें और दूसरा रामपक्षमें

^(*) इन पयका अपक होनाभी सम्भव है।

लगाया गया है पर वह टीका मुक्ते नहीं मिली-इन सब संस्कृत टी-काओं के अतिरिक्त हिन्दी मांचा में भी इसकी अनेक टीकायें गद्य और पद्यकी बनी पर्य बहुतेरी छाभी चुकी हैं केवल हिन्दीही नहीं घरन भारतवर्ष भरके प्रत्येक प्रान्तकी अवान्तर भाषाओं में भी (१) इस स्तोत्र पर अनेक टीका टिप्पणियां लिखी गई हैं और वे सब प्रायः उन सब प्रान्तों में सादर प्रचलित हैं-कारण यही हैं कि यह यद्यपि श्री महादेवजीका स्तोत्र है पर प्रत्येक सम्प्रदाय अथवा सबी मतावलम्बयोंके कामका है इसीसे इस देशके प्रत्येक प्रान्तों में महिम्नका बड़ा प्रचार है-एक यह बात भी इस की प्राचीनता-का विशेष द्योतक है।

इस स्तोत्रके अन्त में यद्यपि एक श्लोक हरिणी छन्द एवं दो पद्य मालिनी छन्दके हैं, पर इसमें मुख्यतः शिखरिणी छन्दहीकी प्रधान-ता है-सम्भवहै कि शिखरिणी-छन्दका प्रयोग पहिले पहिल इसी स्तोत्रमें हुआहो, क्योंकि इसी स्तोत्रकी देखादेखी और भी अनेक महिम्नस्तोत्रोंका निर्माण हुआ है जिनमें यही शिखरिणी छन्द पाया-जाता है-शिवमहिम्न १ विष्णुमहिम्न २ गणेशमहिम्न ३ राममहिम्न ४ एवं कालिका महिम्न ५ इत्यादि सवी शिखरिणी छन्दके रंगमें पगे हैं इसीसे कोई कोई इस छन्दको "महिम्न छन्द" भी कहा करते हैं-बात यह है कि जब कोई अनूठाग्रंथ बन जाता है तो उसका अनु-करण करने वाले अवश्यही खड़े होजाते हैं, जैसे श्रीमद्भगवद्गीता-के जोड़ (आधार) पर-ईश्वरंगीता और व्यासंगीता, कूर्मपुराणमें, अगस्त्यगीता तथा रुद्रगीता, वाराहपुराणमें, शिवगीता, पद्मपुराण में रामगीता अध्यात्मरामायणमें और किपलगीता, अष्टावक्रगी-ता-एवं अवधूतगीता आदि अनेक गीतायें उदय होगई योंही रावण-कृत शिवतांडवके देखादेखी मेरे पूर्वजपण्डिन रामानन्दत्रिपाठीजीका हर्रतांडव तथा कृष्णतांडव और कालीताडव आदि बनते गये और महाकवि कालिदासजीके "मेघदृत" काव्य बनने पर "हंसदूत" "कोकिलदूत" आदिकाव्योंका प्रादुर्भाव होगया उसी प्रकारसे इस महिम्नस्तोत्रनेमी अनेक सुकवियोंसे अनेक देवी-

⁽१) लखनक कान्यकुब्ज प्रकाशयन्त्रालयमें एक उर्दू भीर हिन्दीकीटीका सं० १९४३ वै॰ की छपी मुझे छुन्नाजीकमिकाण्डीसे मिली है।

देवतों के महिम्नस्तोत्र बनवाडा ले बातभी ठीकही है-महिमाका गा-या जानाही सर्वत्र प्रसिद्ध है, और यह स्तोत्रभी ऐसे वैसे जन सा-धारणका नहीं वरन एक गन्धर्वराजाचार्थ्यका रचाहै-फिर अबतक सङ्गीतिवद्याके रिसक लोग प्रायः इस स्तोत्रको गाते तथा वीणा श्रीतार (वीन-सितार) आदि बाजों में बजाते हैं सम्भव है कि इसी स्तोत्रने महिमागानेकी प्रथा (चाल) चलाई हो तो कोई आ-श्चर्य नहीं है इसीसे पुस्तककी सहायता त्यागकर एकाप्र-चित्त हो इस स्तोत्रके कण्ठस्यही पाठ करनेका उल्लेख किया गया है-यथा

> "कण्ठस्थितेन पठितेन समाहितेन । सुप्रीणितो भवति भूतपति महिराः" (४०)

श्रीमहादेवजीकी जिन कथाओंकों पुराणोंके कहक अध्यायों में वर्णन किया गया है उनको इस स्तोत्रके एक एक श्लोकोंमें जिस उत्त-मता के साथ दर्शाया है उसे सहदय विज्ञभक्त जनहीं समझ सकते हैं-अस्तु इसस्तोत्रके श्लोकोंकी अकारादि-सूचीमें जहां जहांकी कथायें मिल सकी हैं वे पुराणादिकी सूचनाके साथ लगादी गई हैं आशा है कि कदावित् कोई उनकाभी मिलान करेगा तो विशेष आनन्द प्राप्त होसकेगा—

इस महिम्नस्तोत्रके अन्तमें तीन इलोक अर्थात् ४१।४२।४३ भी लगादिये गये हैं क्योंक प्रायः उनमें किसी किसीका कोई कोई पाठभी करते हैं और तिद्भन्न अन्यभी तीन श्लोक हैं जो कि सानु-बाद लिखदिये जाते हैं—

यथा—इत्येषा वाङ्मयी यूजा, श्रीमच्छङ्करपादयोः । अर्थिता तेन देवेशः (मे देवः) प्रीयतां मे सदाशिवः ॥ (परमेश्वरः) ४१

वाचामय पूजा यही, अरपौं सिव पद मांहि । श्रीपरमेश्वर (पारवतीपति) याहिते, मो पै नित हरखांहि ॥ ४१॥ तव तत्त्वं न जानामि, कीदृशोऽसि महेश्वर ! यादृशोऽसि महादेव ! तादृशाय नमो नमः ॥ ४२॥ जानौ तुमरो तत्त्व नहि, कस हौ गिरिजानाथ ! जैसो हौ तैसो नमों, महादेव धरि माथ ॥ ४२॥ पककालं द्विकालं घा, त्रिकालं यः पठे श्वरः । सर्वपापविनिर्मुक्तः, शिवलोके महीयते ॥ ४३ ॥ पकवार दुइवेर इहि, पढ़ त्रिकाल नर जोय । सबहि पापते छूटिके, सिवपुर पूजित होय ॥ ४३ ॥

शिवरहस्यमें इस महिम्नके सर्वोत्तम बत्तीसवें (असित गिरिसमं ३२) श्लोकके स्थान पर निम्न लिखितश्लोकों को लिखा है पर इसका क्षेपक होना माननाही पड़ेगा क्योंकि स्कन्दपुराणीय शिवरहस्यमें तो २७। २८ श्लोकोंके मध्यमें ये दो श्लोक देखपडते हैं और विचार करने पर असंगत और सर्वथा अप्रासङ्गिक जान पडते हैं—क्योंकि २६वेंसे—लेकर २९वें श्लोकतक यद्यपि पद्य पृथक् हैं पर कलापककी भांति चारोहीके संघटित करने पर अष्टमूर्ति—मन्त्रोंका उद्धार प्रकार टीकामें दिखाया गया है, तदनुसार इन दोनोश्लोकोंका मध्यमें घुसजाना वैसाही अनुचित ज्ञातहोता है जैसे हर—गौरीके वार्तालापमें हमारे कविपुष्पदन्ताचार्यजीका प्रवेश हुआ था (१) अस्तु जो हो पर श्लोंकों को तो श्रवणगोचर करना आवश्यक है क्योंकि शिव स्तुति है—

सतां वर्त्म त्यका श्रुतिसमधिगम्यं सहभुवं,
घृणा मप्युनमृत्य स्वजनविषयस्नेहगुणिताम्।
द्विजः इत न्पादे पितर मथ राद्धे त्विय विभो !
मनुष्यत्वं सद्य स्त्रिदशपरिणामेन विजहौ ॥ १ ॥
वपुः प्रादुर्भावा दनुमित मिदं जन्मिन पुरा,
पुरारे ! न क्वापि क्षणमिप भवन्तं प्रणतवान्।
नम न्मुकः सम्प्रत्य ह मतनुगर्वाद (रप्रेप्य) नितसा—
नितीश ! क्षन्तव्यं तदिद मपराधद्वय मिप ॥ २ ॥

इनकाभी पद्यानुवाद लेलीजिए— तिजकै पथ सज्जन साधुनकै, जिहि वेद पुरान भलो बतलाबत। किर दूरि दया सहजौ अपनी, निज लोग सनेह सनी मन भावत॥

⁽१) देखिए "पुष्यदन्तो दन्त" ए० ३य,।

भूमिका।

द्विज कोउ पिता पद पंकज काटि
विभो शिव शंकर! तोहि रिझावत।
तुरते तनु मानुषके बदले
सुरदेह लहोो महिमा समुझावत॥१॥
वपु धारनते अनुमानत हों,
नहिं पूरव जन्महि कीद्व प्रनाम्।
त्रिपुरान्तक! में तुमको कवहूं
सब सोचि फिरों मनही मन ठामू॥
नमते अब मुक्त विदेह भयों,
करिहों नहि आजुते फेरि प्रनाम्।
अपराध हमार छमो यह दोय,
करों विनती जगदीस! निकामू॥२॥

इस दूसरे इलोकको अलङ्कारविषयक प्रसिद्ध "कुवलयानन्द" नामक ग्रंथमें भी उद्गध्नत किया है यों ही एक यद्य यह भी दृष्टि गो-चर होता है—

जातस्य जायमानस्य, गर्भस्थस्यै व देहिनः।
माभूच तत्कुले जन्म, यत्र शम्भु र्न देवता ॥
जो जनमे वा होंहिगे, गर्भमें रहै (जौ) कोय।
इष्ट देव जहँ शिव नहीं, तहां जन्म नहिं होय॥
अच्छा अब मैं पाठकोंकी सेवामें "असितगिरिसमं" (३२) का
भी कुछ अनुवाद समर्पण कर देता हूं आशा है इसका आस्वादनभी
स्यात् रुचिकर हो—

"असितगिरि समं स्या त्कज्जलं सिन्धुपात्रे, सुरतस्वरशाखा लेखनी पत्र मुर्व्वो । लिखति यदि गृहीत्वा शारदा सर्वकालं, तद्यि तव गुणानो मीश ! पारं न याति (३२) कज्जल कज्जल-पर्वतको करि,

कज्जल कज्जल-पर्यतको करि, सज्जल सिधुवनै मसिदानी लेखनि कल्प तरूनिक डारिन, पत्र जहां पृथिवीहि वखानी । लेकरिके इनको निस्ति वासर, तो गुन लेखन मांहि सिरानी। पार न पाइसकी जब सारद ईश! तबै अतिसै अकुलानी॥ ३२॥

अच्छा एक नम्ना उर्दूदां लोगोंकी जवांका है— दवायत वने जविक सारा समुन्दर, वने रोशनाई बड़े नील-गिरकी । जिमी तख्त कागद लिखे शारदा नित् नहीं खातमा हो तुमारे गुनों का ॥ ३२॥

अब आजकल अंध्रेजीदां विद्वानोंकी भी वात बहुत चढ़ी बढ़ी समझी जाती है जरासी इनकी भी वानगी देखनी चाहिए—

> सी इंकपाट इंक हो नीलगिरका, वनै य्येन फलपट्रीके जब ब्रेंचका। करै राइटिंग शारदा हर मिनटमें नहीं (नाट) एंड पावै तुमारे गुनोमें॥ ३२॥

बंगलाभाषाकी हिन्दुपत्रिकाके वर्ष १७ संख्या ४ से

उद्धृत-वङ्गानुवाद

हे ईश! नीलादि मसी, सिन्धु मसी पात्र, कटातरु शाखा हय लेखनीठि तत्र। पृथ्वी यदि पत्र हय, एई उपादान चय, निये यदि सरस्वती सदा लिखे यान, तथापि तव गुणेर अन्त नहि पान॥ ३२॥

योंही यदि ढूंढ खोज की जाय तो अनेक भाषा भाषियों की सूक्तियों का संग्रह हो सकता है परन्तु पाठक महोदयों का जी घवड़-वाय देना ठीक नहीं इससे अब इस लेख की इति श्री कर देना आव-श्यक है।

अन्त में सविनय निवेदन है कि भूल चूक होना मनुष्य स्वभाव सुलम विषय है। अतः इस छोटे से स्तोत्रकी टीका आदि में जो कुछ त्रुटियां रह गई हैं उन्हें हमारे विज्ञ पाठकगण सुधारनेकी दया अवश्य ही दरसावेंगे और इस भगवत्स्तुति को घीका लड्ड टेढा भी होने पर स्वादिष्ट ही समझने की नीति का अवलम्बन करेंगे। अतः भाव और भाषा की अशुद्धियों के शोधन का भार तो पाठकों ही के आधीन है पर अक्षरोंका संशोधन शुद्धा शुद्ध पत्र द्वारा कर दिया गया है कृपया यथा स्थान पर देख लेने की प्रार्थना है।

किमधिकमधिकज्ञेषु-शम्।

श्रीकाशो धाम १९६६ सं० शिवरात्रि ।

निवेदक महिस्तरतोत्र-प्रेमियों का-त्रिपाठि नारायणपति शमो।



विशेष-यह कि जब शिव-शक्तिका संयोग नित्य है तो 'शिव-अहिस्त स्तोत्र के" साथ "शक्तिमहिस्तः स्तोत्रका" संयोजित होना उपयुक्त समझ पड़ने से शिखरिणी छन्द में न होनेपर भी इस प्रन्थ का सहयोगी वा सहपाठी रक्ला जाना आघश्यक हुआ है।

॥ श्रीशौ वन्दे ॥

गन्धवराज श्रीमत्पुष्पदन्ताचार्यजी का

वृत्तान्त।

श्री जगदीशकी लीला अपरंपार है, उसकी क्या इच्छा है ? इसे वहीं जानता है दूसरेकी क्या सामर्थ्य है जो वता सके, देखिए कभी पौर्बीय जनपदवासियोंका अभ्युद्य होता है तो सारा संसार उन्हींका अनुकरण करने लगता है जैसाकि कहा भी है—"गतानु-गतिको लोकः।" अस्तु आजकल पाश्चात्य देशहीकी दशा सुधरी हे अतएव सबीकी इच्छा पाश्चात्य रीतियोंही पर लालायित होने लगती है, - आज एकही बात का उदाहरण (नमूना) दिखलाना चाहता हूं, पाश्चात्यरीति है कि प्रत्येक ग्रंथमें चाहे वह छोटा हो अथवा बड़ा हो पर ग्रंथकारका जीवन-चरित और कुछ समय इत्यादिकी भी चर्चा अवस्य लिख दी जाती है - बस इसी प्रथाके अनुसार आजकल इस भारतवर्षमें भी वही चाल निकल पड़ी है, वास्तवमें यह रीति प्रशंसनीय है। पर अड़चनकी बात तो यह हो जाती है कि—पाश्चात्य प्रंथकारलोग प्रायः अभी दोसहस्राब्दियोंके अन्तर्गत हैं अत एव उन लोगोंका इतिवृत्त संग्रह करनेमें एवं काल-निणीत होनेमें विशेष प्रयास नहीं उठाना पड़ता। पर इस देशके प्राचीन कवियोंका पुरातत्त्व अन्वेषण करनेमें वड़ी बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। अन्य देशीय आधुनिक विद्वान लोग जो इस देशके ग्रंथकारोंका निर्णय करने लगते हैं तो उनके विचारमें यहांके 'आदि कवि"—भगवान वाल्मीकि अथवा वेद्व्यासभी-(हजरत) ईसाके पूर्व कठीं किंवा आठवीं शताब्दीके बताये जाते है, और कहांतक कहा जावे -अपारुषय वेदभी तीन सहस्र वर्षके भीतरही ठहराये जाते हैं, तो कहिए इस ऊटपटांग प्रलापसे निर्णय होना तो दूर रहा बरन अगाध संशयरूपी हदमें गोतें लगाने पड़ते हैं— सच है जब कि यह छि ही अभी पांच सहस्र वर्षके भीतरकी

समझी जाती है तो इसके पहिले-"आसीदिवं तमोभूतं" से भिन्न दूसरा क्या कहा जा सकता है ? जो हो, पर विचारकी दृष्टिसे देखा जावे तो जबसे इस देश पर विदेशीय विधर्मी यवन-मलेच्छा-दिकोंके आक्रमण होने लगे तबसे यहांक कितनहीं संस्कृत भाषाके अपूर्व ग्रंथरत स्वो गये अव उनका मिलना कठिनही नहीं बरन सर्वथा श्रसंभव हो गया है, इसीसे निर्णय करनेके लिये जितनी सामग्री (मसाला) की अवश्यकता पड़ती है वह सब नहीं प्राप्त हो सकती, तो बतलाइये कि समयका निर्णय कैसे किया जावे? क्योंकि आज में जिसका उहुंख करना चाहता हूं —बहुत दूँढने पर भी कोई ऐसा प्रमाण नहीं प्राप्त हुआ जिससे समयका ठीक ठीक निर्णय कर दिया जावे। अब जीवन चरितके विषयमें यह वक्तव्य है कि "कथा सरित्सागरमें" जो कुछ पुष्पद्न्तका वर्णन पाया जाता है, वह उनके दूसरे जन्म की कथा है, जब कि वे वरशीचके नामसे प्रसिद्ध हुए थे, और उन्हींका उपनाम कात्यायनभी पड़ा था, जैसा कि उक्त प्रथके द्वितीय तरंगका प्रथम क्लोक देखनेसे स्पष्ट श्वात हो जाता है। यथा-

"ततः स मर्त्यवपुषा, पुष्पदन्तः परिभ्रमन्। नाम्नाः वररुचिः, किञ्च कात्यायन इतिश्रुतः॥"

इस इलोकमें "मर्त्यवपुषा"-कहनेही से पुष्पदन्तका मनुष्य योनिसे भिन्न अर्थात् गन्धर्व्वराज होना प्रकट है—उपर्यंक "कथा सिर-त्सागरके" प्रारम्भहीमें "कथापीठ नामक" प्रथम लम्बकके आठ तरंगोंमें श्रीपुष्पदन्तकी कथा विस्तार पूर्वक वर्णित है, उसी कथा भागको संक्षिप्त क्रपसे अपने प्रेमी पाठकोंके अवलोकनार्थ उद्धृत कर देता हूं।

पकवार परम रमणीय कैलास शिखर पर जगदम्बा पार्वती जीके आग्रहवश उन्हींका मान छुड़ानेके लिये भगवान शंकरजी अनेक प्रकारके विचित्र इतिहास कहने लगे। उस वेला नन्दी नामक गण इस लिये द्वार पर वेटाया गया था कि कोई भी भीतर नहीं आने पार्व। इसी में—

"प्रसादवित्तकः शम्भोः, पुष्पदन्तो गुणोत्तमः । न्यषेधि च प्रवेशोऽद्य, निस्ति द्वारि तिष्ठता ॥ १ ॥ ४९ ॥

पुष्पद्नत नामक महादेवजीका छपापात्र गण विना कारणही द्वार पर रोक टोक देखकर अपने योगबलसे भीतर घुस गया। और वहाँ पर पहुँच कर साते। विद्याधरोंकी अद्भुत कथा सुनता रहा, तदन्तर अपनी पत्नी जयासे जाकर कह दिया। उसके पेटमें वह बात नहीं पच सकी, उसने सब कथा भगवती पार्वतीजीसे कह सुनाई। फिर पार्वतीने शिवजीसे कहा कि।जिस कथाको आपने गुप्त रूपसे सुनाया था उसे तो जया भी जानती है। इस पर भग-घानने प्रणिधान करके विचारा तो पुष्पदन्तका सब करत्त खोल-कर कह सुनाया, तब तो श्रीपार्वतजीने क्रोध करके पुष्पदन्तको मनुष्य होनेका शाप दे दिया, फिर उसके लिए सानुरोध प्रार्थना करने पर उसके परममित्र माल्यवानका भी वही शाप मिल गया। तदनन्तर जयांके बहुत गिड़गिड़ाकर विनती करने पर आज्ञा मिळी कि-विन्ध्याचल पर सुप्रतीक नामक यक्ष काणभूति नामा पिशाच हुआ है, उसे देख जातिको स्मरण करके जब पुष्पदन्त सब कथा कहेगा तो उसका शापोद्धार होवेगा। और काणभूतिसे जब माल्यवान सुनेगा तब काणभूतिके मुक्त होजाने पर इस कथाको ळोकमें प्रसिद्ध करके माल्यवानभी शापसे छूट जावेगा। इस प्रकार से शापोद्धार बताकर भगवतीके चुप होते ही वे दोनों गण विजुरीके समान तुरतही अन्तर्धान हो गये।

"अथ जातु याति काले, गौरी पप्रच्छ शक्करं सदया। देव! मया तो शप्ती, प्रमथवरी कुत्र भुवि जाती ॥ ६३ ॥ अवद्य चन्द्रमौलिः, कौशाम्बीत्यस्ति या महानगरी। तस्यां स पुष्पदन्तो, वररुचिनामा प्रिये! जातः ॥ ६४ ॥ अन्यश्च माल्यवानिप, नगरवरं सुप्रतिष्ठिताख्ये सः। जातो गुणाढ्यनामा, देवि! तयोरेष वृत्तान्तः ॥ ६५ ॥"

अर्थात्-इसके अनन्तर कुछ काल बीतजाने पर जगदम्बा पार्वतीजीने दयासे आईचित्त होकर श्रीमहादेवजीसे पूछा कि-हे देव! मेरे शापित वे दोनों गणश्रेष्ठ भूममंडल पर कहां उत्पन्न हुए? इस पर भगवान चन्द्रमौलिने कहा कि, हे विये! जो कौशाम्बी नामकी महानगरी है, उसीमें पुष्पदन्त वरहचि नामसे उत्पन्न हुआ। और मास्यवानभी सुप्रतिष्ठित नामक उत्तम मगरमें गुणाढ्य नामसे उत्पन्न हुआ (है) हे देवि ! उन दोनोंका यही धृत्तान्त है।

(प्रथम तरंग)

कौशाम्बी नगरीमें सोमदत्त अथवा अग्निशिख नामक ब्राह्मण-की पत्नी वसुदत्ताके गर्भसे वररुचिका जन्म हुआ। उसका पिता बहुत बचपनहीमें सुरधामको सिधारगया, इससे माताने बडे कष्टसे उसका पालन पोषण किया । पकवार वेतसपुरके निवासी देवस्वामीका पुत्र इन्द्रदत्त और करम्भकका पुत्र व्याडी-दोनों भाई उसके घर पर रातभर टिकनेके लिये आये। उसी रातमें मदंगकी ध्वनि सुनकर वररुचिने आपनीमातासे नाटक देखने के लिये आज्ञा मांगी, और यहभी कहा कि मैं लौटआने पर तुमको सब दिखादुंगा इसपर इन्द्रदत्त और व्याडि दोनोंही बड़े विस्मित हुए। तब वसुद-त्ताने कहा कि, यह छडका एकश्रुतिधर है, अतएव इसके विषय में आप लोग कुछ सन्देह न करें। फिर उन दोनोंने परीक्षा करने के लिये प्रातिशाख्यका पाठ किया वररुचिने उसे सुनादिया। तद-नन्तर उन दोनोंके साथ जाकर अपने पिताके मित्र नन्दनामक नटका अभिनय देखा, फिर घरपर आकर अपनी माताके सामने ज्योंकात्यों करदिखलाया। इसपर उन दोनोंको बडी प्रसन्नता हुई, क्योंकि जब उन दोनोंने विद्याके निमित्त तपस्या की थी तो भगवान स्वामिकार्तिकजीने वरदान किया था कि, पाटलिपुत्र (पटना) में वर्ष नामक उपाध्यायसे तुमलोग विद्या प्राप्त करोगे । शंकर-स्वामी नामक ब्राह्मणके वर्ष और उपवर्ष अनामक दो पुत्र थे। उनमें वर्ष तो द्रिद्र और मुर्ख था, पर उपवर्ष धनी तथा पण्डित था ' उसीकी स्त्रीके तिरस्कार करनेसे वर्षने विद्या प्राप्त करनेके हेतु बड़ा कर ठोर तप किया, उसपर प्रसन्न होकर श्रीस्वामि कार्तिकजीने समस्त विद्याओंको प्रकाशित करके कहाकि जब तुम एकश्रुतिधरको पा-ना तब अपनी विद्याको प्रकाश करना । इसीसे जब इन्द्रदत्त और व्याडि उसके घरपर गये तो वर्षकी भार्याने कहाकि, जबतक कोई एकश्रुतिधर नहीं आवेगा तबलों ये अपनी विद्याका प्रकाश नहीं

^{*}इन्होंने जैमिनिमूत्र और बादरायण सत्रोंपर भाष्यवनाया है. भगवान् शंकरार्चायने अपने भाष्यमें इनका उल्लेख किया है।

करेगें। बहुत हूंढ़नेके अनन्तर बररुचिको एकश्रुतिघर पाकर उम दोनों के हर्षकी सीमा नहीं रही। फिर उनलोगोंने वसुदत्ताको सब समाचार सुनाकर एवं कुछ धनभी देनेके अनन्तर वरहचिको पढ़ाने के लिये मांगा। इसपर वसुदत्ताने कहाकि, जब यह लडका उत्पन्न इआ तो उस समय आकाशवाणी हुई थी कि, यह बालक एकश्रुति धर होगा, और वर्षसे विद्या पावेगा, एवं व्याकरणशास्त्रका आचार्य होगा. और इसे वही रुचेगा जो कुछ वर (अच्छा) होगा-अतएव इसका नाम वररुचि पडेगा-इसकेलिये मैं तबीसे सोचकरती हं कि वह वर्ष उपाध्याय कहां है ? पर आज तमलोगों के मुखसे सब बातें जानकर मेराभी परिताष होगया—सो यह तुमलोगोंका भाई है, इसे अपने साथ लिवाजाओं इसमें कुछ हानि नहीं है। इस प्रकार से वररुचिकी माताका कथन सुनकर वे दोनोंही परम अल्हादित हुए फिर वररुचिका यज्ञोपवीत संस्कार करके उसे वेद पढ़ने. का अधिकारी बनाया। इसके पीछे वे तीनों जन वर्ष उपाध्यायके पास पहुंचे, इन तीनोंको देखकर वह बहुतही प्रसन्न हुआ समस्त वेद वेदांग उन सबोंको पढ़ादिया-क्योंकि वर-रुचि एकश्रतिघर, व्याडि द्वि-श्रुतिघर, और इन्द्रदत्त त्रि-श्रुति धर था-

> "सकुच्छूतं मया तत्र, द्विःश्वतं च्याडिना तथा। त्रिःश्वतञ्चेन्द्रदत्तेन, गुरुणोक्तमगृद्यत॥ ८०॥"

वर्ष उपाध्यायको पुरवासी लोग मूर्खही जानते थे पर एकाएकी जब उसकी विद्याका इंका वजनेलगा तो ब्राह्मणलोग बडेही आध्यंसे देखकर प्रणाम करने लगे। और सारे (सबी) पटना के रहने वाले वहुत प्रसन्न हुए, यहां तक कि, वहां के राजा नन्दने भी वड़े आदरके साथ वर्षको बहुतसा धन देकर उसका घर भरदिया।

(दितीय तरंग)

तद्नन्तर उपवर्षकी बेटी उदकोशासे वररुचिका विवाह हुआ। जिसके पातिव्रत और शुद्ध चरित्र पर मुग्ध होकर राजा नन्दने उसे अपनी धर्मकी भगिनी बनाई। फिर वर्षके पाणिनि नामक

पक मुसं शिष्यने श्रीमहादेवजीसे वर पाकर अपना एक नया ध्या-करण निर्माण किया, और जब वरशेखने उससे शास्त्रार्थ किया तो शिवजीने अपने हुंकारसे वरशिचका इन्द्रमत-वाला व्याकरण भुलवा दिया। तब फिरसे वरशिचने महादेवजीका तपोनुष्ठान करके उन्हींसे नूतन व्याकरण सीखा । और पाणिनिके व्याकरण (कीन्यूनता)को (बार्तिक बनाकर) पूरा किया। इसके पीछे इन्द्रदत्त और व्याङिने वर्ष उपाध्यायसे गुरुदक्षिणा मांगनेकी प्रार्थनाकी-तब उसने एक करोड़ स्वर्ण (मुद्रा) मांगा। तिस पर सम्मति करके तीनोंही जन राजा नन्दके पास गुरुदक्षिणा देनके लिए धन मांगने गये इन लोगोंके पहुँचतेही राजाका शरीरान्त होगया।

अनन्तर इन्द्रदत्त योगबलसे राजाके द्यारिमें घुसगया। और इन्द्रदत्तके निर्जीव द्यारिकी रक्षाके लिये ब्याडि नियुक्त हुआ। वह इन्द्रदत्तका (मृत) देह लेकर एक मन्दिरमें अगोरता रहा। इसी समयमें वरहिचने उसके पास जाकर एक करोड़ स्वर्ण (मृद्रा) मांगा। इसपर द्याकटाल (र) को जो उस राजा का महामन्त्री था—सन्देह हुआ, उसने आज्ञा देदी कि जितनेही द्याव (मुदें) नगरमें होवें तुरत फूंकवादिये जावें। फिर क्या था त्याडिके बहुत रोकने लेकने परभी राजाके कर्मचारियोंने इन्द्रदत्तका शरीर जलाकर राख कर-दिया। तत्पश्चात् वरहिचको धन मिला, तब ब्याडितो उसे लेकर गुरु-दक्षिणा देने गया। और राजाने जीते हुए योगी ब्राह्मणको फुंकवादेनेका दोष लगाकर दाकटालको टाल (हटा) कर वरहाचि-हिको अपना मन्त्री बनाया। वहमी अपनी पतिप्राणा पत्नी उपकाशाके साथ पटना नगरमें रहकर आनन्द पूर्वक राजकाज करने लगा।

(चतुर्ध तरंग)

इसके अनन्तर योगानन्दसे विरक्त होकर जब वररुचि वनवन फिरने लगा तो शकटालने चाणक्य नामक बडे क्रोधी ब्राह्मणद्वारा नन्द-वंशका नाशकराय राजसिंहासन चन्द्रगुप्तको दिलवाया। तब

^{*}वडी शिवजीका व्याकरण पाणिनीय कहलाता है-

[&]quot;नृत्तावसाने नटराजराजो, ननाद ढक्को नव-पञ्चवारम् । उद्धर्मुकामः सनकादिसिद्धा, नेतदिमर्शे शिवसुत्रजालम्॥ "

वरविच विन्ध्याचळ पर जाय काणभृति नामक पिशाचसे मिछ सब कथा वर्णन करनेके उपरांत बद्रिकाश्रममें पहुँच योगानळसे अपने शरीरको भस्मकर परम दिन्य गतिको प्राप्त हुआ।

(पश्चम तरंग)

यह तो वररुचि उपनाम कात्यायनकी संक्षिप्त कथा हुई पर इसके पूर्वही गन्धर्व योनिमें वह पुष्पदन्त नामसे हुआथा उस जन्मकाभी हु-तान्त उक्त प्रन्थके सातवें तरक्षमें इस प्रकारसे निरुपित है—

"श्रीगङ्गाजीके तीरपर एक अग्रहार नामका स्थान है। वहां पर एक बहुश्रुत गोंविन्दद्त्त नामक ब्राह्मण रहताथा, उसकी स्त्रीका नाम अग्निद्ता था, उसीके उदरसे देवदत्तका जन्म हुआ था। एक वार उसी देवदत्तको देखकर प्रतिष्ठानपुरके राजाकी कन्याने पहिले दान्तसे पुष्प गिराकर सङ्केत बतलाया था—

"ततः समीपं तस्याश्च, ययावन्तः पुराश्व सः । सा च चिक्षेप दन्तेन, पुष्पमादाय तं प्रति ॥ ६४ ॥"

पर वह देवदत्त अपनी प्यारीके दांतसे गिराये हुए फूलका संकित नहीं समझसका, अत एव जब वरदानके प्रभावसे वह श्रीम-हादेवजीका गण हुआ तो उसका नाम पुष्पदन्त पड़ा, और उस-की सहधर्मिणीमी श्रीपार्वती देवीकी जया नामक प्रतिहारी हुई।

''त्रियादन्तोज्झितात्पुष्पात्संश्चां न श्चातवान् यतः। अतः स पुष्पदन्ताष्ट्यः, सम्पन्नो गणसंसदि ॥ १०६॥

तद्भार्था च प्रतीहारी, देव्या जाता जयाभिधा।"—
इस कथाके अवलोकनसे यह बात स्पष्ट होजाती है कि, पुष्पदन्त गण होनेके पूर्व जन्ममें देवदत्त नामक ब्राह्मण था, फिर गन्धर्व
योक्तिप्राप्त करके महादेवजीका गण हुआ। तदनन्तर श्रीपार्वतीजीके शापसे फिर मनुष्य हुआ तब उसका नाम वरहचि अथवा कात्यायन प्रसिद्ध हुआथा। पर इस कथासे पुष्पदन्ताचार्यके समयका
कोई प्रमाण नहीं मिलता, क्योंकि यह कौन बतासकता है कि देवदत्त कव पुष्पदन्त हुआ और कितने समय तक श्रीमहादेवजीका गः
ण बनारहा ? जोहो-पर उक्त कथासे उसी पुष्पदन्तका वरहचि अः
थवा कात्यायम होना प्रमाणित है, अत पव अब कुछ थोडीसी पौरा-

णिक चर्चामी सुन समझलेनी चाहिए तब फिर वररुचिके समय-(अमाना) की बात लेडीजावे—

श्रीमनमहाभारतके-९ वेंपर्व-४९वें रलोकमें लिखाहै कि, भगवन्ति पार्वतीजीने भगवान स्वामि कार्तिकजीकी सेवाके लिये इन्ही पुष्पदन्तजीको अनुचर नियुक्त किया था। यथा—

"उन्मादं पुष्पदन्तञ्च, राङ्ककर्णं तथैव च । प्रददा विश्वपुत्राय, पार्वती शुभदर्शना ॥"

इसी मांति महाभारतमें औरभी अनेक स्थलों पर पुष्पदन्तका माम पाया जाता है, यथा—प० ७-अ० २००-इलो० ७० में —

"अणीं इत्वैलपुत्रञ्च, पुष्पद्नतञ्च इयम्बकः।"-इत्यादि ।

योही स्कन्दमहापुराणके अन्तर्गत चतुर्थ काशीखण्डमें पुष्पद-न्तदेवरका उल्लेख हुआ है। इससे यह बात औरभी स्पष्टहै।

लिङ्गपुराणोत्तरार्धभागके २७वें अ० में अभिषेकवर्णनके आव-रणदेवतोंमें यों-कहा गया है।

"पुष्पदन्तो महानागो विपुलानन्दकारकः ११३ शुक्को विशालः कमलो बिल्वश्चारुण एव. च। प्रथमावरणं प्रोक्तं द्वितीयावरणं शुणु ॥ ११४॥"

कहा जाता है कि पुष्पदन्तका समय बहुतही पुराना है-क्यों कि स्क-न्दपुराण ऐसे प्राचीन प्रन्थमें उनके स्थापित महादेवका बर्णन किया गया है-यथा, काशीखण्ड अध्याय ९७ वें में भगवान स्कन्द-देवजी महर्षि अगस्त्यजीसे कहते हैं कि,-"तुमारे कुण्डके दक्षिण प्रसिद्ध पुष्पदन्तेश्वर हैं, उनसे अग्निकोण पर देवता ऋषि और गणलोगों के स्थापिस अनेक लिङ्ग हैं। पुष्पदन्तेश्वरके दक्षिण परम-सिद्धि देनेवाला सिद्धीश्वर लिंग विराजमान है।-

> "दक्षिणे तव कुण्डाच्च पुष्पदन्तेश्वरः परः ॥ २४६ ॥ तदिग्निदिशि देवर्षिगणिळङ्गान्य नेकशः । पुष्पदन्ता दक्षिणतः, सिद्धीशः परसिद्धिदः ॥ २४७ ॥"

इन वाक्योंसे यह भली भांति विदित होजाता है कि महाभारत एवं पुराणों के निर्माण कालसे पूर्वही पुष्पदन्ताचार्थ्य प्राचीन प्रसि-द्ध होचुके थे। क्योंकि इन वाक्योंमें उनका नाम जिस ढंगसे लि-खाग्या है उसे विचारपूर्वक देखनेसे विक्षलोग स्वयं अनुमान कर सकते हैं कि, यदि वह प्रसिद्ध न हो चुके होते तो उनका परिचय दिखानेके लिए, कुछ औरभी अक्षर अवदय बढ़ादिये जाते। इस स्थान पर इतना औरभी निवेदन करदेना उचित जानपडता है कि उक्त पुष्पदन्तेश्वरका स्थान आजतक काशीपुरीमें अगस्तकुडा और बङ्गालीटोंलाके बीचमें पतलेस्सर (पातालेश्वर) महाल कहलाता है,—यहभी एक किंवदन्ती सुनीजाती है कि, जब पुष्पदंतजी शाष्प्रस्त हुए थे तबी काशी धाममें आकर शिवलिङ्गकी स्थापना करके इस प्रसिद्ध महिम्नस्तोत्रको उन्होंने बनाया था, जो हो पर पार्वालेश्वरके पासही एक मन्दिरमें पुष्पदन्तेश्वर नामका विशाल शिष्वलिङ्ग विद्यमान है, और आजदिनभी बहुतेरे महिम्नस्तोत्रके प्रेमी लोग उक्त स्थान पर इसी स्तोत्रसे छद्राभिषेक अथवा सहस्रपाठादिक्ती अनुष्ठान करते कराते हैं आर स्कन्दपुराणमें तो अनेक स्थली पर पुष्पदन्तका नामोलेख हुआ ही है पर प्रभासखण्डके१८०(अ०) में पुष्पदन्तेश्वरलिङ्गमाहात्म्यवर्णन द्रष्टक्य है—

यों तो श्रीमद्भागवतकेभी आठवें स्कन्धके एकीसवें अध्यायका सत्रहवां श्लोक पुष्पदन्तका नाम सुनाता है, पर वह पुष्पदन्त कोई दूसरा है क्योंकि उसमें विष्णुके गणोंमें नामोल्लेख किया गया है। यथा—

"जयन्तः श्रुतदेवश्च, पुष्पदन्तो ऽथ सात्वतः।"

यों ही मत्स्यपुराण अ० २५३ के वास्तुप्रकरणोंभी बाह्यपूज्य बत्तीसदेवोमें पुष्पदन्तका नाम आयाहै, यथा—

"दौवारिकोऽथ सुग्रीवः पुष्पदन्तो जलाधिपः॥ २६॥"

इत्यावि

रहा अमरकोराके बतलाये हुए वायुकोणके दिग्गजका नामभी तो पुष्पदन्तही प्रसिद्ध है जैसाकि,प्रथम-काण्ड, ३य-वर्गका ४ इलोक है

"पुष्पद्नतः सार्वभौमः, सुप्रतीकश्च दिग्गजः।"

यद्यपि इन पुष्पदन्ती से मुझे कोई आवश्यक नहीं है पर-"ना-म जानि पै तुह्याह न चीहा" के अनुसार चरित नायकके नामरा-शि होनेके कारण यहांपर लिखदेना अनुचित नहीं समझाजायगा।

कई एक टीकाकारें।ने पुष्पदन्तजीके विषयमें यह उपाख्यानभी-लिखा है-'कोई गन्धर्वराज बाहु नामक एक राजाकी फुलवारीसे प्रतिदिन उत्तमोत्तम फूल लेकर आकाशमार्गसे उडजाया करता था। (क्योंकि मनुभगवानके आज्ञानुसार देव पूजनके निमित्त वि-ना पूछेही फूल तोडलेनेसे चोरी नहीं होती।)

अस्त, जब राजा पूजापर उन सुगन्धभरे बढियां फूलोंको नहीं पाता तो मालियों पर बड़ा कुद्ध होता था। अंततो गत्वा बहुत पर हरा चौकी करने एरभी जब उन सर्वोंको पुष्पापहारकका पता नहीं छगा तो किसी विक्षके बतादेन पर उन लोगोने बगीचे भरके सब मार्गे (रविशों) पर शिवजीका निर्मालय फैलादिया। वस फिर क्याथा गंधर्वराजने तो इसका कुछ विचार कियाही नहीं, उद्यानीं-घूम घूम कर फूल लोढ़ने (चुनने) लगे, जिससे कि श्रीशङ्करजीका बढ़ा हुआ फूल और विल्व पत्र इत्यादि उनके पैरके नीचे पड़ता रहा। फिर जब फूल लेकर चलनेको उद्यत हुए तो उसी शिवनि-मील्यके पद-दिलत करनेके कारण उनकी खेचरी शक्तिजाती रही। तब तो मालियोंने विना प्रयासही उन्हें पकड़ कर राजाके संमुख <mark>उपस्थित किया−राजाकी आज्</mark>ञानुसार वे बन्दी किये गये। तब वे कारागारमें जानेपर एकान्तमें प्रणिधानसे विचारकरने लगे तो अपने इस दुःखका कारण एकमात्र शिव-निर्माल्यके लंघनहीं को पाया। तब उसी निर्माल्य लंघनके अपराधसे मुक्त होनेकी इच्छासे श्रीमहादेव स्वामीकी महिमाका गान करने लगे, जिससे उनका समस्त कष्ट और दुःख दूर हो गया।"

मेरी समझमें तो पुष्पापहार-दोषके परिहारार्थही यह-"वाक्य-पुष्पापहार" निर्माण किया गया, और इसकी संख्या बत्तीसही र-प्रती गई क्योंकि मुखमें उतनी ही गनतीके दांत होते हैं फिर कंठमें पहिननेकी माला जिसे कंठमाला (अथवा कंठाभी) कहाजाता है इद्राक्ष इत्यादिके बत्तीसही दानेकी बनायी जाती है, और यह स्तो-प्रशीपुष्पदन्त मुखपङ्कजनिर्गत" एवं "कण्ठस्थित" है। अत एव सम्भव है कि दंत संख्यक वाक्यक्रपी पुष्पोंके उपहार समर्पण क-रनेहीसे गंधर्वराजने पुष्पदन्त-नाम और श्रीमहादेवजीके "सक-लगणविरिष्ठ" त्वको प्राप्त किया हो। अच्छा तो अब में इस चर्चा-को बिद्वान लोगोंहीके विचार पर निर्भर करके छोड देता हूं-क्यों कि अनुमान रुडाने वाले प्रतिभाशाली लोग स्वयं जितना बिचार- गडानेमें समर्थ होसकेंगे, भला वे बातें मेरी श्चुद्र बुद्धिम कैसे स-मासकर्ता हैं ?

अब दो एक बातें बररुचिके विषयमें कहदेना चाहता हूं-क्यों-कि वह पुष्पदन्तके अवतार माने जाते हैं और कथासीरत्सागरके अनुसार यह बात भलीभांतिसे प्रमाणितभी हो चुकी है।

महाकवि कालिदासजीका बनाया हुआ 'ज्योतिर्विदाभरण'' नामक प्रथ बहुत प्रचलित है—उसका यह श्लोक प्रायः बड़ा प्रसिद्ध है—

"धन्यन्तिरः क्षपणकामरसिंह-राङ्गु, चेतालभट्ट घठकर्षरकालिदासाः। ख्यातो वराहमिहिरो नृपतःसभायां,रत्नानि वै वररुचि नैव विक्रमस्य॥"

इस पद्यसे यह स्पष्ट सूचित होता है कि महाराज विक्रमादि त्यकी सभाके नव रत्नोंमें वरहाचि वर्तमान था। और एक जनश्रु तिभी मैने बहुत लडकपनमें अपने पूज्यपाद पिताजीके मुखसे सुनी थी-उसेभी उद्धृत करदेना अनुकूल जान पड़ता है।

"एकवार कोई एक शिल्पकार (कारीगर) महाराज विक· मादित्यके दरबारमें दो पुतालियां बनाकर उपहार (नजर) लेआः या वे दोनों ही रुप-रंग और मापमें एक समान थी, देखनेसे उन-दोनों में कुछ भी भेद नहीं प्रकट होता था पर उस शिल्पीका कथ-न था कि-एकका मूल्य (दाम) तो एक लाख रुपया है, और दसरीका मृल्य केवल दो कोडी है. इस पर दरबार भरमें बडा कौ-तूहल मचगया। स्वयं महाराजनेभी विस्मित होकर इस मूल्य-मे-देका कारण पूछा, तो उसने यही उत्तर दिया कि आपके दरबा-रमें बड़े बड़े बुद्धिमान एवं विद्वान लोग वर्तमान हैं-उन्ही लोगों-से इस भेदको पूछिए तब सब कारण आपसे आप ज्ञात होजायगा। अस्तु राजाकी आज्ञानुसार सबी लोग तर्क करने लगे पर कुछ। भेद नहीं समझमें आया, अन्ततो गत्वा बहुत दिन बीतने परभी। जब कोई कारण नहीं बतासका तो एक दिन विक्रमने खिजलाकर यह कठार आज्ञा देदी कि, यदि एक मासके भीतर हमारे दरवारी-पंडित ले।ग इसका यथार्थ उत्तर नहीं देवेंगे तो उन सब लोगोंको प्राणदंड दिया जावेगा। फिर क्या था, अवधिके दिन पूजने तक विचारे पंडित लोग राज्य छोडकर रातमें भागजानेका प्रबंध करने-

छगे, इसी गोलमें वरकिमी था। वह अपने साथियोंको छोड़-छाड़कर अकेलाही जंगलकी ओर निकलभागा-पर कुछ ही दूर जाने पर रात्रिके अधकार और हिस्नक वन्य पशुओं के भयसे आगे नहीं बढ़सका, विचारा कि किसी वृक्ष पर चढकर वैठे वैठे रात काटनी चाहिए, संबरा होने पर किसी ओरका मार्ग धरलेंगे-अ स्तु वैसाही कियामी-एक बड़ेभारी बरगदके पेड़पर चढ़बैठा। दै-वात् उसी वृक्षके नीचे एक शृगालकी मांद थी-उसकी सियारिन गर्भवती थी सो वे दोनें। शुगाल (दम्पती) आपसमें बात चीत करने लगे-सियारिनने अपने स्वामीसे मनुष्यका मांस खिलाने के लिए अनुरोध किया, इसपर सियारने कहा कि कल्ही तुझ मनु-ध्य क्या ब्राह्मण पंडितोंका पवित्र मांस यथेष्ट-रुपसे भर पेट खि-ळाडूंगा। अपने पतिकी ऐसी टटकतोड़ हरू प्रतिज्ञा सुनकर स्याः रिन बडी प्रसन्न हुई-और पूछने छगी कि, कैसे तुम ऐसा उत्तम मांस मुझे चखासकोगे ? शुगालने राज दरबारका समस्त वृत्तान्त सविस्तर कहसुनाया, तव उसकी स्त्रीने बड़े आग्रहके साथ उन पुतिलियोंके मृत्य-भेदका कारण पूछा। पहिलेतो सियारने कहने में इधर उधर किया-पर उसके हुठ करने पर यों कहने लगाकि उन दोनोंमें केवल इतनाही अंतर है-कि एक पुतलीके कानमें यदि कोई वस्तु डाली जावे तो वह उसके पेटहीमें पड़ी रहेगी, और दू-सरीके कानकी डाली हुई वस्तु तुरतही उसके मुखके मार्गसे बा-हर निकल पडेगी-(अभिप्राय यह कि जिसकिसीके पेटमें बातें उद्दरसकर्ती हैं, वह तो लाख रुपयेका मनुष्य है, और जो कोई सु-बनेके साथही बकरने लगता है वह दो कौडी का है) निदान, इत-ना सुनतेही वरकचि अपने हर्षका वेग नहीं सम्भार सका मारे प्र-सम्नताके ठठाकर हंसने लगा, और तुरत पेड़परसे कूदकर नीचे आ खड़ा डुआ-यह देखकर सियारने कहा-

"दिवा विचार्य्य वक्तव्यं, रात्री नैव च नैव च। पर्य्यटान्ति सदा धूर्ता, बटे वरुवचि यथा॥"

अर्थात् यदि कोई गुप्त बात कहनी हो तो विचार पूर्वक दिनहीं में कहनी चाहिए, रातमें कदापि कहना उचित नहीं है, क्योंकि धूर्त छोग बराबर पूमाकरते हैं, जैसे बरगद पर वरकिं दुकाथा॥

भया, तव क्या था-प्रातः काल दरवारमें पहुंच कर वरक्विने उसकी परीक्षा कर दिखलाई-जिससे सबी पंडितोंका प्राण वचा। और राजा ने उस शिल्पकार एवं वरक्विको बहुत कुछ पुरस्कार और पारिते। विक देकर संतुष्ट किया। — इस शिक्षामय कहानी से चाहे और कुछ प्रमाण न मिले पर वरक्विका महाराज विकमके कालमें वर्तमान रहना और पशु-पक्षियोंकी भाषाका अभिन्न होना स्पष्टरीतिसे न्नात हो जाता है, आजकल नवीनशैलीवालोंकों तो यह कथा गप्पही जान पडेगी पर विचार करने पर प्राचीन विद्वानोंकी पशु इत्यादिकी भाषा समझलेनेकी निपुणता प्रसिद्ध थी, यदि ऐसा न होता तो शकुन शास्त्रके अनेक ग्रंथ-जिनमें प्रायः पशु-पक्षियोंही के शब्द किंवा चेष्टा इत्यादिसे हिता-हितका विचार किया जाता है, कैसे निर्माण किये जाते ? और उनकी बहुतेरी बार्ते कैसे आज तक यथार्थ रुपसे मिलजाया करतीं हैं ?

पाठक महोदयगण ! यह सब तो पुरानी गणें अथवा कथारें आप लोगोंसे निवेदन करदी गईं-, अब कितपय अर्वाचीन विद्वानों की भी सम्मतियां उद्धृत करदेना आवश्यक है, क्योंकि इसी महिम्नमें कहा है—

"पदेत्वर्वाचीने न पतित मनः कस्य न वचः ? "-

श्रीकाशीपुरीके प्रतिष्ठित अस्तमित बाबू हरिश्चन्द्रजीने अपने "चरितावली-"नामक प्रन्थमें-"महिम्न और पुष्पदन्ताचार्य । "-जीर्षक देकर इस प्रकारसे उल्लेख किया है—

"यह स्तोत्र अव ऐसा प्रसिद्ध है कि आर्षकी मांति माना जाता है वरंच पुराणोंमें भी कहीं २ इसका माहात्म्य मिलता है, एक प्रसङ्ग है कि जब पुष्पदन्तने मिहम्न बनाके शिवजीको सुनाया तब शिवजी बड़े प्रसन्न हुए इस्से पुष्पदन्तको गर्व हुआ कि मैंने ऐसी अच्छी कविता किया कि शिवजी प्रसन्न हो गए यह बात शिवजीने जाना और अपने भृङ्गीगणसे कहा कि मुंह तो खोलो जब भृङ्गीने मुंह खोला तो पुष्पदन्तने देखा कि महिम्नके बत्तीसों श्लोक भृङ्गी-के बत्तीसों दांतमें लिखें हैं इस्से यह बात शिवजीने प्रगट किया कि ये श्लोक तुमने नहीं बनाए है बरंच यह तो हमारी अनादि स्तुतिके श्लोक है। यह बात प्रसिद्ध है कि पुष्पदन्त जब शापसे ब्राह्मण हुआ था तब यह स्तोत्र बनाया है और ऐसी ही अनेक आख्यायिका हैं अब वह पुष्पदन्त कौन है और कब वह ब्राह्मण हुआ इसका विचार करते हैं।"

इसके अनन्तर इस लेखमें भी कथासरित्सागरकी पूर्वोक्त कथा संक्षिप्त रुपसे लिखकरके फिर इस प्रकारसे अपना विचार प्र कट किया है—

'इस कथा के व्याख्यान से यह स्पष्ट होता है कि वर्णन नं दके राज्य के समय का है और उस समय के देवता शिव और स्कन्द थे और व्याकरणका बड़ा प्रचार था कातंत्र कालाप पेन्द्र पाणिनीय इत्यादि मत में परस्पर बड़ा बिरोध था संस्कृत प्राकृत पैशाची और देश भाषा बहुत प्रसिद्ध थीं परन्तु पांच और भाषा मी प्रचलित थीं, पाटलिपुत्र नया बसा था, प्रतिष्ठान पुर और अयोध्या भी बहुत बसती, धूर्तता फैल गई थी और हिन्दुस्तान में पिइचम देश बहुत मिला हुआ था इत्यादि।

इस वृहत्कथामें ऐसे ही गुणाढ्य कविके भी तीनों जनम लि-खे हैं और उसका वृहत्कथाका पैशाची भाषा में निर्माण करना उसमें छः लाख ग्रंथ जला देना और एक लाख ग्रंथ नरबाहन दस्त के चरित्रका राजा शातबाहनको देना इत्यादि सविस्तर वीर्णत है।

अव यह बृहत्कथा कव बनी है और किसने बनाया है इसके विचारमें चित्त बहुत दोलायित होता है क्योंकि इसका काल ठीक निर्णीत नहीं होता। नंदके समयकी भी नहीं मान सकते क्योंकि इसी बृहत्कथामें विक्रमादित्य उदयन ऐसे प्राचीन नवीन अनेक राजाओंका वर्णन है परन्तु इतना कह सकते हैं कि इसका मूल प्राचीन काल से पड़ा है और उसकी अनेक कालमें अनेक कि बढ़ाते गए हैं क्योंकि "कात्यायनाद्येः कृतिः, तत् पुष्पदंतादिभिः" इत्यादि पदोंमें आदि शब्द मिलता है। वा अनेक प्राचीन सुनी हुई कथाओंका किसीने एकत्र करके आदरके हेतु उसमें पुष्पदंत का नाम रख दिया हो तो भी आश्चर्य नहीं क्योंकि कात्यायन वरहचिका होना खीस्ताब्दीयके १२० वर्ष पूर्व लोग अनुमान करते हैं और विक्रमका काल पण्डितोंने ५०० खीस्ताब्दके लगभग निश्चय किया है और ऐसा माननेसे प्रोफेसर गोल्इस्टकर इत्यादि

इतिहास वेत्ताओंका दो वररुचि मानने बाला मत भी स्पष्ट खंडित होता है क्योंकि बृहत्कथामें जब विक्रमका चरित्र है तब उसी विक्रमादित्यवाले वररुचिका नाम कात्यायन संभव है।

परन्तु हमारा कथन यह है कि संस्कृत वृहत्कथा गुणाढ्यकी बनाई ही नहीं है क्योंकि उसमें स्पष्ट लिखा है कि गुणाढ्यने संस्कृत बोलना छोड दिया था इससे पिशाच भाषामें बृहत्कथा बनाया तो इस दशामें सम्भव है, कि किसीने यह बृहत्कथा बनाकर बरु वि गुणाढ्य पुष्पदंत इत्यादिका नाम आदर और प्रमाण पान-के हेत रख दिया हो।

अब जो बृहत्कथा मिलती है वह तीस हजार श्लोकमें रामदेवः भट्टके पुत्र सोमदेवभट्टकी बनाई है जो उसने कदमीरके राजा संग्रामदेवके पुत्र अनन्तदेवकी रानी सूर्यवतीके चित्त बिनोदके हेतु बनाई है और इसी अनन्तदेवके पुत्र कमलदेव हुए और कमलदेव

के पुत्र श्रीहर्षदेव हुए।

कदमीरके इन राजाओं के नाम चित्तको और भी संशयमें डालते हैं क्योंकि रत्नावली वाला श्रीहर्ष कालिदासके पहिलेका है क्योंकि कालिदासने मालविकाशिमित्रमें धावक किवका नाम प्राचीन किवयों में लिखा है अब इस दशामें विरोधका परिहार यों हो सकता है कि जिस विकमका चरित्र बृहत्कथामें है वह नवरत्न वाला विकम नहीं किन्तु कोई प्राचीन विकम है। और यह बृहत्कथा धावकके थोड़े ही काल पहिले कदमीरमें सोमदेवन बनाई है क्योंकि इसमें नन्द और विकमकी मांति भोज कालिदास इत्यादिका नाम नहीं है और नवरत्न वाला वरकचि दूसरा था क्योंकि उस कालमें राजा और किवयोंके वही नाम बारम्बार हाते थे इससे बृहत्कथा संवत और खिस्तसनके पूर्व बनी है और गुणात्थ और वरकचि कुछ इससे भी पहिलके हैं।

भा पाइला वृहत्कथाके किसी लेखका हम प्रमाण नहीं करते क्योंकि पहनतु बृहत्कथाके किसी लेखका हम प्रमाण नहीं करते क्योंकि यह बडा असंगत प्रन्थ है। जैसा अनन्त पंडित की बनाई मुद्रा राक्षस की पूर्व पीठिकामें नन्दका नाम सुधन्वा लिखा है और इसमें योगनंद है उसमें जो बरहिचके मंत्री होनेका प्रसंग है वह इस पीठिकामें कहीं मिलताही नहीं और पाणिनी वर्ष, कात्यायन

व्याडि, इन्द्रवत्त और अनेक व्याकरणके आचार्य वृहत्कथाके मतसे एक कालके थे पर बुद्धिमानोंने इन सबके काव्य (काल) में बडा भेद ठहराया है इससे इतिहास विषयमें बृहत्कथा अ-प्रमाणिक है।

बृहत्कथाका वर्णन और गुणाढ्य इत्यादि कवियोंका वर्णन आर्थासप्तराती बनाने वाले गोवर्द्धन कविने किया है और गोवर्द्धन कविका काव्य जयदेवजीक कालसे निश्चित होगा बंगाली लेखकोंने जयदेवजीका समय पन्द्रहवां शतक ठहराया है पर इस निर्णयमें परम भ्रांत हुए हैं क्योंकि जयदेवजीका काल एक सहस्र वर्षके पूर्व है और इसमें प्रमाणके हेतु पृथ्वीराज रायसामें चंद कविका, जयदेव जीका और गीतगोविन्द वर्णनही प्रमाण है। जयदेवजीने गोवर्द्धन कविका वर्णन वर्तमान कियासे किया है इससे अनुमान होता है कि उस कालमें गोवर्घन कवि था बङ्गाली लोगोंमें कोई बारहवें शतकमें लक्ष्मनसेनके कालमें जयदेवजीको मानते हैं और उसके समकालीन गोवर्धन इत्यादि कवियोंको लक्ष्मनसेनकी समाका पञ्चरत मानते हैं यह बात भी असंभव है क्योंकि पृथ्वीराज ग्यारहवें शतकमें था और चन्दभी तभी था जयदेव चन्दके सैकड़ों वर्ष पहिले निस्स-न्देह हुए हैं क्योंकि चन्दने प्राचीन कवियोंकी गणनामें बड़ी भक्तिसे जयदेवजी का वर्णन किया है, हां यदि लक्ष्मनसेन को पृथ्वीराजके पहिले मानो तो जयदेव उसके सभाके पण्डित हो सकते हैं नहीं तो समझ लो कि आदरके हेतु इन कवियोंका नाम लक्ष्मनसेनने अपनी सभा में रक्खा है इस्से चल सखि कुंजकी भाषा और अङ्गरेजी इति-हास वेत्ताओंका मत लेकर वंगालियोंने जयदेवजीका जो काल निर्णय किया है वह अप्रमाण है यह निश्चय हुआ और बृहत्कथा उस कालके भी पहिले बनी है यह भी सिद्धान्तित हुआ।"

अच्छा ! अब काशोहीके भूतपूर्व राजा शिवप्रसाद सितारे-हिन्द अपने "इतिहास तिमिरनाशक"के तीसरे खंडमें यों लिखते हैं—

"समयके उलटफेरमें हमारे पंडित लोग जो कुछ अपनी पंडिताई दिखलाते हैं लिखने योग्य नहीं है इसी एक बातसे सोच लो कि जिस पंडितसे पाणिनि वैय्याकरणका जमाना पूछोगे पूछतेही कहेगा कि सत्ययुगमें हुआ था लाखों बरस बीते परन्तु इससे इनकार न करेगा कि कात्यायनकी पत्रश्रिलिने टीका लिखी और पत्रश्रिलिकी व्यासने अब हेमचन्द्र अपने कोशमें कात्यायनका नाम वरहिच बतलाता है और कश्मीरका सोमदेवमह अपने कथासरित्सागरमें लिखता है कि कात्यायन वरहिच कौशम्बीमें-जो अब प्रयागके पास जमनाके कनारे कोसम गांव कहलाता है-पैदा हुआ पाणिनीसे व्याकरणमें शास्त्रार्थ किया और राजानन्दका मंत्री हुआ मुद्राराक्षस इत्यादि बहुतसे प्रन्थोंसे साबित है कि नन्दके बादही चन्द्रगुप्त राज्यसिंहासन पर वैठा और चन्द्रगुप्तका जमाना ऐसा निश्चय ठहर गया है कि जैसा पलासीकी लड़ाई अथवा नादिरशाही अथवा पृथीराज और विकमका तो कहो कि हम पाणिनिका जमाना अब अढ़ाई हजार बरससे इधर माने या लाखों बरससे उधर ? पतञ्जलि चन्द्रगुप्तके पीछे इआ इसमें किसी तरहका संदेह नहीं क्योंकि उसने अपने भाष्यमें "सभा राजा मनुष्यपूर्वा" इस सूत्र पर "चन्द्रगुप्तसभम्" ऐसा उदाहण दिया है।"

ये दोनों लेखक हिन्दीके सुलेखकों में लब्धपतिष्ठ हैं और इन लोगोंने जो कुछ लिखा है अविकल उद्धृत कर दिया गया। अब कित्यय अंग्रेजी भाषाके विद्वानोंने भी अपने अपने प्रन्थोंमें इस विषय पर लेखनी चलाई है अतएव उसे भी यहां पर प्रकट कर देना आवश्यकता जान पड़ता है-

"डाक्तर राजेन्द्रलाल मित्र यल् यल् डी अपने "इन्डो आर्यन्" नं १ पृष्ठ १९ में कहते हैं कि—डाक्तर गोल्डस्टकरके कथ-नानुसार पाणिनीका व्याकरण ईसवी सनके पूर्व नवई और ग्यार-हवीं शताब्दीके भीतर लिखा गया। पर प्रोफेसर मेक्समूलर उसे घटाकर ईसाके पूर्व छठवीं शताब्दी बताते हैं।"

इसी प्रकारसे ऋग्वेदके अनुवादक और वंगविजेता इत्यादि उपन्यासोंके सुलेखक—एवं इसी वर्षके ३० नवम्बरके स्वर्गयात्री— "सर रमेशचन्द्रदत्त" अपने "मारत इतिहास"में लिखते हैं कि—"पा-णिनि व्याकरण ईसामसीहके पहिले कमसे कम आठ सौ वर्षके बना था"

अब हमारे विचार-शील पाठकगण स्वयं इन प्राचीन एवं नवीन बिद्वानोंके लेखसे अपने चित्तका कुत्हल मिटा लेवें क्योंकि पाणिनि और कात्यायन अर्थात् वरहिच दोनों ही एक ही गुरुके शिष्य प्रमाणित हो चुके हैं वरन पाणिनिके सूत्रोंकी न्यूनता दूर करने के कारण कात्यायनका चार्तिक अष्टाध्यायी सूत्रपाठके पीछेका बना हुआ जान पड़ता है। यही सही, पर कात्यायन वरहिचही का नाम है इस पर एक बात और भी कह देनी है कि, कीई प्राचीन ऋषिमी कात्यायन हो चुके हैं क्योंकि "मेदिनी कोशमें" यह बात स्पष्ट हो गई है। यथा—

"कात्यायनो वररुचौ, विशेषे च मुने: पुमान् ।

काषायवस्त्रविधवा, ईजरत्युमयोः स्त्रियाम् ॥"
अर्थात् पुल्लिङ्ग कात्ययान शब्द वररुचिमें और मुनि विशेषके लिये
भी कहा जाता है, एवं कसायरंगका वस्त्र धारण करनेवाली अधेड़
विधवा स्त्री और पार्वतीजीके विषयमें स्त्रीलिङ्ग अर्थात् कात्यायनी
होता है। इससे स्पष्ट है कि वररुचिसे भी पहिले कोई कात्यायन
ऋषि अवश्यही हो चुके हैं, नहीं तो "याज्ञवल्क्य स्पृति"में कात्यायनका नाम धर्मशास्त्रकारोंमें कैसे गिनायां जाता ? जैसा कि प्रथम
अध्यायहीमें लिखा है—

"मन्वत्रिविष्णुहारीत-याज्ञवल्क्योशनोऽङ्गिराः। ममापस्तम्ब संवर्त्ताः, कात्यायनबृहस्पती॥ ४॥ पराशरव्यासशङ्ख-लिखिता दक्षगोतमौ। शातातयो वशिष्ठश्च, धर्मशास्त्रप्रयोजकाः॥ ५॥

एवं स्वयं पाणिनिने भी अपने सूत्रपाठमें—"सर्वत्र लोहितादिकत-न्तेभ्यः" (४।१।१८) इस सूत्रसे ष्फ-प्रत्यय करके कात्यायन और कात्यायनी शब्दोंकी रूपसिद्धिकी है। तो अब यह कैसे कहा जा सकता है कि पाणिनिके पूर्वमें कोई कात्यायन नहीं था, यदि था तो उस प्राचीन कात्यायन और वररुचि कात्यायनके समयमे कितना अन्तर हो सकता है इसे आपहीं लोग सोच विचार लेवें—मैं कुछ भी नहीं कह सकता। क्योंकि मैंने तो सिद्धान्तकौदीमें "श्रीगणेशाय नमः" के अनंतर ही "मुनित्रयं नमस्कृत्य" पढ़ा था और तभीसे कात्या-यनका नाम कर्णगोचर करलिया था पर अब देखता हूं तो एकही कात्यायनसे कार्य नहीं चलता कोई प्राचीनभी कात्यायन जान पड़ते हैं, तो कहिए अब क्या निर्णय किया जावे ? क्योंकि जो कुछ प्रमाण मिलसके वे सब आपलोगोंके संमुख उगिह्यत करिये, अतः जो कुछ उचितहों निर्णय करलीजिये मेरी मंदमति इतना पवारा देख सुन कर भी पुष्पदंतके समयको कुछ भी ठीक नहीं कर सकी क्यों- कि एकही नामके राजा ऋषि और किवयों की ढेर पड़ी है किर पूर्व कालमें योगादिक कियाओं के अभ्यास रखनेके कारण प्रायः उच्चको- दिके लोग दीर्घजीवी भी होते थे यद्यपि गीतामें भगवानने स्वयं यह बात कही है कि—

"स कालेनेह महता, योगो नष्टः परन्तप ! ॥ २ ॥ स प्वायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः । भक्तोऽसि मे सखा चेति, रहस्यं द्येतदुत्तमम्" ॥ ३ ॥ (अ०४)

घह योग बहुत दिनोंसे नष्ट होगया है, हे परंतप! आज वही पुराना योग मैंने तुमसे कइदिया, क्योंकि तुम मेरे भक्त और मित्र हो और यह बड़ाही गुप्त विषय है। इस वाक्यसे यह स्पष्ट है कि योगकी क्रियायें उस समयमेंभी नष्ट प्राय थीं परन्तु यह भारतवर्ष जबसे विधर्मी शासकों के हस्तगत हुआ तबसे योगकी कियायँ और देवमूर्त्तियों की शक्तियां एक साथ ही जाती रहीं, जो हो प्राचीन ऋषि-मुनियों का बहुत कालतक वर्तमान रहना कोई आश्चर्य की बात नहीं है यदि ऐसा नहीं होता तो रघुवंशियों के सैकड़ों पीढ़ीकी पुरोहिती भगवान वशिष्ठजी कैसे कर सकते ? योगी होने हीसे रा-जुषिभर्तृहरि आजतक जीवित माने जाते हैं तो अब में इन प्राचीन महात्माओं की महिमा कैसे अनुमान कर सकता हूं ? उनलोगोंके जन्म और मृत्युकी तिथि कहांसे बतला सकता हूं ? क्योंकर उनके ग्रंथ निर्माण का समय स्थिर करसकता हूं ?—इन सब बातोंको भली भांति विचारकर आपलोग जो कुछ आज्ञा करें उसीको मैंभी मान लेनेके लिये प्रस्तुत हूं, क्योंकि क्या पुष्पदंत, क्या वररुचि, क्या का-त्यायन, क्या पतञ्जलि, ये सबी लोग एक नहीं वरन अनेक हैं, एवं सबी लोग योगी और परम-दीर्घायु हुए हैं तो ऐसी दशामें अपने मनमाना अनुमान करके दो तीन सहस्र वर्ष कह देनेसे काम निकाल लेना केवल कपोल-कल्पना नहीं तो और क्या है ? हां वर-रुचिके लिये यह समय कहदिया जावे तो कोई अनुचित नहीं हो स-

कता, पर पुष्पदंतका समय उक्त प्रमाणोंसे नहीं सिद्ध हो सकता, अतपत्र अब इस विषय पर विशेष वाग्-वितंडा करना सर्वथा व्यर्थ-ही सा ज्ञात होता है, तो फिर "सबसे भला चुप"।

निवेदक-

अवीचीन टीकाकार

॥ श्रीः॥

॥ शिवमहिम्नः स्तोत्रम्॥

महिम्नः पारं ते परमविदुषो यद्यसदृशी

स्तुतिर्व्रह्माद्दीनामि तद्दवसन्नास्त्विय गिरः।
अथावाच्यः सर्वः स्वमितपिरणामाविध गृणनममाप्येष स्तोत्रे हर निरपवादः परिकरः॥१॥
अतीतः पन्थानं तव च महिमा वाङ्मनसयोरतद्व्यावृत्त्या यं चिकतमिभधत्ते श्रुतिर्राप।
स कस्य स्तोतव्यः कतिविधगुणः कस्य विषयः

पदे त्वर्वाचीने पतित न मनः कस्य न वचः ॥ २ ॥ मधुस्कीता वाचः परममृतं निर्मितवत-

स्तव ब्रह्मन् किं वागिष सुरगुरो विस्मयपद्म्। मम त्वेतां वाणीं गुणकथनपुण्येन भवतः

पुनामीत्यर्थेऽस्मिन्पुरमथन बुद्धिर्व्यवसिता ॥ ३ ॥ तबैश्वर्यं यत्तज्जगदुद्यरक्षाप्रस्रयक्त-

व्त्रयीवस् र व्यस्तं तिसृषु गुणभिन्नासु तनुषु । अभव्यानामस्मिन्वरद रमणीयामरमणीं

विहन्तुं व्याक्रोशीं विद्घत इहैके जडिधयः॥ ४॥ किमीहः किंकायः स खलु किमुपायस्त्रिभुवनं

किमाधारो धाता सुजति किमुपादान इति च। अतक्षेशवर्ये त्वय्यनवसरदुरस्थो हतधियः

कुतकोंऽयं कांश्चिन्मुखरयति मोहाय जगतः ॥ ५ ॥ अजन्मानो लोकाः किमवयववन्तोऽपि जगता-

मधिष्ठातारं किं भवविधिरनादृत्य भवति । अनीशो वा कुर्याद्भवनजनने कः परिकरो यतो मन्दास्त्वां प्रत्यमरवर संशेरत इमे ॥ ६ ॥ त्रयी सांख्यं योगः पशुपतिमतं वैष्णवमिति
प्रभिन्ने प्रस्थाने परमिदमदः पथ्यमिति च ।

ह्वीनां वैचित्र्याद्वजुकुटिलनानापथजुषा

नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव ॥ ७॥

महोक्षः खट्वाङ्गं परशुरजिनं भस्म फणिनः

कपालं चेतीयत्तव वरद तन्त्रोपकरणम्।

सुरास्तां तामृद्धिं विद्धिति भवद्भूप्रणिहितां

न हि स्वात्मारामं विषयतृगतृष्णा भ्रमयति ॥ ८॥

धुवं कश्चित्सर्वे सकलमपरस्त्वद्वध्रुवमिदं

परो भ्रौज्याभ्रौज्ये जगति गदति ज्यस्त विषये।

समस्तेऽप्येतस्मिन्पुरमथन तैर्विस्मित इव

स्तुवञ्जिहेमि त्वां न <mark>खलु ननु धृष्टा मुखरता ॥ ९ ॥</mark> तवैश्वर्यं यत्नाचदुपरि विरिञ्चो हग्रिधः

परिच्छेत्तुं यातावनलनमलस्कन्धवपुषः ।

ततो भक्तिश्रद्धाभरगुरु गृणद्भ्यां गिरिश य-

त्स्वयं तस्थे ताभ्यां तव किमनु हत्तिर्न फलति ॥ १० ॥

अयतादापाद्य त्रिभुवमवैरिव्यतिकरं

दशास्यो यद्बाहूनभृत रणकण्डूपरवशान ।

शिरः पद्मश्रेणीरचितचरणाम्भोरुइवलेः

स्थिरायास्त्वद्मकेस्त्रिपुरहर विस्फूर्जितमिदम्॥ ११॥

अमुज्य त्वःसेवासमधिगतसारं भुजवनं

बलात्कैलासेऽपि त्वद्धिवसतौ विक्रमयतः।

अलभ्या पातालेऽप्यलसचिलताङ्गुष्टशिरसि

प्रतिष्ठा त्वय्यासीद्धुवसुपचितो मुह्मति खलः॥ १२॥

यदृद्धि सुत्राम्णो वरद परमोच्चैरपि सती-

मधश्रक्ते बाणः परिजनविधेयत्रिभुवनः।

न तिश्चत्रं तस्मिन्वरिवसितरि त्वश्चरणयो-

र्न कस्य ह्युन्नत्ये भवति शिरसस्त्वय्यवनतिः॥ १३॥

अकाण्डब्रह्माण्डक्षयचिकतदेवासुरकृपा-

विधेयस्यासीद्यस्त्रिनयन विषं संहतवतः।

स कल्मायः कण्ठे तव न कुरुते न श्रियमहो

विकारोऽपि स्टाच्यो भुवनभयभङ्गव्यसनिनः॥ १४॥

असिद्धार्था नैय क्वचिद्धि सदेवासुरनरे निवर्तन्ते नित्यं जगित जियनो यस्य विशिखाः । स पश्यन्तीश त्वामितरसुरसाधारणमभू-

त्स्मरः स्मर्तज्यात्मा न हि वशिषु पथ्यः परिभवः॥ १५॥ महीपादाघाताद्व्रजति सहसा संशयपदं

पदं विष्णोर्भाम्यद्भुजपरिघरुग्णयहगणम् । मुद्धद्यौदौस्थ्यं यात्यनिभृतजटाताडि्ततटा

हुधादास्थ्य यात्यानसृतज्ञाता। इततदा जगद्रक्षायै त्वं तटसि ननु वामैव विभुता॥ १६॥

वियद्व्यापी तारागणगुणितफेनोद्रमरुचिः

प्रवाहो वारां यः पृषतलघुद्रष्टः शिरसि ते।

जगद्द्वीपाकारं जलिधवलयं तेन कृतमि-

त्यनेनैवोन्नेयं धृतमहिम दिव्यं तव वपुः॥ १७॥

रथः क्षोणी यन्ता शतधृतिरगेन्द्रो धनुरथो

रथाङ्गे चन्द्राकौँ रथचरणपाणिः शर इति । दिधश्लोस्ते कोऽयं त्रिपुरतृणमाडम्बरविधि-

विधेयैः क्रीडन्त्यो न खलु परतन्त्राः प्रभुधियः ॥ १८॥

हरिस्ते साहस्रं कमलबलिमाधाय पदयो-

र्यदेकोने तस्मित्रिजमुदहरत्रेत्रकमलम् । गतो भक्त्युद्रेकः परिगतिमसौ चक्रवयुषा

त्रयाणां रक्षाये त्रिपुरहर जागति जगताम् ॥ १९ ॥

कतौ सुप्ते जायत्वमसि फलयोगे कतुमता

क्व कर्म प्रध्वस्तं फलति पुरुषाराधनमृते।

अतस्त्वां संप्रेक्ष्य कतुषु फलदानप्रतिभुवं

श्रुतौ श्रद्धां बद्ध्वा द्रद्वपरिकरः कर्मसु जनः॥ २०॥

क्रियादक्षो दक्षः क्रतुपतिरधीशस्तनुभृता-

मृषीणामार्त्विज्यं शरणद सदस्याः सुरगणाः।

क्रतुभ्रंशस्त्वत्तः क्रतुषु फलदानव्यसनिनो

ध्रुवं कर्तुः श्रद्धाविधुरमभिचाराय हि मखाः॥ २१॥

प्रजानाथं नाथ प्रसममिकं स्वां दुहितरं

गतं रोहिद्भूतां रिरमयिषुमुष्यस्य वपुषा।

धनुष्पाणेयातं दिवमपि सपत्राकृतममु

त्रसन्तं तेऽद्यापि त्यजित न मृगव्याधरभसः॥ २२॥

स्वलावण्याशंसाधृतधनुषमहायतृणव-

त्पुरः ष्लुष्टं हृष्ट्वा पुरमयन पुष्पायुधमपि। यदि स्त्रेणं देवी यमनिरतदेहार्घघटना-

दवैति त्वामद्धा वत वरद मुन्धा युवतयः॥ २३ ॥ मशानेष्वाकीदा स्मादर विशासाः स्टब्स्स

श्मशानेष्वाकीडा स्मरहर पिशाचाः सहचरा-श्चिताभस्मालेषः स्नगपि नृकगेटीपरिकरः।

अमङ्गल्यं शीलं तच भवतु नामैव मखिलं

तथापि स्मर्तॄणां वरद परमं मङ्गलमिस ॥ २४॥

मनः प्रत्यक्चित्ते सविधमवधायात्तमरुतः

प्रहुष्यद्रोमाणः प्रमद्सिललोसङ्गितदृशः।

यदालोक्याहादं हद इव निमज्यामृतमये

द्धत्यन्तस्तर्त्वं किमपि यमिनस्तत्किल भवान् ॥ २५ ॥ त्वमर्कस्त्वं सोमस्त्वमस्ति पवनस्त्वं हुतवहः

त्वमापस्त्वं व्योम त्वमु धरिगरात्मा त्विमिति च । परिच्छित्रामेवं त्विय परिणता विभ्रतु गिरं

न विद्यस्तत्तत्त्वं वयमिह तु यत्त्वं न भवसि ॥ २६॥

त्रयों तिस्रो वृत्तीस्त्रिभुवनमथो श्रीनिप सुरा-

नकाराचैर्वणस्त्रिभिरभिद् अनीर्णविकृति।

तुरीयं ते धाम ध्वनिभिरवहन्धानमणुभिः

समस्तव्यस्तं त्वां शरद गृणात्योमिति पदम् ॥ २७॥

भवः शर्वो रुद्रः पशुपतिरथोग्रः सह महां-

स्तथा भीमेशानाविति यदभिधानाष्टकमिदम्।

अमुष्मिन्प्रत्येकं प्रविचरति देव श्रुतिरिप

त्रियायास्मै धामने प्रणिहितनमस्योऽस्मि भवते ॥ २८॥

नमो नेदिष्ठाय त्रियदव दविष्ठाय च नमो

नमः क्षोदिष्ठाय स्मरहर महिष्ठाय च नमः।

नमो वर्षिष्ठाय त्रिनयन यविष्ठाय च नमो

नमः सर्वस्मै ते तदिद्मिति शर्वाय च नमः॥ २९॥

बहुलरजसे विश्वोत्पत्तौ भवाय नमो नमः

प्रवलतमसे तत्संहारे हराय नमो नमः।

जनसुखरुते सत्त्वीत्पत्तौ मृडाय नमो नमः

प्रमहसि पदे निस्त्रेगुण्ये शिवाय नमो नमः ॥ ३०॥

ष्टरापरिणति चेतः क्षेरावश्यं क्व चेदं क्व च तव गुणसीमोल्लिङ्घनी शश्वदृद्धिः। इति चिकत ममन्दीकृत्य मां भक्ति राधाः

इरद चरणयो स्ते वाक्यपुष्पोपहारम् ॥ ३१ ॥

असितगिरिसमं स्यात्कज्जलं सिन्धु पात्रे सुरतस्वरशाखा लेखनी पत्र मुर्वी।

लिखति यदि गृहीत्वा शारदा सार्वकालं तद्पि तव गुणाना मीश पारं न याति॥ ३२॥

असुरसुरमुनीन्द्रैरिचतस्ये न्दुमौले-र्प्रथितगुणमहिम्नो निर्गुणस्ये श्वरस्य ।

सकलगुणवरिष्ठः पुष्पदन्ताभिधानो रुचिर मलगुवृत<mark>ैः स्तोत्र मेत चकार ॥ ३३॥</mark>

अहरह रनवयं धूर्जटेः स्तोत्र मेत-

त्यठित परमभक्त्या शुद्धचित्तः पुमा न्यः ।

स भवति शिवलोके रुद्रतुल्य स्तथात्र प्रचुरतथनायुः पुत्रवा न्कीर्तिमां श्च ॥ ३४॥

दीक्षा दानं तप स्तीर्थं होमयागादिकाः क्रियाः।

महिम्नः स्तवपाठस्य कळां नार्हन्ति षोडशीम् ॥ ३५॥

महेशा न्नापरो देवो महिम्नो नापरा स्तुतिः।

अघोरा न्नापरो मन्त्रो नास्ति तत्वं गुरोः परम्॥ ३६॥

कुसुमदशननामा सर्वगन्धर्वराजः

शिशुशशिधरमौंले देवदेवस्य दासः।

स्त गुरुनिजमिहस्नो भ्रष्ट एवास्य रोषा-त्स्तवन मिद मकार्षी दिव्यदिव्यं महिस्नः॥ ३७॥

> आसमाप्त मिदं स्तोत्रं पुण्यं गन्धर्वभाषितम् । अनौपम्यं मनोहारि शिव मीश्वरवर्णनम् ॥ ३८॥

सुरवरमुनिपूज्यं स्वर्गमोक्षेकहेतुं

पउति यदि मनुष्यः प्राञ्जलि नान्यचेताः।

ब्रजित शिवसमीपं किन्नरैः स्त्यमान-

स्तवन मिद्ममोघं पुष्पदन्तप्रणीतम् ॥ ३९॥

श्रीपुष्पद्दत्तमुखपङ्कजनिर्गतेन स्तोत्रेण किल्विषहरेण हरप्रियेण । कण्ठस्थितेन पठितेन समाहितेन सुप्रीणितो भवति भूतपतिर्महेशः ॥ ४० ॥

इति श्री पुष्पदन्तविरचितं

शिवमहिम्नः स्तोत्रम् संपूर्णम् ।



नित्यपाठोपयोगित्वा देतन्मूलमात्र मिप श्रीशिवमहिसः स्तोत्रं शक्ति महिम्नः स्तोत्र साहवर्य्यदिव पृथमूपेणेह मुद्रितम्।

॥ श्रीः ॥

शक्तिमहिम्नःस्तोत्रम्।



श्री दुर्वासा उवाच—

मातस्ते महिमां वक्तुं शिवेनापि न शक्यते। भक्त्याहं स्तोतुमिच्छामि प्रसीद मम सर्वदा॥ १॥ श्रीमातस्त्रिपुरे परात्परतरे देवि त्रिलोक्सीमहा-सौन्दर्यार्णवमन्थनोद्दभवसुधाप्राचुर्यवर्णोज्ज्वलम्। उद्यद्भानुसहस्रन्तनजपापुष्पप्रभं ते वपुः स्वान्ते मे स्फुरतु त्रिकोणनिलयं ज्योतिर्मयं वाङ्मयम्॥ आदिक्षान्तसमस्तवर्णसुमणिप्रोते वितानप्रभे ब्रह्मादिप्रतिमाभिकोलितषडाधाराब्यकक्षोन्नते । ब्रह्माण्डाब्जमहासने जननि ते मूर्ति भजे चिन्मयीं सौषुम्नायतपीतपङ्कजमहामध्यत्रिकोणस्थिताम्॥ ३॥ या बालेन्दुदिवाकराक्षिमधुरा या रक्तपद्मासना रत्नाकल्पविराजिताङ्गलितका पूर्णेन्दुव्क्त्रोज्ज्वला। अक्षस्रक्तृणिपाशपुस्तककरा या बालभानुप्रभा तां देवीं त्रिपुरां शिवां हिद भजेऽभीष्टार्थसिङ्यै सदा॥ ४॥ वन्दे वाग्भवमैन्दवात्मसदृशं वेदादिविद्यागिरो भाषा देशसमुद्भवाः पशुगताश्छन्दांसि सप्त स्वरान्। तालानपञ्च महाध्वनीनप्रकटयत्यातमप्रकाशेन य-त्तद्वीजं पद्वाक्यमानजनकं श्रीमातृके ते परम्॥ ५॥ त्रैलोक्यस्फुटमन्त्रतन्त्रमहिमा स्वात्मोक्तिक्यं विना यद्बीजं व्यवहारजालमिखलं नास्त्येव मातस्तव। तज्जाप्यस्मरणप्रसक्तसुमतिः सर्वज्ञतां प्राप्य कः शब्दब्रह्मनिवासभूतवदनो नेन्द्रादिभिः स्वर्धते ॥ ६ ॥

मात्रा यात्र विराजतेऽतिविशदा तामष्ट्या मातृकां शक्ति कुण्डलिनीं चतुर्विधतुर्वं यस्तत्त्वविन्मन्यते । सोऽविद्याखिलजन्मकर्मदुरितारण्यं प्रबोधाग्निना भस्मीकृत्य विकल्पजालरहितो मातः पदं तद् वजेत् ॥ ७ ॥ तत्ते मध्यमबीजमम्ब कलयाम्यादित्यवर्णं क्रिया-

<mark>ञ्चानेच्छाद्यमनन्तशक्तिविभवव्यक्ति व्यनक्ति स्फुटम्।</mark>

उत्पत्तिस्थितिकल्पकल्पिततनु स्वात्मप्रभावेन य-त्काम्यं ब्रह्महरीश्<mark>वरा</mark>दिविबुधेः कामं क्रियायोजितैः ॥ ८ ॥

कामान्कारणतां गतानगणितान्कार्येरनन्तैर्मही-

मुख्यैः सर्वमनोगतैरधिगतान्मानैरनेकैः स्फुटम् ।

कामक्रोधसलोभमोहमदुमात्सर्यारिषट्कं च यत् बीजं भ्राजयित प्रणौमि तदहं ते साधु कामेश्वरि ॥९॥

यदुभक्ताखिलकामपूरणचणस्वात्मप्रभावं महा-जाड्यध्वान्तविदारणैकतरणिज्योतिः प्रबोधप्रदम् ।

यद्वेदेषु च गीयते श्रुतिमुखं मात्रात्रयेणोमिति

श्रीविद्ये तव सर्वराजवशक्तत्कामराजं भजे ॥ १० ॥

यत्ते देवि तृतीयबीजमनलज्वालावलीसंनिभं

सर्वाधारतुरीयशक्तिपरमब्रह्माभिधाशब्दितम्। मूर्<mark>घन्यान्तविसर्गभूषितमहौकारात्मकं तत्प</mark>रं

भ्राजद्वपमनन्यतुल्यमभितः स्वान्ते मम द्योतताम् ॥११॥

सर्वे सर्वत एव सर्गसमये कार्येन्द्रियाण्यन्तरा

तत्तद्दिव्यहषीककर्मभिरियं संव्यश्नुवाना परा।

<mark>वागर्थव्यवहारकारणतनुः शक्तिर्जगद्</mark>रिपणी

यदुवीजात्मकतां गता तव शिवे तं नौमि बीजं परम् ॥१२॥

अग्नीन्दुचुमणिप्रभञ्जनधरानीरान्तरस्थायिनी

शक्तिर्ब्रह्महरीशवासवमुखा मर्त्यासुरात्मस्थिता।

सृष्टस्थावरजङ्गमस्थितमहाचैतन्यरूपा च या

यदुबीजस्मरणेन सैव भवती प्रादुर्भवत्यम्बिके ॥ १३॥

स्वात्मश्रीविजताजविष्णुमघवश्रीपूरणैकव्रतं

सद्विद्याकविताविलासलहरीकहोलिनीदीपकम् ।

बीजं यत्रिगुणप्रवृत्ति जनकं ब्रह्मेति यद्योगिनः

शाम्ताः सत्यमुपासते तदिह ते चित्ते दधे श्रीपरे ॥ १४ ॥

शक्तिमाहिम्नःस्नोत्रम्।

एकैकं तब मातृके परतरं संयोगि वा योगि वा विद्यादिप्रकटप्रभावजनकं जाड्यान्धकारापहं। यन्निष्ठाश्च महोत्पलासनमहाविष्णुपहर्त्राद्यो देवाः स्वेषु विधिष्वनन्तमहिमस्फूर्तिं द्धत्येव तत् ॥१५॥ त्रीण्यपि मूलवाग्भवमहाश्रीकामराजस्फुर-च्छक्त्याख्यानि चतुःश्रुतिप्रकटितान्युत्रुष्टकूटानि ते। भूतर्तुश्रुतिसंख्यवर्णविदितान्यारक्तकान्ते शिवे यो जानाति स एव सर्व जगतां सृष्टिस्थितिध्वंसकः ॥१६॥ ब्रह्मायोनिरमासुरेश्टरसुदृ ल्लेखाभिरुकैस्तथा मार्ताण्डेन्दुमनोजहंसवसुधामायाभिरुत्तंसितैः। सोमाम्बुक्षितिशक्तिभिः प्रकटितैर्बाणाङ्गवेदैः क्रमा-द्वर्णेः श्रीशिवदेशिकेन विदितां विद्यां तवाम्बाश्रये ॥१७॥ नित्यं यस्तव मातकाक्षरसखीं सौभाग्यविद्यां जपे-त्संपुज्याखिलचक्रराजनिलयां सायंतनाग्निप्रभाम् । कामाख्यं शिवनामतत्त्वमुभयं व्याप्यात्मना सर्वतो दीव्यन्तीमिह तस्य सिद्धिरचिरात्स्यात्त्वत्स्वरूपैकता ॥१८॥ काव्यैर्वा पठितैः किमर्ल्पावदुषां जोघुष्यमाणैः पुनः कि तैर्व्याकरणैविंबोबुधिषया कि वाभिधानश्रिया। प्तैरम्ब न बोभवीति सुकविस्तावत्तव श्रीमतो-र्यावन्नानुसरीसरीति सर्राण पादाब्जयोः पावनीम् ॥१९॥ गेहं नाकति गर्वितः प्रणतित स्त्रीसंगमो मोक्षति द्वेषी मित्रति पातकं सुकृतित क्ष्मावल्लभो दासित। मृत्युर्वेद्यति दूषणं सुगुणति त्वत्पादसंसेवनात् त्वां वन्दे भवभीतिभञ्जनकरीं गौरीं गिरीशप्रियाम् ॥२०॥ आद्यैरिंनरवीन्दुबिम्बनिलयैरम्ब त्रिलिङ्गात्मभि-मिश्रारकसितप्रभैरनुपमैर्युष्मत्पदैस्तैस्त्रिभिः। स्वात्मोत्पादितकाललोकनिगमावस्थामरादित्रयै-

रुद्भृतं त्रिपुरेति नाम कलयेद्यस्ते स धन्यो बुधः ॥ २१ ॥ शाद्यो जाप्यतमार्थवाचकतया रूढः स्वरः पञ्चमः सर्वोत्रुष्टतमार्थवाचकतया वर्णः पवर्गान्तकः । वक्तृत्वेन महाविभृतिसर्राणस्त्वाधारगो हृद्गतो भूमध्ये स्थित इत्यतः प्रणवता ते गीयतेऽम्बागमेः ॥२२॥ गायत्री सशिरास्तुरीयसहिता सन्ध्यामयीत्यागमै-राख्याता त्रिपुरे त्वमेव महतां शर्मप्रदा कर्मणाम्। तत्तदर्शनमुख्यशक्तिरिप च त्वं ब्रह्मकर्मेश्वरी

कर्तार्हन्पुरुषो हरिश्च सविता बुद्धः शिवस्त्वं गुरुः ॥२३॥ अन्नप्राणमनःप्रवोधपरमानन्दैः शिरःपक्षयु-

क्पुच्छात्मप्रकटैर्महोपनिषदां वाग्भिः प्रसिद्धोक्ततैः । कोशेः पञ्चभिरेभिग्म्ब भवतीमेतत्त्रलीनामिति

ज्योतिः प्रज्वलदुज्ज्वलात्मचपलां यो वेद स ब्रह्मवित् ॥२४॥ सिचन्त्वमसीति वाक्यविदितैरध्यात्मविद्याशिव-

ब्रह्मास्यैरिक्षलप्रभावमहितैस्तत्त्वैस्त्रिभिः सद्गुरोः।
त्वद्वपस्य मुखारविन्दविवरात्संप्राप्य दीक्षामतो

यस्त्वां विन्दति तत्त्वतस्तद्द्दिमित्यार्ये स मुक्तो भवेत् ॥२५॥ सिद्धान्तैर्वद्वभिः प्रमाणगदितैरन्यैरविद्यातमो

नक्षत्रैरिव सर्वमन्धतमसं तावन्न निर्मिचते। यावत्ते सवितेव संमतिमदं नोदेति विश्वान्तरे

जन्तोर्जन्मविमोचनैकभिदुरं श्रीशाम्भवं श्रीशिवे ॥२६॥

आत्मासौ सकलेन्द्रियाश्रयमनोबुद्धयादिभिः शोचितः

कर्माबद्धतनुर्जनि च मरणं प्रतीति यत्कारणम्। तत्ते देवि महाविलासलहरी दिव्यायुधानां जय-

स्तस्मात्सद्गुरुमभ्युपेत्य कलये त्वामेव चेन्मुच्यते ॥ २७॥ नानायोनिसहस्रसंभववशाज्ञाता जनन्यः कति

प्रख्याता जनकाः कियन्त इति से सेत्स्यन्ति चाग्रे कित । एतेषां गणनंव नास्ति महतः संसारसिन्धोर्विधे-

भीतं मा नितरामनन्यशरणं रक्षानुकम्पानिधे॥ २८॥ देहक्षोभकरैर्वतैर्वहुविधैर्दानेश्च होमैर्जपैः

संतानेईयमेधमुख्यसुमक्षेर्णानाविधैः कर्मभिः।

यत्संकरुगविकरुपजालमिक्छं प्राप्यं पदं तस्य ते

दूरादेव निवर्तते परतरं मातः पदं निर्मलम्॥ २९॥
पश्चाशिक्ष नदेहजाक्षरमयैर्नानाविधैर्घातुमि-

र्बह्वर्थे पदवाक्यमानजनकैरर्थाविनामावितैः। साभिष्रायवदर्थकर्मफलदैः ख्यातैग्नन्तैरिदं

विश्वं व्याप्य चिदातमनाहमहमित्युज्जृम्भसे मातृके ॥ ३०॥

शक्तिमहिमःस्तोत्रम्।

श्रीचक्रं श्रुतिमूलकोश इति ते संसारचकात्मकं विष्यातं तद्धिष्ठिताक्षरशिवज्योतिर्मयं सर्वतः । यतन्मन्त्रमयात्मिकाभिररुणं श्रीसुन्दरीभिर्चृतं मध्ये वैन्दवसिंहपीठललिते त्वं ब्रह्मविद्या शिवे ॥ ३१ ॥ बिन्दुप्राणविसर्गजीवसहितं बिन्दुत्रिबीजात्मकं षट्कूदानि विपर्ययेण निगदेत्तारत्रिबालाक्षरैः । एभिः संपुटितं प्रजप्य विहरेत्प्रासादमन्त्रं परं

गुद्याद्गुद्यतमं सयोगजनितं सद्भोगमोक्षप्रदम् ॥ ३२ ॥ आताम्रार्कसङ्ख्रदीप्तिगरमा सौन्दर्यसारैरलं

लोकातीतमहाद्यैरुपयुता सर्वोपमागोचरैः। नानानर्घ्यविभूषगैरगणितैर्जाज्वल्यमानाभित-

स्त्रं मातस्त्रिपुरारिसुन्दरि कुरु स्वान्ते निवासं मम ॥३३॥

शिञ्जन्नपुरपादकङ्कणमहामुदासु लाक्षारसा-लंकाराङ्कितपादपङ्क त्रयुगं श्रीपादुकालं कृतम्।

उद्भास्वन्नखचन्द्रखण्डरुचिरं राजज्जपासंनिभं ब्रह्मादित्रिदशासुराचितमहं मूर्धिन स्मराम्यम्बिके ॥ ३४ ॥

आरकच्छविनातिमार्दवयुजा निःश्वासहार्येण य-त्कौशेयेन विचित्ररत्तघटितैर्मुकाफलैरुज्वलैः।

क्रुजत्काञ्चनिकञ्किणीभिरभितः संनद्धकाञ्चीगुणै-रादीप्तं सुनितम्बविम्बमरुणं ते पूजय।म्यम्बिके ॥ ३५ ॥

कस्र्रीघनसारकुङ्कुमरजो गन्धोत्कदैश्चन्दनै-

रालिप्तं मणिमालयातिरुचिरं ग्रैवेयहारादिभिः।

दीप्तं दिव्यविभूषणैर्जनिति ते ज्योतिर्विभास्वत्कुच-व्याजस्वर्णघटद्रयं हरिहरब्रह्मादिपीतं भजे ॥ ३६॥

मुकार तसुवर्णकान्तिक ितैस्ते बाहुव ल्लीरहं

केयूरोत्तमवाहुदण्डवलयैर्हस्ताङ्गुलीभूषणैः। संपृक्ताः कलयामि हीरमणिमन्मुकाफलाकीलित-

ग्रीवापद्दविभूषणेन सुमगे कण्ठं च कम्बुश्रियम्॥ ३०॥

तप्तस्वर्णकृतोरुकुण्डलयुगं माणिक्यमुकोल्लस-

द्वीराबद्धमनन्यतुल्यमपरं हैमं च चक्र ऱ्यम् । शुक्राकारनिकारदक्षमपरं मुक्ताफलं सुन्दरं

विभ्रत्कर्णयुगं नमामि ललितं नासाम्रभागं शिवे ॥ ३८॥

उद्यत्पूर्णकलानिधिश्रि वदनं भक्तप्रसन्नं सदा संफुल्लाम्बुजपत्रचित्रसुषुमा धिक्कारदक्षेक्षणम् । सानन्दं कृतमन्दहासमसङ्ख्यादुर्भवत्कौतकं

सानन्द क्षेत्रमन्द्रहासमसङ्ख्यादुभवत्कातुक कुन्दाकारसुदन्तपङ्किशशिभापूर्ण स्मराम्यम्बिके॥ ३९॥

श्रङ्गारादिरसालयं त्रिभुवनीमाल्यैरतुल्यैर्वृतं

सर्वाङ्गीणसदङ्गरागसुरभिश्रीमद्वपुर्धूपितम् । ताम्बूळारुणपहुवाधर्युतं रम्यं त्रिपुण्ड्रं दध-

द्भालं नन्दनचन्दनेन जनिन ध्यायामि ते मङ्गलम् ॥ ४० ॥ जातीचम्पककुन्दकेसरमहागन्धोद्भिरत्केतकी

नीपाशोकशिरीषमुख्यकुसुमैः प्रोत्तंसिता धूपिता।

आनीलाञ्जनतुल्यमत्तमधुपश्रेणीव वेणी तव

श्रीमातः श्रयतां मदीयहृदयाम्मोजं सरोजालये ॥ ४१ ॥ लेखालभ्यविचित्ररत्नघटितं हैमं किरीटोत्तमं

मुक्ताकाञ्चनकिङ्किणीगणमहाहीरप्रवद्धोज्ज्वलं।

चश्चचन्द्रकलाकलापमहितं देवद्रपुष्पाचिते-र्माल्यैरम्ब विलम्बितं सशिखरं विभ्रच्छिरस्ते भजे ॥ ४२॥

उत्थिप्तोचसुवर्णदण्डकलितं पूर्णेन्दुबिम्बाकृति-च्छत्रं मौकिकचित्ररत्नखचितं क्षौमांशुकोत्तंसितम्।

भुकाजालविलम्बितं सकलशं नानाप्रस्नाचितं

चन्द्रोड्डामरचामराणि द्धते श्रीदेवि ते स्वश्रियः ॥४३॥ विद्यामन्त्ररहरयविन्मुनिगणक्लृप्तोपचारार्चनां

वेदादिस्तुतिगीयमानचरितां वेदान्ततत्वात्मिकाम्। सर्वास्ताः खळु तुर्यतामुगगतास्त्वद्रश्मिदेव्यः परा-

स्त्वां नित्यं समुपासते स्वविभवैः श्रीचक्रनाथे शिवे ॥ ४४॥ एवं यः स्मरति प्रवुद्धसुमितः श्रीमत्स्वरूपं परं

वृद्धोऽप्याशु युवा भवत्यनुपमः स्त्रीणामनङ्गायते । सोऽष्टेश्वर्यतिरस्कृताखिलसुरश्रीज्ञम्भणैकालयः

पृथ्वीपालिकरीटकोटिवलर्भोपुष्पाचिताङ्ब्रिभवेत् ॥ ४५॥ अथ तव धनुः पुण्ड्रेश्चत्वात्प्रसिद्धमतिद्यति-

त्रिभुवनवधूमुद्यज्ज्योत्स्नाकलानिधिमण्डलम् । सकलजनि स्मारं स्मारं गतः स्मरतां नर-स्त्रिभुवनवधूमोहास्मोधेः प्रपूर्णविधुर्भवेत् ॥ ४६॥ प्रस्नशरपञ्चकप्रकटज्मभणागुम्फित-

त्रिलोकमवलोकयत्यमलचेतसा चञ्चलम्।

अशेषतरुगीजनस्मरविजृम्भणे यः सदा

पदुर्भवति ते शिवे त्रिजगदङ्गणाक्षोभणे ॥ ४७ ॥

पाशं प्रपूरितमहासुमतिवकाशो

यो वा तव त्रिपुरसुन्दरि सुन्दरीणाम्।

आकर्षणेऽखिलवशीकरणे प्रवीणं

चित्ते द्धाति स जग३यवश्यक्रत्स्यात्॥ ४८॥ यः स्वान्ते कलयति कोविदस्त्रिलोकी-

स्तम्भारम्भणचणमत्युदारवीर्यम्।

मातस्ते विजयनिजाङ्कशं सयोषा

देवांस्तःभयति च भूभुजोऽन्यसैन्यम्॥ ४९॥

चापध्यानवशाद्भवोद्भवमहामोहं महाजृम्भणं

प्रख्यातं प्रसवेषु चिन्तनवशात्तत्त्वछरव्यं सुधीः।

पाशध्यानवशात्समस्तजगतां मृत्योर्वशित्वं महा-

दुर्गस्तम्ममहाङ्कुशस्य मननान्मायाममेयां तरेत्॥ ५०॥

न्यासं कृत्वा गणेशग्रहंभगणमहायोगिनीराशिपीठैः

षडिभः श्रीमातृकाणैंः सहितबहुकलैरष्टवाग्देवताभिः

सश्रीकण्ठादियुःमैर्विमलनिजतनौ केशवाद्येश्च तत्वैः

षट्त्रिंशद्भिश्च तत्त्वैर्भगवति भवती यः स्मरेत्स त्वमेवपश

सुरपतिपुरलक्ष्मीजृम्भणातीतलक्ष्मीः

प्रभवति निजगेहे यस्य दैवं त्वमार्ये।

विविधतवकलानां पात्रभूतस्य तस्य

त्रिमुवनविदिता सा जृम्भते कीर्तिरच्छा ॥ ५२ ॥

मातस्त्वं भूर्भुवः स्वर्महरसि नृतपः सत्यलोकेश्च सूर्ये-

न्द्रारज्ञाचार्यशुक्रार्किभिरिप निगमब्रह्मभिः प्रोतशक्तिः।

प्राणायामादियतैः कलयसि सकलं मानसं ध्यानयोगं

येषां तेषां सपर्या भवति सुरक्ता बह्मते जातते च ॥ ५३॥

क्व मे बुद्धिर्वाचा परमब्रिडुषो मन्दसरणिः

क्व ते मातर्ब्रह्मश्रमुखविदुषामाप्तवचसाम् । अभून्मे विस्फूर्तिः परतरमिहम्नस्तव नुतिः

प्रसिद्धं क्षन्तव्यं बहुलतरचापल्यमिह मे ॥ ५४ ॥

प्रसीद परदेवते मम हदि प्रभूतं भयं विदारय दरिद्रतां दल्लय देहि सर्वज्ञताम्। निधेहि करू गानिधे चरणपश्चयुग्मं स्वकं निवारय जरामृती त्रिपुरसुन्दरि श्रीशिवे॥ ५५॥

इति त्रिपुरसुन्द्रीस्तुमिमां पठेवः सुधीः

स सर्वदुरिताटवीपटलघण्डदावानलः । भवेन्मनसि वाञ्छितं प्रधितसिद्धिवृद्धिर्भवेत् अनेकविधसंपदां पदमनन्यतुल्यो भवेत् ॥ ५६ ॥

षृथ्वीपालप्रकटमकुटस्रप्रजोराजिताङ्घः

विद्वत्पुञ्जानितसमाराधितो वाधितारिः। विद्याः सर्वाः कलयति हृदा व्याकरोति प्रवाचा

हे लेका अर्थित हुद्दा व्याकरात अवाचा लोकाश्चर्यैर्नवनवपदैरिन्दुविम्बप्रकाशैः॥ ५७॥

संगीतं गिरिजे कवित्वसर्णि चाम्नाय वाक्यस्त्रतेः

व्याख्यानं हदि तावकीनचरणद्वन्द्वं च सर्वज्ञताम् । श्रद्धां कर्मणि कालिकेऽतिविपुलश्रीजृम्मणं मन्दिरे

सौन्दर्यं वयुषि प्रकाशमतुलं प्राप्नोति विद्वान्कविः॥ ५८॥

भूष्यं वैदुष्यमुद्यद्दिनकरिकरणाकारमाकारतेजः

सुव्यक्तं भक्तिमार्गं निगमनिगदितं दुर्गमं थोगमार्गम्। आयुष्यं ब्रह्मपोष्यं हरगिरिविशदां कीर्तिमभ्येतम भूमौ

देहान्ते ब्रह्मपारं परशिवचरणाकारमभ्येति विद्वान्॥ ५९॥

दुर्वाससा महितदिव्यमुनीश्वरेण

विद्याकलायुवतिमन्मथमूर्तिनैतत्।

स्तोत्रं व्यधायि रुचिरं त्रिपुराम्बिकायाः

वेदागमैकपटलीविदितैकमूर्तेः ॥ ६० ॥ सदसदनुत्रहनित्रहगृहीतमुनिवित्रहो भगवान् ।

सर्वासामुपनिषदां दुर्वासा जयति देशिकः प्रथमः॥

इति श्रीदुर्वासोमहामुनिविरचिता

शक्तिमहिम्नः स्तुतिः समाप्ता॥



श्रीमहिम्नस्तोश्चके श्लोकोंका अकारादिकम और

पुराणोंकी कथाओंका संगठन ।

श्लोकाङ्क श्लोकादिपद । पौराणिककथाओंका उल्लेख। शिवपुराण सनत्कुमारसंहिता५१अध्याय। १४। अकाण्डब्रह्माण्ड-मत्स्यपुराण २५० अ०। स्कन्दपुराणमाहेर्वरखण्ड ९। १० अ० (कालकूट महाविषकी कथा)। अंजन्मानो लोकाः-शिवपुराण वायवीयसंहिता २६ अ० (नास्तिक्यानिराकरण)। २। अतीतः पन्थानं — १२। अमुष्यत्वत्सेवा-शिवपुराण ज्ञानसंहिता ५६ अ०। अयत्नादापाद्य-शिवपु० ज्ञानसं० ५५ अ०। 188 321 असितगिरिसमं-असिद्धार्थानैव-स्कन्दपुराणमाहेरवरखण्ड २१ अ० तथा 24 प्रभासखण्ड २०० अ०। शिवपुराण ज्ञानसंहिता ११ अ०। एवं धर्मसंहिता-८ अ० से १४ तक। मत्स्य पुराण १५४ अ०। (मद्नद्द्दनकथा)

३३। असुरसुरमुनीन्द्रैः—
३४। अहरहरनवद्यं—
३६। आसमाप्तमिदं—
४१। इत्येषा वाङ्मयी—
४३। एक कालं—
५ । किमीहः किंकायः-शिवपु०वायवीयसं० २६ अ० (पूर्वोक)
३८। कुसुमद्शननामा— स्कन्दपुराणप्रमासखण्ड प्रभासमाहात्म्य
१८० अ०। (पुष्यदन्ते इवर कथा।)

३१। करापरिणति— स्कन्दपुराण बाह्यस्नं.के ब्राह्मोत्तरस्नं.१४अ० शिवपुराण वायवीयसं० उत्तराई०८ अ० तथा च शिव पु० ज्ञानसंहिता ७ । ८ अ० (भक्तिवर्णन)

२०। क्रतौ सुप्तेजामत्—शिवपु॰ वायवीयसं० १६अ०से२०पर्यन्त (दक्षकथाका उपोद्धात।)

२१। कियादश्लोदश्लः — स्कन्दपु॰माहेदवरख॰ १ अ०से५ अ०तक।
,, प्रभासखं॰ १९६ अ० और
काशीखण्ड ८७। ८८ ! ८९ अ०।
(दश्लयद्याविद्यंसकी कथा सबीपुराणींमे है)।

४२। तवतत्त्वं —

<mark>४ । तवैद्वरर्ययत्त्—पूर्वोक्तशिवपु० वायवीयसं० २६ अ०।</mark>

१०। तवैदवर्थयतात्—स्कन्दपु० माहेदवरखं०अरुणाचलमाहात्यैय १ । २ । अ० पुनः अरुणाचलमा०
उरार्धमे९अ०से १६पर्थ्यन्त एवं पुनः—
स्कन्द पु० ब्राह्मख० सेतुमाहात्म्य १४ अ०
तथा २४ अ० स्कन्दपु० प्रभासख० अर्बुः
दख० ३४ और

स्कन्द पु० माहेइवरखं० ६ अ०। शिवपु० विद्येइवरसं० ४।५।६ अ० और ज्ञान सं०२७अ०। और भी बहुशः।

प्रयीसां ख्यंयोगः — नारदीयपु० पूर्वार्क्च ६३ अ०।
 शिवपु० वायवीयसं० पूर्वभाग २८। २९
 अ० एवं उत्तरभाग २९ अ० योगवर्णन एवं
 २ अ० मे पाद्यपतादिवर्णन तथा सनत्कुः
 मारसं० ५६ अ०

२७। त्रयीं तिस्रोवृत्तीः—शिवपु॰कैलाससांहिता समग्र।
श्वानसंहिता३अ०। वायवीयसं० उत्तरभाग
७ अ०। सनत्कुमारसं० ३२ अ० (और
भी बहुदाः ओंकारवर्णन)
स्कन्दपु० नागरस्व १९९अ०(त्रयीवर्णन)।

२६ । त्वमर्कस्त्वं सोमः —कूर्मपुराणब्राह्मी सं० पूर्वार्क् —१५ अ०। ३५ । दीक्षादानं तपः —नारदीयं पु॰ पूर्वार्क् ६४ अ०। तथा श्चिव पु॰ ब्रानसंहिता १४ अ० (दीक्षा-विधि) स्कन्द पु॰ ब्रमाससं० प्रथम— १९ अ० (षोडशकला वर्णन)।

९ । ध्रुवंकश्चित्सर्वे— २९ । नमोनेदिष्ठाय— २२ । प्रजानाथं नाथ—

स्कन्द पु॰ वेष्णव खं० अ०४२ इलो० ५० शिव पु० झामसंहिता ४२ अ०। मत्स्य पु० ३।४ अ०। एवं स्कन्दपुराण ब्राह्मखण्डे सेतुमाहातम्य ४० अ०।

३०। वहल रजसे--

शिव पु॰ वायवीय सं॰ पूर्वभाग १२ अ० सं १५ अ० तक (रुद्ध सुष्ट्यादि वर्णन)। कूर्म पु॰ ब्राह्मी संहिता पूर्वाई १५ अ०। तथा स्कन्द पु॰ प्रभास सं॰ वस्त्रापथ सं० २।९ अ०। (भवशब्द ब्युत्पस्यादि।) शिव पु॰ ज्ञानसंहिता ३ अ० (शिव का

२८। भवः शवो रुद्रः—

३। मधुस्फीतावाचः—

शब्दमय होना वर्णित है।) २५। मनः प्रत्यग्चित्ते— नारदीय पु० पूर्वार्क्ष ३३ अ०।

२५। मनः प्रत्यग्चित्ते— नारदीय पु॰ पूर्वार्क्च ३३ अ०। शिव पु॰ सनत्कुमार सं॰ ४०। ५७। ५८ अ० तथा—शिव पु॰ विद्येश्वर सं० २ अ० (एवं अन्यत्र भी बहुशः योग

वर्णन मिलता है।)

१। महिम्नः पारंते— १६। महीपादाघातात्—

स्कन्द पु॰ नागर खं॰ २५४ अ॰ (हरता॰ ण्डव कथा)।

३७। महेशास्रापरो-

शिव पु॰ धर्मसंहिता ४० अ० (अघोरकल्प-की कथा)।

८। महोक्षः खट्वाङ्गं—

स्कन्द पु॰ ब्राह्मखंड-ब्राह्मोत्तर सं० १५। १६। १७ अ० शिव पु॰ सनत्कुमार सं० २९ अ०। (भस्म प्रशंसा)। १३ वर्षा सुत्रामणो मत्स्य पु० १८८ अ० तथा — शिव पु० धर्मसंहिता ७ अ०। (वाणाः सुरकथा)

१८। रथः श्लोणीयन्ता स्कन्द पु॰ आवन्त्य खं॰ अवन्ती खंड ४३ अ०। मत्स्य पु॰ १२९ अ० से १४० अ० पर्य्यन्त। शिव पु॰ धर्म सं० ३ अ०। सनत्कुमारसंहिता ५२।५३।५४ अ०। ज्ञान सं० २४ अ०। (त्रिपुरदाह कथा)

१७। वियद्व्यापी तारा — स्कन्द पु० काशी खण्ड —२७। २८ अ० (गंगा माहात्म्य) पुनःस्कन्द पु० अव-न्ती ख० चतुरशीतिलिङ्गमाहात्म्य ४२ अ०। और नागर खं० हाटकेश्वरक्षेत्र-माहात्म्य १३० अ० (इस पद्य का भाव स्पष्ट है)।

२४। इमशानेष्वाक्रीडा— शिव पु० सनत्कुमार सं० ३० अ०। तथा च स्कन्द पु० ब्राह्मखंड-ब्राह्मात्तर २२ अ० । (शिव-स्मरणमाहमा) और नारदीय पु० पूर्वार्द्ध ४१ अ० (नाम-स्मरणमाहात्म्य)

४० भ्रोषुष्पद्दन्त— हकन्दपु० प्रभासखण्ड प्रभास माहात्म्य १८० अ० तथा श्रावन्त्य खं० ७७ अ० (पुष्पदन्तेद्द्यर कथा सविस्तर वर्णित है।)

३९ । सुरवरमुनि—
२३ । स्वलावण्याशंसा— शिव पु० वायवीय सं० १३ अ० (अर्ह्सनारीश्वरवर्णन)
१९ । हरिस्ते साहस्रं — शिव पु० ज्ञान सं० ७० अ० । (विष्णु-

हारस्त साहस्र — । शव पुण्यान सण्डण अण्। (।वरणु-कृतपूजनवर्णन)। ग्रुभमस्तु ।



॥ श्रीशौ वन्दे ॥

नम्रनिवेदन।

→₩

"गच्छतः स्खलनं कापि, भवत्येव विपश्चितः।"

जब अक्षरोंका जंगल ही लगाया जा रहा है तो भूल चूक होना भी आवश्यक है, अतः जिन अशुद्धियों पर दृष्टि पड़ी है उनका शोधन कर दिया गया है, एतिङ्क्षित्र और भी जो रह गई हों उहे शुद्ध करलेने की प्रार्थना है।

अशुद्ध	गुद	бo	पंकिं
आश्चर्य की	आश्चर्य का	१४	5
स्रोलोक्ये	स्त्रेलोक्ये	१५	२७
(गुणार्भिन्नासु)	(गुणभिन्नासु)	१६	99
विनाशश्च	विनाशश्च तान्	१६	58
भगवतः	भवतः	१६	१५
यापिष्ठानां	पापिष्ठानां	१६	१८
सायवाद	सापवाद	१६	86
स् स्तुतः	स्स्तुतौ	१६	२३
द्यपायेन	द्युपायेन	१९	२५
देहं	वेह	२१	3
कां	को	२१	२६
भयकोक	त्रयलोक	२२	१९
बतरावहि	बतरावर्हि	२२	25
भवत्परिकरावाते,	भवेत्परिकरो वाते,	२४	१९
री है	रु बिह	२६	80.
त्रयाजन	प्रयोजन	२८	99
शन्दोविचिति	छन्दोविचित्ति	38	86

शुद्धिपत्रम्

अ शुद्ध	गुद्ध	do	पंकि
द्रु पयोगिनि	बुपयोगीनि	38	१५
बपु र्थपादे	चतुर्थपादे	३५	२७
आस्त काना	मास्तिकाना	थह	3
मध्येषमुक्तं यथाप्ये	अप्येवमुक्तं यथा	39	२५
नृणां	नृणां	३८	9
अनोंके	जलॉके	३९	8
पहुंच नेकेस्थान	पहुंचनेके स्थान	36	3
अन्दो विशेष	छ न्दोविशेष	४ १	२७
बवा तंर	अवांतर	85	3
देवतओं।	देवताओं	84	२६
स्वयमव	स्वयमेव	५९	88
भवती	भवतो	ξo	9
कृते स्तेति	कृत	ξ 3	१२
स्तैति	स्तौति	७७	88
बिछोकयन्	विलोकयन्	७२	8
डधारा	उघारा	60	3
(म्राम्यद्भुज रिघ-)	(भ्राम्यद्भुजपरिघ-)	८३	२३
अगत	जागत पै	९५	१४
à	पै	९५	१७
नही	वही	९९	6
व्या शीणी	न्यक्षाणी	१०१	3
मिचा	मिवा	१०५	24
बॉ राको	औरोंको	१०७	9
सिकारि	सिकारो	१०७	68
हवे	हाथै	१०७	१९ः
गंस	शंसा	800	RP
प्राप्तीति	प्राप्तोत्विति	१०८	
स्रेणं	स्त्रेणं	१०८	80
सहजान	सहजानां	१०८	१५
(अहाय)	(अहाय)	१०९	38
	A CHAPTER STORY OF THE STORY		

शुद्धिपत्रम्

अशुद्ध	गुब	पृ०	यंकि
अगमे	अंगमे	660	96
(साथी)	[साथी]	११५	*
संकप	संकल्प	११७	29
ह्रद्या	ह द्या	११९	12
अ हादित	आहादित	१२०	. 8
ब्याकवाणि	व्याकरघाणि	१२३	-
ब्रह्मात्वकत्व,	व्रक्षात्मकत्व	१२३	15
(म विद्यः)	(न विकाः)	१२४	14
विद्य,	विद्याः,	१२४	24
मिलिनाथ 💮	माहिनाथ 💮	१२४	23
वाणिको	वाणीको	१२५	१४
बिराङ्ढरण्य	विराड्ढिरम्य	१२७	29
ध्यनिभि	ध्वानिभि	१२८	१४
जु पयींगे	नुपयोगे	१२८	50
र्भ्वनिमिः	र्घ्वनिभिः	१२९	54
यद्धाम	बद्धाम	१२९	54
य द्व्याच्य	यव् व्याप्य	१२९	२६
(चौथा)	[चौथा]	१३४	१८
नाममु	नामसु	१३६	१५
महाँ	मेहाँ	१३६	30
महेति	र्भहेति 💮	888	36
इत्यदि	इत्यादि	१३९	२७
ाप्रयद्व	प्रियदव	१४१	२५
त् अंथा	अर्थात्	\$8 \$	38
म्ली	स्ली	६ ८८	30
बाणाभट्ट	बाणभट्ट	१४५	२२
भवते गण	भवतो गुण	१५१	२८
भवड्गुणा	भवहुणा	१५२	•
क अलं	कज्जलं	१५२	१२
वरबै	वरखे	१५३	2

शुद्धिपत्रम्

अशुद्ध	शुद्ध	do	पंक्ति
ये	गुद्ध पे	१५३	9
गुणः	गुणैः	१५४	
(अधोरात्)	(अघोरात्)	१५७	१३
नाशिनी	काशिनी	१५७	१५
भाविदु	भाविद्य	१६३	2
सतीर्थ	सुतीर्थ	१६३	२८
करणसम्पुटः	करसम्पुटः	१६५	२९
कण्डस्थ	कण्ठस्थे	१६८	१६
साहायेन	साहाय्येन	१६८	१७
कंस्ठथ	कंठस्थ	१६९	२५
	1. 1. 1. 1. 1. 1. 1. 1. 1. 1. 1. 1. 1. 1		
	पुष्पदन्तो दन्त ।		A PARTY OF THE PAR
उद्यानों 💮	उद्यानोंमें	१०	9
परुन्तु	परन्तु	१५	२७
कात्ययान	कात्यायन	१८	१०
कौदीमें	कोमुदीमें	8=	२७
	भूमिका।		(Facility
गर्भमें रहै (जी) कोय, रहे गर्भमें (जो) कोय ८			१८
तहां जन्म नहिं होय, तिहि कुल जन्म न होय ९			१९



॥ श्रीः ॥

ॐ नमः श्रीशिवाय ।

श्रीपुष्पदन्ताचार्यविरचितं

शिव महिम्नस्तोत्नम्।

संस्कृत व्याख्याद्वयोपेतम् भाषाटीकापद्यानुवादाभ्यां सम्बल्धितश्च

महिम्नः पारं ते परम विदुषो यद्य सहशी, स्तुति ब्रिह्मादीना मिप तदवसन्ना स्त्विय गिरः । अथा वाच्यः सर्वः स्वमितपरिणामाविध गृणन्, ममा प्येष स्तोत्रे हर ! निरपवादः परिकरः ॥ १ ॥

% मधुसूदनी टीका 🔆

विश्वेश्वरं गुरुं नत्वा महिम्नाख्यस्तुतेरयम् । पूर्वाचार्यकृतव्याख्यासंब्रहः क्रियते मया ॥ १ ॥

एवं किलोपाख्यायते—कश्चित्किल गन्धर्वराजः कस्यचिद्राहः प्रतिदिनं प्रमदावनकुसुमानि हरम्नासीत्। तज्ज्ञानाय शिवानिर्माल्य-लङ्कनेन मत्पुष्पचौरस्यान्तर्धानादिका सर्वापि शक्तिविनङ्क्यतीत्य-भिप्रायेण राज्ञा शिवानिर्माल्यं पथि निश्चित्तम् । तदप्रतिसंघाय च गन्धर्वराजस्तत्र प्रविशक्तेव कुण्ठितशक्तिर्वभूव । ततश्च शिवनिर्माल्योलङ्कनेनेव ममैताहशं वैक्कव्यमिति प्रणिधानेन विदित्वा परमका हिणकं भगवन्तं सर्वकामदं तमेव तुष्टाव।

ननु स्तुतिर्नाम गुणकथनं, तद्य गुणकानाधीनम्, अञ्चातस्य तस्य कथनासंभवात् तथाच भगवतो गुणानामनन्तत्वेन ज्ञातुमश-क्यत्वात्कथं तत्कथनरूपा स्तुतिरज्ञुरूपा भवेत्, अनजुरूपकथनं चो-पहासायैवेति या शङ्का तदपनोदन्याजेन स्वस्यानीद्धत्यं दर्शयश्रेष भगवन्तं स्तोतुमारभते —

#महिन्नः पारमिति *। हे हर, सर्वाणि दुःखानि हरतीति हरः। योग्यं संबोधनम्। सर्वदुःखहरत्वेनैष प्रासिद्धोऽसि, न मम दुःखहरणे पृथम्ब्यापारं करिष्यसीत्यभिप्रायः। हे सर्वदुःखहर, ते तब महिद्धाः परं पारमबधिमविद्वाः पतावानेव महिमेतीयत्तयाऽज्ञानतः । कर्तृत्व-संबन्धे षष्ठी । अजानत्कर्तृका स्तुतिर्यद्यसदृश्यन नुरूपा । अयोग्येति-यावत् । तत्तर्हि ब्रह्मादीनां सर्वज्ञानामपि गुणकथनरूपा गिरस्त्वयि-विषयेऽवसन्नाः । अयोग्या एवेत्यर्थः । तैरपीयत्तयाऽज्ञानात् इयत्ता-या असत्त्वेन तद्ज्ञाने सार्वज्यव्याचातोऽपि न । सन्मात्रविषयत्वात्सः वैद्यात्वस्य । अभ्यथा भ्रान्तत्वप्रसङ्गात् । तथाच श्रीभागवते - वि-ब्लोर्चु वीर्यगणनां कतमोऽर्हतीह यः पार्थिवान्यपि कविर्विममे रजांसि' इति । अथेति पक्षान्तरे । यद्येवं त्रूषे तर्हि स्वमातिपारेणामावधि स्वस्य मतिपरिणामो बुद्धिविषयता स एवावधिर्यत्रेति क्रियाविशेषणम् । स्ववुद्धा यावद्विषयीकृतं तावद्गृणन् वाक्सृष्टिसाफल्याय कथय-न्सर्वेऽपि स्तोताऽवाच्योऽनुपालम्भनीयः । 'सा वाग्यया तस्य ग्र-णान्गृणीते करौ च तत्कर्मकरौ मनश्च। जिह्वाऽसती दादुरिकेव सृत न चोपगायत्युरुगायगाथाः' इति च श्री भागवतवचनात्। तर्हि नभः पतन्त्यात्मसमं पतित्रणः' इति न्यायेन ममाप्येष परिकर आरम्भः स्तोत्रे स्तोत्रविषये निरपवादोऽखण्डनीयः। स्ववुद्धनुसारेण योग्य इस्यर्थः । प्रथमार्धेन स्तुतिनिराकरणव्याजेन सर्वदुराधिगममहिमत्व-रूपा महती स्तुतिः कृता, उत्तराधैन स्तुतिसमाधानव्याजेन सर्वा स्तुतिर नुरूपेति महत्कौ शलम् ॥ अन्य श्व गन्धर्वराजस्य महाकु शल-त्वादेकेनैव श्लोकेन यथाश्रुति वक्ररीत्या च हरिशंकरयोः स्तुतिस्त-योरभेदज्ञानायाभिप्रेता । तत्र हरपक्षे यथाश्रुति व्याख्यातं, हरिपक्षेऽपि तदेव योजनीयम्। संबोधनपदं तु अहरेति। हरतीति हरः संहर्ता तद्विरुद्धोऽहरः। पालयितेत्यर्थः। अथवाऽहः अहो परम परा मा

लक्ष्मीर्यस्येति तथा हे लक्ष्मीपते। लक्ष्मीपतित्वान्ममालक्ष्मीं स्वत पव नाशयिष्यसीति योग्यं संबोधनम् । यदि ते माहिसः त्वन्महिमसंब-न्धिनी त्वन्महिमविषया स्तुतिः। गिरो महिम्न इति योजनापेश्चया ते स्ततिरित्येव समीचीनम्, तत्तिः अवसन्नाऽत्पा असदस्यननुरूपा-प्यस्तु, नत्वन्यदेवतानामनल्पाऽनुरूपापि । अत्र हेतुगर्भे विशेषणम् । तव की हरास्य । ब्रह्मादीनां स्तावकानां गिरः स्तृति रूपायाः पारं विः दुषः। स्तोतुः श्रमं स्तुतेर्गुणदोषौ च जानत इत्यर्थः। सर्वदेवस्तुत्य-त्वेन निर्तिशयसार्वहयेन च तवेंव सर्वोत्कृष्टत्वादित्यभिप्रायः। स्तुतिः फलं दर्शयन् स्वस्य विनयाति शयं दर्शयितुमाह । अथ स्वं त्वां अति-परिणामावधि अतिकान्तो बुद्धिपरिपाकावधिः सीमा यत्र तादशं यथा स्यात्तथा स्वराक्तिमतिकस्यापि गुणन्स्त्वन् सर्वोऽपि जनः अ-वाच्य आभिमृख्येन वाच्यः।संभाषणीयस्त्वयेत्यर्थः। यस्मादेवं स-र्वथैवानुगृद्यते त्वया स्तोता अत एव ममापि स्तोत्रे स्तुतिकर्त्रे एष परिकरो नमस्कारादिप्रवन्धः। कीहराः। अनिरपवादः न विद्यतेऽति॰ श्येनापवादो दूषणं यस्मात्स तथा । अहरिति वीष्सनीयम् । अहरहः सर्वदेत्यर्थः। यद्विषयकस्तुतिकर्तृत्वेनान्योऽपि सर्वदा नमस्यः किमु वक्तव्यं स सर्वदा सर्वेषां नमस्यतरो भवतीति भगवति रत्यतिशयो व्यज्यते। एवं यस्यायोग्यापि स्तुतिः साम्निध्यफला तस्य योग्या स्तातः किं वा न फलिष्यतीति ध्वनितम् । हरपक्षेऽप्येवम् । तत्र प-रम श्रेष्रेति संबोधनम् ॥१॥

% संस्कृत टीका %

जयतः पितरा ईशौ द्वैताद्वैतस्वरूपिणौ। संसक्ता इव गीरथी आप्तरङ्गावुमौ शिवौ॥१॥

(हर!) हे दीनार्तिहारिन्! (ते) भवतः (महिसः) अष्टिषे धैदवर्यान्तर्गतिसिद्धिविशेषस्य, महत्त्वस्येत्यर्थः । यथा "अणिमा महिमा चैव लिघमा गरिमा तथा। श्राप्तः प्राकाम्यमीशित्वं वशित्वं चाष्टिसिद्धयः" इति प्रक्षिप्तामरः। महतो भाव एव महिमेत्युच्यते- महत्त्राब्दात् "पृथ्वादिभ्य इमनिज् वा" ५।१।१२२ इत्यस्मात्स्त्रा दिमनिज् प्रत्ययः। ततः "टेः" ६।४।१५५ इति टिलोपः। (परं) उत्कृष्टमन्यद्वा (पारं) नद्यादिलङ्घनाद्गन्तव्यतीरं, यथार्थसीमान-मिति यावत्। (अविदुषः) अजानतः। कस्यचित् पुरुषस्य कृता (स्तुतिः) माहात्म्यवर्णनं स्तुतिवाद् इत्यर्थः (यदि) कदाचित् (असद्दशी) अननुरूपा अयोग्या वा भवेत्तिर्हि कि चित्रमिति योजनीयम्। यतः (ब्रह्मादीनामिष्) ब्रह्मापेन्द्रेन्द्रादिदेवानामिष्, किमुतान्येषां (गिरः) वचनानि (त्विय) भवतो विषये (अवसन्नाः) परिसमाप्ता, व्यर्था एत्र भवन्ति। यथोक्तं स्कन्दपुराणस्य माहेश्वर-खण्डान्तगर्त-कौमारिकाखण्डस्य च त्रयक्तिंशाऽध्याये।

"न यस्यालमपि ब्रह्मा महिमानं विवार्णेतुम् । <u>२०</u>"

ततः किमिति त्वयापि स्तुते रारम्भः कियते ? इति चेत्सर्वेषां साधिकारतां प्रतिपादय न्नाह। (अथ) अतः परं (सर्वः) सम-स्तोऽपि जनः (स्वमतिपरिणामावधि) निजमतिपरिपाकपर्यन्तं स्वबुद्धिविभवानुसार मित्यर्थः । क्रियाविशेषणमिदं (गृणन्) स्तुवन् कथयन् सन् (अवाच्यः) कदापि न निन्दनीयः अर्थात् निर्दोष एव भवति। तर्हि अस्मिन् (स्तोत्रे) भवदीयस्तुतिरूप-कर्मणि (ममापि) पुष्पद्नताभिधानस्य स्तोत्रनिर्मातुः श्रोतृपाठकादे रपीति लक्षणया (एव परिकरः) प्रगाढगात्रिकावन्धः समारम्भ इति यावत् (निरपवादः) अपवादहीनो निर्दोष एवास्ति । पद्येनाऽमुना कविः स्तोत्रारम्भे ईश्वरमाहिमवर्णनप्रसङ्गेषु सर्वेषामप्ययोग्यतां निरूप्य स्वबुद्धिगोचरत्वावधि कथनमेव निर्विवादमित्यवगमयति। कारणञ्चास्याग्रिमइलोक एव दुर्शयतीति बोद्धव्यम् । एतस्मिन् धूर्जिटिस्तात्रे आदी महिमशब्दप्रयोगात्तद्वर्णनाधिक्याचायं स्तवो "महिस्नस्तोत्र" नाम्ना व्यवहियते । यथा आदौ कर्पुरराव्दप्रयोग-कारणादेव "कर्प्रस्तुति" रिप प्रसिद्धिङ्गतास्ति अस्मिन् महिम्नस्तो। त्रे उनित्रंशच्छ्लोकावधि "शिखरिणी" वृत्तमेव प्रधानं तल्लक्षण-श्रोक्तं वृत्तरत्नांकरे "रसै रुद्रै दिछन्ना य-म-न-स-भ-लागः शिख-रिणी"-ति॥१॥

ि संस्कृत पद्याऽनुवादः ३६०

भवन्महिम्रोऽन्तमजानतस्स्या, त्तवानुरूपा कथ मीरा! ते स्तुतिः।
यतो विरिश्चादिकदैवतानां, गिरोऽवसन्ना विषये त्वदीये॥
अथ स्वनुद्धे विभवानुसारं,वदन् न कश्चि त्किल दोषमहिति
(परिनिन्दनीयः)

प्रारम्भ एषोऽस्तु ततोऽपवादै, हीनस्स्तुतौ मे हर! सर्वथैव ॥ १ ॥

ु भाषा टीका ु

जाकी सत्ता लेस लिह, भृकुटी हिलतिह साथ।
लिखियत यह जग सत्य-सम प्रनर्थों गिरिजानाथ॥१॥
अलख अनादि अनंत जो निरगुन सगुन विशेस।
निराकार साकार सो, रहत निरंजन वेस॥२॥
जो अद्वैतिह द्वैत है, द्वैता-द्वैत विशिष्ट (निकाम)।
रहत भुवन भिर ब्यापि पुनि, सवते परे घनिष्ट (विराम)॥
विश्वरूप जो विश्वपति, अनुछन विश्व-निवास।
लित जल पायक पवन रिव, शाशि आतमा अकास॥४॥
लि ब्रह्माते कीट लीं, जाको विम्ब (रूप) लखात।
सब कुछ हैं सबमें रहत, पुनि सबते विलगात॥५॥
जाको वर्णन सब करें, जो निह वरने जोग।
जाहि वरनि जन धन्य बनि, मेटत निज भव रोग॥६॥
जाको मंगल नाम है देत परम पद जोय।
ताहि नरायन पति नमत, जो विधिहरि हर होय॥७॥

(हर) है दीनजनों के दुःख हरन करने बाले ! (ते) आपकी (मिहम्नः) मिहमाकी (परंपारं) यथार्थ सीमाके (अविदुषः) अन जानते जनकी की हुई (स्तुतिः) बड़ाई (यदि) जौ, कदाचित् (असदशी) अयोग्य होवेतो क्या आश्चर्य है ? क्यों कि (ब्रह्मादी-नामिप) ब्रह्मा-इत्यादि, देवताओं की भी (गिरः) उक्तियां (त्व-पि) आपके विषयमें (अवसन्नाः) व्यर्थही होती हैं, अर्थात् रुक जाती हैं। (अथ) इसके अनन्तर (सर्वः) सवी कोई (स्वमित-

परिणामवाधि गृणन्) अपनी बुद्धिकी पकाई भर कहता हुआ (अवा-च्यः) निंदाके योग्य नहीं होता। अत एव (ममापि) मेराभी (स्तोत्रे) आपके स्तुति गान में (परिकरः) उद्यत होना अथवा कमर बांधना (निरपदादः) दोष लगानेके योग्य नहीं हो सकता। तात्पर्य्य यह है कि, किसी के गुण गान करनेका नाम स्तुति है। अतः गुण तभी गाया जा सकता है। जब कि, पूर्ण रीति से जान लिया जावे । फिर परमेश्वरके गुणोंका अन्त नहीं है। इस कारण से उन के गुणों को कह डालना मनुष्य की शक्ति के बाहर है ऐसी दशामें स्तातिकरना असंभव है इसी शंका को दूर कर के इस स्रोक में यह भाव दर्शाया है कि, जो आए की महिमा का पार नहीं पा सका है उस की कही हुई आपकी स्तुति अयोग्य होवे तव तो कुछ आश्चर्यकी वात नहीं है, क्यों कि और की कौन बात है ब्रह्मा-इत्यादि देवताओं की कही स्तुतियां भी आपके विषयमें यथार्थ नहीं हो सकने से रूकी पड़ी रहगई-अब य-इ शंका होती है कि, यदि समस्त जगत्के सृष्टिकर्ता ब्रह्मादिकभी जिस कार्य को नहीं कर सके तो तुम क्यों ऐसे विषयमें उद्यत हुए हो ! तो उसका उत्तर यह है कि, अपनी बुद्धि के दौड़ भर सभी लोग कह सकते हैं। अत एव इसं स्तुति गान में मेराभी लग जाना दृषित नहीं है। जैसा कि, गोस्वामी तुलसीदासजी ने भी अपने मानस रामायण में कहा है-

"सब जानत प्रभु प्रभुता सोई। तदपि कहे बिनु रहा न कोई ॥ इति॥१॥'

% भाषापद्यानुवादः ३६०

महिमा बिनु जाने भले, किहु बिध भाषि न जाय।
जह ब्रह्मादिक देवकी, बानी व्यर्थ बनाय॥
निजमति वेभव भरि कहत, लहत दोष नहिं कीय।
याते बिनती मोरिह, निरपधाद प्रभु! होय॥१॥

% भाषाविम्बम् % व्यापे की सकत नहिं जानी किमि कहै, भई ब्रह्माहू की बचन-रचना व्यर्थ जहुँ पै। अपानी बुद्धी के विभव भरि भाषे चहि सबै, हमारी भी बिन्ती हर! निरपवादे बनि रहै॥ १॥

अतीतः पन्थानं तव च महिमा वाङ्मनसयो-रतद्यावृत्त्या यं चिकत मिभधते श्रुति रिप ॥ स कस्य स्तोतव्यः कतिविधगुणः कस्य विषयः पदे त्वर्वाचीने पतित न मनः कस्य न वचः ॥ २॥

% मधुसूदनी टीका 3%

पुनरप्यस्तुत्यत्वेनेव भगवन्तं स्तौति पूर्वीकं स्वस्य ब्रह्मादिसा-म्यमुपपादयन्—

*अतितेति । पूर्वोक्तं संबोधनमार्वतनीयम्। तव महिमा संगुणो निर्गुणश्च वाद्धानसयोः पन्थानं विषयत्वमतीतोऽतिकान्तः। चरा- इदोऽवधारणे। अतीत प्रवेत्यर्थः। अनन्तत्वाक्तिर्धर्मकत्वाच्च। तथाच श्रुतिः 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' इति। वागविषयत्वे तत्र श्रुतेः प्रामाण्यं न स्यादित्याशङ्क्ष्णाह । यं श्रुतिरप्यपौरुषेय्यपि वेद्वाणी चिकतं भीतं यथा स्यात्तथा अभिधत्ते तात्पर्येण प्रतिपाद्यति। सगुणपक्षे किचिद्रप्ययुक्तं मा भृदिति निर्गुणपक्षे तु स्वप्रका- शस्यान्याधीनप्रकाद्यता मा भृदिति भयम्। केन प्रकारेण। अतद्या- सर्वा सगुणपक्षे न तद्यावृत्तिरतद्यावृत्तिस्तया। अभेदेनेत्यर्थः। सर्वे खिवदं वद्यां 'सर्वकर्मा सर्वकामः' इत्यादिना सर्वाभेदेनेव भग- वन्तं प्रतिपादयित न त्वेकैकशो महिमानं वदतीत्यर्थः। निर्गुणपक्षे तु न तत् अतत् अविद्यातरकार्यात्मकमुपाधिद्वयमिति यावत्। तद्या-

बुत्या तत्परित्यानेन जहद्(१)जहल्लक्षणयेत्यर्थः । मायाविद्योपहित चैतन्यशक्तं तत्पदं तत्कार्यबुद्धाद्यपहितचैतन्यशक्तं त्वंपद्मुपाधिभाः गत्यागेनानुपहितचैतनगस्य प्रपं स्वश्वकाशमपि तदाकारवृत्तिमात्रजनः नेनाविद्यातत्कार्यनिवृत्त्या बोधयतीवेति न तावता बाग्विषयत्वं मुख्यं तस्येत्यर्थः। अत एव स ताइशः सगुणो निर्गुणश्च महिमा कस्य स्तोतव्यः । कर्तरि षष्टी । न केनापि स्तोतुं शक्य इत्यर्थः । सगुणस्य स्तोतव्यत्वाभावे हेतुमाह । कतिविधगुणः कतिविधा अनेकप्रकारा गुणा यत्र स तथा। अनन्तत्वादेव न स्तुत्यई इत्यर्थः । निर्भुणस्य स्तोतव्यत्वाभावे हेतुमाह। कस्य विषय इति। न कस्यापि विषयः निर्धर्मकत्वात् । अत एवाविषयत्वान्न स्तुत्यही इत्यर्थः । सगुणो न्नय-त्वेऽप्यनन्तत्वात् निर्गुणस्त्वेकरूपोऽपि ज्ञेयत्वाभावान्न स्तुत्यश्चेत्तर्हि स्वमतिपरिणामावधि गृणान्निति पूर्वोक्तं विरुद्धेचतेत्यत आह-पदे त्विति । अर्वाचीने नशीने भक्तानुष्रहार्थे लीलया गृहीतं वृषभिपना-कपार्वत्यादिविशिष्टे रूपे कस्य विदुषो मनो न पत\ते नाविशति, कः स्य वचो नाविशति । अपि तु सर्वस्यापि मनो वचश्च विशतीत्यर्थः। तत्र हिरण्यगर्भस्यासमदादेश्च सममेव स्तुतिकर्तृत्विमिति न पृवीपर-विरोधः ॥ हरिपक्षेष्येवम् । अथवा यं अतद्यावृत्त्या कार्यप्रश्चभेदाः च्चिकतं भीतं माद्भिन्नत्वेन कार्यप्रपञ्चं मा पश्यत्विति शङ्कमानं श्रुतिर-भिधत्ते इति पूर्ववत्। अर्वाचीने पदे तु कमलकम्बुकौमोदकीरथाङ्ग-कमलालयाकोस्तुभाद्यपलक्षिते नवजलधरश्यामधामनि श्रीविग्रहे वैकुण्ठवार्तीन वेणुवादनादिविविधविद्यारपरायणे गोपिकशारे वा व न्दावनवर्तिनि कस्य मनो नापतित, कस्य वचश्च नापतित । अपगः ता तातिर्विस्तारो यस्मात्तदपति । संकुचितमित्वर्थः । तच श्रीविश्र-हानुचिन्तने तहुणानुकथने च विषयान्तरपरित्यागेन विलीयमानाः वस्थं मनो वच्छेकमात्रविषयतया संकुचितं भवति तव श्रीविग्रहे ए-वासक्तं भवतीति भावः॥ २॥

⁽१) शक्त्युपस्थितार्थे किंचिंदेशं परित्यज्य अवशिष्टार्थे लक्षणा जहदजहस्रक्षणा—यथा त-त्त्वमसीत्यादे। तत्त्वमिति पदोपस्थितयोः सर्वज्ञत्विकिच्ज्जत्वांशयोः परित्यागपूर्वकं केवलचैतत्या-भेदप्रतिपादनमित्यायूद्यम् .

% संस्कृत टीका अ

हे भगवन् ! (तव च) अतः परं भवतो (महिमा) ऐइवर्धं (वाङ्मनसयोः) वचसो मनसश्च द्वयोरिप । "अचतुर-" ५ । ४ । ७७-इत्यादिना निपातनात्साधुः। (पन्थानं) मार्गम् (अतीतः) अतिकान्तः, लङ्घितवानेवेत्यर्थः । यतो वाङ्मनसाभ्यामेव सर्वार्थः परिकानं भवितुं शक्यते अत एव प्रत्यक्षानुमानयोरिप अविषय ए-वेति सिद्धम्। (यं) त्वन्महिमानं (श्रुतिरिप्) वेदपृरुषोऽपि (अ-तद्यायृत्या) न तस्य व्यावृत्तिः अतद्यावृत्तिस्तया, "नेति नेती" त्यादिवाक्यपरम्पराद्वारा, अथवा "यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सहे-" त्यादिशापनरीत्या (चिकतं) यथा स्यात्तथा क्रिया-विशेषणिमदं (अभिषत्ते) कथयति, सूचयतीत्यर्थः। अर्थात् स्वकः पलक्षणाभावात्तरस्थलक्षणेनैव वक्तुमुत्सहते यथा-'नासन्न सन्न सदसन्न महन्न चाणु-" इत्यादिकथनद्वारैव स्वाभिन्नायं व्यञ्ज-यतीति दिक्। (स) महिमा (कस्य) जनस्य (स्टोतब्यः) स्तोतुं योग्यस्स्यादपि त न कस्यापीति व्यङ्गयध्वनिः । पवं च (कति-विधगुणः) तस्य कियन्तो गुणाः सन्तीति याथार्थ्येन झातुं न शः क्यते। तथा च (कस्य विषयः) अपि तु न कस्यापि गोचर इत्यर्थः (अर्वाचीने) सृष्टि-स्थिति-प्रलयादिमुख्यतया आत्मन्यनुप्राह्यके इदानीन्तने (पदे) स्थाने (कस्य मनोवचः, च न पति) नैव प्रसरति, अपितु सर्वेषामपि मनो वाक् प्रसरत्येव। अत्र निष्कलक्षे ईइवरे स्तुतेरनधिकारित्वं प्रतिपाद्य सकलक्ष्पे सावकाशत्वमस्ती-ति स्फूटं हढीकृतमिति॥ २॥

(तथा चोक्तं स्कन्दपुराणस्थमाहेरवरखण्डीयकौम।रिकाखण्ड-स्य ३३ अ० "श्रांतेश्च भीता यं वाक्ति किं तस्मात्परमं भवेत्"॥२०॥ ि संस्कृतपद्यानुवादः ३०

न गोचरत्वं महिमा प्रयाति, तवेश ! वाणी-मनसोः कदाचित्। न वेद वेदोऽपि ततोऽभिधत्ते, "नेती" ति वाक्याच्चिततं सदैव(यमेव) स्तुत्यः कथं स्यान्महिमा त्वदीयः ? कियद्गुणो वा विषयश्च कस्य ? आत्मन्यनुत्राह्य पदे न कस्य, मनो वचो वा प्रसरत्यवद्यम्॥ २॥

% भाषाटीका ३६०

स्तुतिकर्ता अपने स्तुत्य देव से यह स्तुति कह रहा है अत एव पूर्वोक्त संवोधन का यहाँ पर अध्याहार कर लेना चाहिये। अथवा —

हे भगवन्! (तव च महिमा) और आप की महिमा (वाङ्मनसयोः पन्थानं अतीतः) वचन और मन-दोनो ही के मार्ग कोलांघगई है। अर्थात् वाणी और मन भी आप की महिमा तक कदापि नहीं पहुँच सकते। अत एव (श्रुतिरिप) वेद भी (यं) जिसे
(अतद्यावृत्त्या) अभेद ही से, अर्थात् यह नहीं यह, अथवा इतना
ही भर नहीं। इत्यादि वाक्यों ही से (चिकतं अभिधते) चकपकाया हुआ सा कहता है। अथवा भयभीत होकर कह रहा है।
(स कस्य स्तोतव्यः) भला ऐसी आपकी महिमा को कौन गा सकता है ? क्योंकि (कितिविधगुणः) उसमें कितने प्रकार के गुण
हैं ? (कस्य विषयः) किसका विषय हो सकता है ? अर्थात् सवी
किसी की शक्ति के बाहर है। फिर भी (अर्वाचीने) नवीन अर्थात्
भक्तों के अनुत्रहार्थ लीलामय शरीर धारी (पदे) स्थान में (कस्य
किस का (मनो वचः न पतित) मन और वचन नहीं पहुचँता है ?
तात्पर्य यह कि-आप के निर्गुण रूप की महिमा तो वचन और
मन दोनो ही के परे हैं, क्योंकि वेद भी—

"नेति नेति कि जासुगुन करिं निरन्तर गान।" तु० रा० तब भला उसे कौन गा सकता है ? पर हां आप के सगुण रूप में आप वृपभवाहन हैं, आप पार्वती के पित हैं, आप पिनाक धारी हैं। इत्यादि प्रकार की कुछ बातें कहने के लिये मन दौड़ने लगता है। अर्थात् सगुण रूप ही की कुछ थोड़ी सी स्तुति किसी प्रकार से हो सकती है। इससे स्तुति करने की सार्थकता प्रकट होती है॥ २॥

% भाषापद्यानुवादः ३६०

बानी मनके पथ परे, महिमा तुमरी नाथ ! नेति नेति कहि वेद नित, गावत विस्मय साथ ॥ हैं कतेक गुन विषय किमि, कौन सकै तिहि गाय । काकी बानी मन नहीं, नये थान पै जाय ॥ २ ॥ % भाषाभिन्तम् % विद्यादि स्वारं तोरी है बचन मनहू के पथ परे, उराते वेदी भी चिकत बनि भाषे बिनु पते। भला कैसे गावे कितक गुन काको विषय है, अनोखे थाने पै गिरत मन बानी नहिं कहै॥ २॥

मधुरकीता वाचः परमममृतं निर्मितवत— स्तव ब्रह्मन् किं वागपि सुर-गुरो विस्मयपदम् । मम त्वेतां वाणीं गुणकथनपुण्येन भवतः पुनामी त्यर्थे ऽस्मि न्पुरमथन ! बुद्धि व्यवशिता ॥३॥

्री मधुसूदनी टीका ३६०

नन्वेवं स्तुत्यत्वेऽपि हरिहरयोः सर्वश्वयोरनभिनवया स्तुत्या न मन्ने नोऽनुरञ्जनं तद्विना न तत्प्रसादस्तं विना फलमिति पुनरपि स्तुतेवें-यथ्यं प्राप्ते सार्थक्यं दर्शयन्स्तौति—

*मिद्दाति *। हे ब्रह्मन् विभो, सुरगुरोर्ग्रह्मणोऽपि वाग्वाणी तव किं विस्मयपदं चमत्कारकारणं किम्। किंशब्द आक्षेपे। नेत्यर्थः। तत्र हेतुगर्भाविशेषणमाह। तव कींदशस्य। वाचो वेदलक्षणा निर्मितवतो निःश्वासवदनायासेनाविर्भावितवतः। कींदशीः। मधुवर्त्स्पोताः माधुर्यादिशब्दगुणालंकारविशिष्टत्वेन मधुराः। तथा परमममृतं निरितिश्वाममृतवदत्यास्वाद्याम्। पतेनार्थगतमाधुर्यमुक्तम्। परमेश्वरवाचां शब्दार्थगतयोर्निरितशयमाधुर्ययोरि मिथस्तारतम्यं मध्वमृतश्राब्दाभ्यां द्योत्यते। अयं च वाचामुत्कर्षो महान् यत्र शब्दगुणालंका-रातिशयं विनार्थगुणालंकारातिशय इति यत्र हिरण्यगर्मस्य वाण्यापि न चमत्कारकारणं तत्र का वार्ताऽस्मदादिवाण्या इत्यर्थः। तिर्हि किं स्तुत्यत्यत आह्-मम त्वित्यादि। हे पुरमथन त्रिपुरान्तकः भवन्तो गुणकथनपुण्येन पतां स्वां वाणीं पुनामि निर्मलीकरोमीत्यभिष्राच्योत्तिसम्वर्थे स्तुतिक्तेषे मम बुद्धर्थ्यवसितोद्यता नतु स्तुतिकौशलेन वार्वारक्षियामित्रार्थे वार्वारक्षित्रार्थे स्तुतिक्रेषे मम बुद्धर्थ्यवसितोद्यता नतु स्तुतिकौशलेन वार्वारक्षित्रामीत्यभिष्रार्थे वार्वेन वार्वेनिक्येन मन्तिमेल्यं नान्तः

रीयकामिति स्तुतेः सार्थक्यमुक्तम् ॥ हारिपक्षेप्यवम् । मध्यतेऽस्मिन्द्-ध्यादीति मथनं गोकुलम् , अथवा मध्यन्ते आपोऽसृतार्थामिति मथ-नः श्रीरोदः पुरं मन्दिरं गोकुलं क्षीरोदो वा यस्येति पुरमधनसंबोध-नार्थः । सर्वमन्यत्समानम् । अथवा हे ब्रह्मन् , वाचः सर्वस्या अपि पः रमममृतं निरातिशयसारं निश्चयेन मितवतः सम्यगनुभृतवतः सुर-गुरोहिरण्यगर्भादिसर्वदेवतोपाध्यायस्य तव मधुस्फीता मधुरिम्णा ब्याप्ता अन्तरा कटुत्वलेशेनापि रहिता वागपि वाग्येवता सरस्वत्यपि किं विस्मयपदम् । नेत्यर्थः । तस्या मद्वाचश्च महदन्तरमातिप्रासिद्धः मेष । यद्यप्येवं तथापि त्वादिच्छयेव ममेयं प्रवृत्तिरित्याह-ममत्वेताः मिति । निजगुणकथनपुण्यन ममत्वेतां ममत्वे वर्तमानां संसारसंस-र्गकलुषितां वाणीं वाचं पतस्य स्तुतिकर्तुरिति शेषः। पुनामि निष्कः लुषां करोमीत्येतस्मित्रर्थे हे पुरमथन, भवतो बुद्धिव्यवसिता यतोऽः तोनायत्तेव मम प्रवृत्तिरित्यर्थः। श्रुतिश्च भवति 'एष उ होव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते एष उ एवासाधु काः रयति यमयो निनीषते' इति । स्पृतिश्च 'अन्नो जन्तुरनीशोऽयमात्म-नः सुख़दुःखयोः । ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गे वा श्वभ्रमेव च' इति । तेन परमकारुणिकस्त्वं शरणागतवाणीपावनपुण्यहेतुस्तुतितत्परं लो-कं कर्तुं स्वयमेव प्रयतमानो यया कयापि स्तुत्या प्रसीद्सीत्यर्थः ॥३॥

% संस्कृत टीका ३६०

(ब्रह्मन्!) हे ब्रह्मस्वरूप! (मधुस्फीताः) मधुवन् मधुराः कोमलाः माधुर्यगुणालङ्काताः (वाचः) वेदादिवचनानि (परमममृतं) उत्कृष्टसुधासदृशः। क्रियाविशेषणमेव (निर्मितवतः) कृतवतः (तव) भवतो विषये (सुरगुरोरिप) वाचस्पतरिप वा किमुतान्येषां (वाक्) वाणी (क्रि विस्मयपदं?) कथमाश्चर्यस्थानं भवितुमहिति ? न कदापीत्यभिप्रायः। यद्येवमेष तिर्हि त्वं कथं स्तवने प्रवर्तसे इत्याशङ्काह्न (पुरमथन!) हे त्रिपुरासुरान्तक ! अहं (तु)-इति हेत्ववधारणे (पतां) वश्य-माणामात्मीयां (वाणीं) गिरं (भवतः) तवेव (गुणकथनपुण्येन) गुणकी त्तेनपुण्यलामार्थमेव। करणे तृतीया। (पुनामि) पवित्री

करोमि (इति) हेतोः (अस्मिन्) स्तुतिलक्षणे (अर्थे) प्रयोजने (मम बुद्धिः व्यवसिता) कृतोद्योगा लग्नेत्यर्थः । अत्र ब्रह्मण एवारोषवाग्जालकर्तृत्वं प्रदर्श्यात्मनश्चौद्धत्यं दृरीकृतं । "ब्राह्मी तु
भारती भाषा गीर्वाग्वाणी सरस्वती" त्यमरोक्तरीत्मनुसारेणात्र
ब्रह्मान्निति सम्बुद्धिपदश्च वाक्कतृत्वमेव सुचयित । तथा च
"शिवपुराण" स्थवायुसंहितायाः पूर्वभागे अ०२३-उक्तं—

त्वं हि वागमृतं साक्षा, दहमथीमृतं परम्। द्वयमप्यमृतं कस्मा, द्वियुक्तमुपपद्यते ॥ १६ ॥

तथा चान्यद्पि तत्रैवोत्तरभागे यथा— शब्दजालमंशेषन्तु, धत्ते शर्वस्य बहुमा। अर्थस्य रूपमिललं, धत्ते मुग्धेन्दुशेखरः॥

इत्यादिवचनाि छवयोरेव वागर्थरूपत्वं प्रतिपादितमित्यवधेयम्। पद्योत्तरार्द्धभावश्च यथा "नैषधचरिताल्ये" महाकाव्ये—

'पिवित्र मत्रातनुते जगद्यों, स्मृता रसक्षालनयेव यत्कथा। कथन्न सा महिरमाविलामपि, स्वसेविनीमेव पवित्रयिष्यति॥" स १ इलो॰

्री संस्कृत पद्यानुवादः ३६०

परमामृतक्रिपणीं गिरं मधुरां निर्मितवान्भवान् स्वयम्। अत एव वृहस्पते रिष, वचनं विस्मयतां हि गच्छति॥ भवते। गुणगानपुण्यतो, निजवाचं भगवन् ! पुनाम्यहम्। इति कारणते। मया कृता, स्वमति स्त्वत्स्तुतिकर्मधर्मिणी॥३॥

% भाषा टीका ३६०

(ब्रह्मन्) हे ब्रह्मस्वरूप ! (मधुस्कीताः) मधुसेभी मीठी अधित् बहुतही मधुर (परमं अमृतं) सर्वोत्तम अमृतके समान (वाध्यः) वेदादिक वचनों के (निर्मितवतः) रचना करनेवाले (तव)

आपके विषयमें (सुरगुरोः अपि) देवतों के गुरु वृहस्पति की भी (वाक्) वाणी (किं विस्मयपदं) क्या कुछ आश्चर्यकी स्थान हो सकतो है ? अर्थात् कदापि नहीं। (हेपुरमथन!) हेन्त्रिपुरासु-रान्तक! में (तु) तो (पतां वाणीं) इस अपनी वाणीको (भवतः) आपके (गुणकथनपुण्येन)। गुणगान रूपी पुण्यसे (पुनामि) पवित्र किया चाहता हूं (इति) इसालिये (अस्मिन् अर्थे) इस काममें (मम बुद्धिः व्यवसिता) मेरी बुद्धि लगगई। भाव यह कि-बोलने की प्रक्रिया वदादिक सुनाकर आपहींने निकाली है, तव आपके विषयमें बृहस्पति का भी कहना कुछ आश्चर्यजनक नहीं होसकता, हम लोगोंकी क्या वात है ? इस पर यह शंका होती है कि जिस विषयमें साक्षात् बृहस्पतिको कुछ कहनेका अवसर नहीं मिलता उस विषयमें तुम क्यों कहनेको उद्यत हुए हो ? उसपर कहते हैं कि-में तो कंवल आपके गुणानुवादके पुण्यसे अपनी इस वाणीको पवित्र कर रहा हूँ-बस इसीलिये मेरी बुद्धि इस विषय में लगी है। यथा—" निज गिरा पावन करन कारन राम जस तुलसी कह्यो" (तु० रा०)॥३॥

% भाषापद्यानुवादः ३६०

मधुसी मधुरी तुम करी, बानी अमृत समान। याते अतिविस्मित बनी, सुरगुरु गिरा सकान॥ तवगुन गावन पुन्यते, निर्मल करिवे हेत। मो (मम) वानीको पुरमथन! बुद्धि सहारा देत॥ ३॥

्रे भाषाबिम्बम् ३६०

वड़ी मीठी बोली अमृत-रस घोली तुम रची। भई दोभो ! यामें सुरु-गुरु-गिरा विस्मय खची॥ अपानी बानीको करहुं छुचि गाके तुव गुनै : यही हेतू मोरी मित गिरिश ! यामै लगि सनै॥३॥ तवैश्वर्यं यत्त ज्जगदुदयरक्षाप्रलयकृत् त्रयीवस्तु व्यस्तं तिसृषु गुणभिन्नासु तनुषु ॥ अभव्याना मस्मि न्वरद रमणीया मरमणीम् विहन्तुं व्याकोशीं विद्धत इहैके जडिधयः ॥४॥

% मश्चसूदनी टीका ३६०

एवं हरिहरयोः स्तुत्यत्वं सफलस्तुतिकत्वं च निरूप्य ये केचि॰
त्वापीयांसस्तम्य सद्भावेऽपि विवदन्ते तान्निराकुर्वनस्तौति —

***तवेति*। हे वरद ई**िसतपद,यत्तव ऐइवर्य तद्विहन्तं निराकर्त एके जडियाः केचिनमन्द्वुद्धयः व्याकोशीं विद्धते। साक्षेपमृच्चैभी वणमाक्रोशस्तस्य व्यतिहारो व्याक्रोशी। अन्येन कर्तमारब्धमन्यः करोति अन्येन चान्य इति कर्मव्यतिहारः। व्याङपूर्वात्कारोः 'कर्म-व्यतिहारे णच् स्त्रियाम्' इति पाणिनिस्मरणात्। ततः स्वार्थे अञ् णचः स्त्रियामञ्' इति सूत्रात्। ततः स्त्रियां ङीप्। तां व्याक्रोशीम-हमहमिकया कुर्वते यत्सर्वप्रमाणप्रमितं तद्पि जिघांसन्तीति यत्तद्भशां मन्द्रबुद्धित्यं द्योतितम् । अत एव कर्त्रभिप्राये क्रियाफले विद्धातेरा-त्मनेपदम् । नहि तद्याकोशीविधानात्तवैश्वर्यव्याघातः किंत तेषामे-वाधः पात इत्यर्थः । कीर्रशं तवैश्वर्थम् । जगदुद्यरक्षाप्रलयकृत् ज-गंतं आकाशादिपपश्चजातस्योदयं सार्ष्टे, रक्षां स्थिति, प्रलयं संहारं च करोतीति तथा। अनेनानुमानमुक्तम्। तच्च 'अजन्मानो लोकाः' इत्यत्र व्यक्तं वक्ष्यते । तथा त्रयीवम्तु त्रय्याः त्रयाणां वेदानां तात्पर्ये-ण प्रतिपाद्यं वस्तु 'सर्वे वेदा यत्पदमार दित' इति श्रुतेः । अनेनागम-प्रमाणमुक्तम् । तथा गुणैः सत्वरजस्तमोभिः ही (हयाते) होपातै-भिन्नासु पृथक्रतासु । नतु वस्तुगत्या भेद इत्यर्थः । तिस्षु तनुषु ब्रह्मविष्णुमहेरवराख्यासु मृतिषु व्यस्तं विविच्य न्यस्तम्। प्रकटी-क्रतमिति यावत् । उपलक्षणं चैतत्सर्वेषामवताराणाम् । एतेन प्रत्यक्षं प्रमाणमुक्तम् तेत्र सर्वप्रमाणप्रमितमित्यर्थः । किरद्शीं व्याक्रोशीम् । अस्मिन्नभव्यानां अस्मिस्त्रोलोक्येऽपि नास्ति भव्यं भद्रं कल्याणं ये-

षां तेऽमञ्यास्तेषां रमणीयां मनोहरां वस्तुतस्त्वरमणीममनोहराम्। अमनोहरेऽपि मनोहरवुद्धिभ्रान्तिरभाग्यातिशयात्तेषामित्यर्थः॥ हरिः पश्लेप्येवम्। अथवा अस्मिस्तवैश्वर्ये अभव्यानां मध्ये जङ्घियो जङ्ग् सतेरत्यन्तमपरुष्टस्येत्यर्थः। तस्य वस्तुतोऽरमणीं व्याक्रोशीं विहन्तुं एके मुख्या रमणीयां व्याक्रोशीं विद्धत इत्यर्थः। जङ्घिय इत्येक- वचनेन पूर्वपक्षिणस्तुच्छत्वम्, एक इति बहुवचनेन सिद्धान्तिनामः तिमहत्वं स्वितम्॥ ४॥

% संस्कृत टीका ३६०

(वरद!) हेवरप्रद! भगवन्! (इह) संसारे (एके) केचन (जडिभयः) मन्दमतयः, पापनिष्ठा इत्यर्थः (तिसृषु) त्रिसंख्यकासु (गुणार्भिन्नासु) गुणाः सत्वरजस्तमांसि ते भिन्नाः पृथाभूताः तासु। (तनुषु) शरीरेषु (व्यस्तं) आरोपितं, विस्तारितं वा (जगदुद्यरक्षाप्रलयकृत्) जगतां भुवनानां उद्यः सृष्टिः, रक्षा परिपालनं, प्रलयो विनाशञ्च करोतीति तथा (त्रयीवस्तु) ऋग्यजुस्सामाख्यवेदत्रयान्तर्गतं (यत्) प्रसिद्धं (तव) भगवतः (पेश्वर्ये) महिमा (तत् निहन्तुं) विनाशियतुं (अस्मिन्) सर्व-बत्यादिगुगगणालङ्कते तवैदवर्ये गुद्धबुद्धीनां विदुषां (अरमणीं) मनोरमता रहितां तथा च (अभव्यनां) नीचमतीनां, यापिष्ठानां बा (रमणीं) मनोहारिणीं (ब्याकोशीं) सायवादिनन्दां, अत्र ब्याङ्पूर्वात्क्रोद्रोः "कर्मव्यतिहारे णच् स्त्रियाम्"—३।३।४३— इत्यतः णच् प्रत्यये कृते—''णचः स्त्रिया मञ्—५।४।१४ ततश्च स्त्रियां ङीप्। (विद्धते) कुर्वन्तीति। अत्र पूर्वोक्त पद्य प्रवातमन स्तुतः सावकाशत्वं प्रतिपाद्य इदानी भीश्वरस्य सर्वश्रत्व-सर्वकः र्चत्वादि विषये विप्रतिपद्यमानाना मिप केषाश्चि न्मतं निराकृत मिति क्षेयम्॥ ४॥

कृत्तं संस्कृतप्यानुवादः मून्तं,
भारोपितं तिस्पु ते तनुषु प्रभुत्वं,
भिन्नासु शङ्कर ! गुणे रनधे महार्धः ।
उत्पत्तिरक्षणलयादिकरं भवस्य,
ब्रह्माच्युतेश्वरसद्भवधरं परं यत् ॥
इन्तुं तदेव वरदायक ! निन्दनीयां,
निन्दा मभव्यजनमानसराजहंसीम् ।
लोके महाजडिधयो वकवृत्तयो वा,
शम्भो ! काचि द्विद्धते द्धते न बुद्धिम् ॥ ४॥

🏂 भाषा टीका 🕏

(वरद!) हे वरदायक ! (इह) यहां, संसार में (एके) कोई कोई (जडिधयः) जडबुद्धि लोग (यत् तव पेश्वर्ये) जो आप की ईश्वरता अथवा महिमा है (तत्) उसे विहन्तं] संडन करने को किंवा मिटा देने के लिये (ब्याकोशीं) सापवाद निन्दा (विद्धते) करते हैं। आपका ऐइवर्घ्य कैसा है। कि (जगद्दय-रक्षाप्रलयकत्) जगत की सृष्टि पालन और संहार का करने वाला है, फिर (त्रयीवस्तु) ऋक् यजुर् और साम तीनो ही वेदों का प्रति पादित वस्तु है, और फिर (तिस्षु गुणभिषासु तनुषु व्यस्तं) तीनो ही सत्व-रज-तम गुणों से पृथक् हुए शरीरों में फैला हुआ अर्थात् गुणों के अनुसार ब्रह्मा-विष्णु-महेश क्यों में प्रकट हुआ है। अब निन्दा का विशेषण देते हैं कि (अस्मिन) इस समस्त गुणा से परिपूर्ण आप के पेश्वर्य में समझ रखने वालोंके लिए (अरमणीं) मनोहारिणी नहीं है, पर (अभन्यानां) नीच बुद्धि वाले अथवा पापनिष्ठ लोगों के लिए (रमणीयां) वडी प्यारी है। भावार्थ यह कि - संसार में सबी प्रकार के लोग होते ही हैं-उही-में कोई कोई मन्दमति जन, संसारकी उत्पत्ति इत्यादिके करनेवाले तीनों वेदों में प्रतिपादित और नीनें। गुणों से तीन रूप धारण करनेवाले आपके उस सर्व प्रसिद्ध ऐश्वर्य (ईश्वरता) ही को

मिटा देनेके लिए समझदारों के आगे परमतुच्छ पर नासमझों के लिये बडी बांकी आपकी निन्दा करने लगते हैं। इस स्रोक से संसार में भले और अनमल दोनों का मिला रहना सिद्ध है जैसे कि—

''भलेउ पोच सब बिधि उपजाये। गनि गुन दोष वेद बिलगाये॥ कहर्षि वेद इतिहास पुराना।

बिधि प्रपंच गुन अवगुन साना"॥ (तु० रा०)॥
इससे इस प्रंथ के बनने के समय अनीइवरवादी नास्तिकों का
वर्तमान रहना भी सुचित होता है। कैसी निन्दा करते हैं-उन
वातों को आगे वाले श्लोक में खोलदिया है॥ ४॥

🗱 भाषापद्यानुत्रादः 🎇

जगत सृष्टि रक्षा प्रलय, महिमा करित तुस्नारि। वेद कहत त्रय गुन धरे, विधि हिर हर तनु धारि॥ वरद! नीच मनभावनी, ताहि मिटावन हेत। अनुचित (कुत्सित) निन्दा करिह जग, जडमित परम अचेत॥४॥

🏂 भाषाविम्बम् 🏂

तिहारो पेरवर्ये जग स्नजन रक्षा लय करे,
पृथक् हैके सोई त्रिगुनमय तीनो तनु धरे।
यही के मेटे को जगित बहुतेरी अनभली,
बही भारी निन्दा करत जडबुढ़ी जन छली॥ ४॥

किमीहः किंकायः स खलु किमुपायस्त्रि भुवनं किमाधारो धाता सृजति किमुपादान इति च । अतक्येंश्वयं त्वय्य नवसरदुःस्थो हतिधयः कुतकोंऽयं कांश्चि न्मुखरयाति मोहाय जगतः॥ ५॥

🗲 मधुसूदनी टीका 🦂

ये त्वात्मप्रत्यक्षमपद् नुवते त्रयीं चान्यथा वर्णयन्ति, तेऽनुमाने नैव निराकार्याः । तञ्चानुमानं क्षित्यादिकं सकर्तृकं कार्यत्वात् घटः विदिति जगदुद्यरक्षाप्रलयकृदित्यनेन सुचितम् । तत्र पूर्वश्लोकोक्तः व्याकोशीवीजप्रतिकृलतकं मुद्धावयन्तः पूर्वपिशणो निराकुर्वन्स्तौति अथवा करिशीं व्याकोशीं विद्धत इत्याकाङ्कार्यां तां वद्नस्तौति

* किमिति * हे बरदेति पूर्वऋोकात्संबोधनानुषङ्गः। त्वयि विषये कुतर्कस्तर्काभासः कांश्चिद्धतिधयः कानिप दुष्टबुद्धीन् जगतो विद्वस्यापि मोहायाऽन्यथाप्रतिपत्तये मुखरयति वाचालान्करोति। की हशे त्विय । अतक्यं तकागोचरमैश्वयं यस्य तस्मिन्सर्वतकांगोः चरे त्विय यः कश्चित्तर्कः स्वातन्त्रयेणोपन्यस्यते स सर्वोप्याभास इन स्यर्थः । प्रमाणानां स्वगोचरशुन्यत्वात्स्वागोचरे प्रामाण्याभावो युक्त एवेति भावः। कुतर्कमेवाह - किमीह इत्यादिना। स धाता परमेइवः रिस्रभुवनं स्जतीति सिद्धान्तमनूय तत्र दूषणमाह। खलु किंतु किमीहः का ईहा चेष्टा यस्येति। तथा कः कायः शरीरं कर्तृ रूपं यस्येति किंकायः। क उपायः सहकारिकारणमस्येति किमुपायः। क आधारोऽधिकरणमस्येति किमाधारः। किमुपादानं समवायिका-रणं भुवनाकारेण निष्पाद्यमस्येति किमुपादानः। सर्वत्र किंदाब्द आ-क्षेपे । इतिशब्दः प्रकारार्थः । चशब्दः शङ्कान्तरसमुखयार्थः । कु-लालो हि घटं कुर्वन्स्वरारीरेण व्याप्रियमाणेन चक्रभ्रमणादिचेष्टया सिललसुत्राद्यपायेन चक्रादावाधारे मृद्मुपादानभूतां घटाकारां क-रोति, एवं जगत्कर्तापि वाच्यः। तथाच कुलालादिवदनीइवर एवे-त्याभिप्रायः । घटादिरष्टान्तेन खलु क्षित्यादेः सकर्तृकत्वं साध्यते ।

तथाच घटादिकतीर कर्त्वोपियकं यावद्षष्टं क्षित्यादि कर्तर्थपि
तावद्वद्यं स्वीकर्तव्यम्, ष्ट्रष्टान्तस्य तुल्यत्वात्। तथाचोभयतःपाज्ञा
रज्जुः। तद्क्रीकारेऽस्मदादितुल्यत्वादनश्चरत्वं तदनङ्गीकारे च कः
र्वृत्वानुपपत्याऽसिद्धिरेवेत्येवंक्षपः कुतर्क इत्यर्थः। सिद्धान्तं चवन्कुतर्क विशिनष्टि-अनवसरदुःस्थः नास्त्यवसरोऽयकाशोऽस्येत्यनवसरः, अत पव दुःस्थो दुष्टत्वेन स्थितः। विचित्रनानाशक्तिमायायशेन
सर्वनिर्मातिर सर्वतर्कागोचरे त्विय नास्ति कुतकोवसर इत्यर्थः
तथाचोक्तम्-'अचिन्त्याः सह ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत् न च
घटादिकर्तरि यावद्षष्टं तावित्कात्यादिकर्तर्यपि साधनीयम्, व्याप्ति
विना सामानाधिकरप्यमात्रस्यासाधकत्वात्। अन्यथा महानसे धः
मवह्योव्यांतिश्रहणसमये पव व्यंजनादिभत्त्वमपि दृष्टमिति पर्वतादाः
विपि तदनुमानं स्यात् । तस्मात्साधर्म्यसमा जातिरेषा। स्वव्याधाः
तकत्वादनुत्तरम्। पराक्तान्तं चात्र स्र्रिभिरित्युपरम्यते। हरिपक्षेइत्येवम्॥ ५॥

🐉 संस्कृत टीका 🦂

तामेवोक्तां व्याक्रोशां विशव्यति। (सः) प्रसिद्धः (धाता)
सृष्टिकर्ता (किमीहः) सृष्टी तस्य का ईहा, अर्थात्कया चेष्ट्या त्रिभुवनं सृजतीति सर्वत्र योजनीयम्। (किंकायः) कीह्मपः कीहः
शोन शरीरेण वा (किमुण्यः) केनोपायेन, कीह्मप्रायशीलो भूत्वा
(किमाधारः) केन आधारेण, कुत्रस्थित्वेत्यादिवत् (किमुणादानः)
सन्। केन उपादानकारणेम, किन्निमित्ति यावत् (च) इति
समुखये (त्रिभुवनं) त्रेलोक्यं, सचराचरं ब्रह्माण्डं वा (सृजति)
विरचयति (खलु) इति निश्चयार्थः (इति) पर्वविधे (अतर्केश्वर्थे)
श्राचन्तनीयवैभवे (त्वयि) विषये (अनवसर्वुःस्थः) अवकाशाभावाद्युर्वलस्तुच्छ इतियावत् (अयं) उपर्युक्तः (कुतर्कः) कुः
त्सितविचारः (काँश्चित्) अनेकान् (हत्थियः) विनष्टबुद्धीन् (जगतः) छोकस्य (मोहाय) प्रतारणाय (मुखरयति) वाचालयित।

अत्र अचिक्त्यप्रभावे ईश्वरे स्पृहा-काय-कारणादिकपः कुतको जग-द्वश्चनायैवेति सोपपत्तिकं नास्तिकादिमतं तिरस्कृतमिति यथोक्तं पुराविद्धिः-''इच्छया कुरुते देहं,मिच्छ्या वितनुर्भवेत्। क्रीडते भग-षान् लोके, बालकीडनकैरिव"॥ ५॥

तथाच स्कन्दपुराणस्य माहेश्वरखण्डे-अरुणाचलमाहात्म्योत्तर-खण्डेऽप्युक्तं अ० १०—

"कस्मादेष समुत्पन्नः किम्मूलः किमुपाधिकः। कुतस्यः किमुपादानः कया शक्त्वा प्रकाशते॥ २१॥"

कू संस्कृतपद्यानुवादः ।

कयेच्छया कीहशक्ष्पधारी, केनाप्युपायेन च कस्य हेतोः। स्थित्वाथ कुत्राञ्जजनिर्विधाता, करोति सृष्टि जगतां त्रयाणाम॥

पवंविधं निरवकाशहतं कुतर्कं, कुर्वन्ति नाम कुधियो विषये त्वदीये। नीतर्कणीयविभवोऽस्तिभवा नतस्तं,

मोद्दाय सर्वजगतः प्रवदन्ति केचित्॥ ५॥

😤 भाषाटीका 🦂

अब आस्तिकों के मतानुसार ब्रह्मा सृष्टि-कर्ता है जैसा कि पूर्व श्रोक में तीनों देवों को प्रतिपादित करचुके हैं-अत एव इस सिद्धान्त के ऊपर नास्तिक इत्यादिकों के कुतकों का उल्लेख करते हैं (सः) वह प्रसिद्ध (धाता) सृष्टिकर्ता (त्रिभुवनं स्जिति) त्रेलोक्य को सिरजता है (किमीहः) कोन सी इच्छा रखता है-अर्थात् किस इच्छा [गरज] से सृष्टि रचता है, ? (किकायः) कैसा देह धरलेता है-अर्थात् सृष्टि रचते समय उसका द्यारि कैसा रहता है ? (कि मुपायः) कोन से उपायों का स्वीकार करता है ! (किमाधारः) कीनसा आधार रहता है-अर्थात् कहां बैठकर अथवा किस वस्तु पर रखकर-इत्यादि, योहीं (किमुपादानः) किसकारण से, किंवा

क्यों सृष्टि करता है ? (इति च) इत्यादि प्रकार की औरभी वहुतेरी शंकाओं से युक्त होने पर भी (अतक्येंश्वयें त्विय) तर्क करने के योग्य नहीं है पेश्वयं जिसका एसे आपके विषय में (अनवसरदुःस्थः) अवकाश [मोका] नहीं पाने से अस्वस्थ [डामाढोळ] (अयं कुतकीः) प्वांक कुतकी (कांश्चित् हताध्यः) कितनेही अष्टबुद्धिवालों को (जगतः मोहाय) संसार को मोहित करने
के लिये अर्थात् अमजाल में डालकर फासने के लिए (मुखरयित) कहवाता है (खलु) निश्चय करके। भावार्थ-यह है कि
यदि ब्रह्माही सृष्टि रचता है तो किस इच्छासे, कैसा शरीर धर
कर, और कौन सी सामग्री [मसाला) लेकर, कहां बैठ, किसकारण से सृष्टि करता है ? यह सब नष्टमित लोगों का कुतकी केवल
संसार के ठगनेही के लिए है-इसमें कुछ सन्देह नहीं है, क्योंकि
आपकी महिमा में तो तर्क करने का स्थान ही नही है अत एव वह
सर्वथा अचिन्तनीय है-फिर आस्तिकों का तो यह सिद्धान्त दढ
ही है कि—

"जेहि सृष्टि उपाई विविध बनाई संग सहाय न दूजा"

तु० रा०)॥ ५॥

👺 भाषापद्यानुवादः 🦂

किहि इच्छा किमितनु धरी, का उपाय भयलोक। कहां बेंठि ब्रह्मा सजत, किहि कारन बेरोक॥ तुच पेश्वर्ज अतक्यं पे, किर कुतर्क हतबुद्धि। मोहिह जग अवकास विनु, बतराबहि निज सुद्धि॥५॥

🏂 भाषाविम्बम् 🦂

करी का इच्छा सो किमि तनु धरी का जतनते, कहाँ बैठ्यो ब्रह्मा रचत जग-सृष्टी किहि लिये। जगत्के मोहे को कुतरक कुनुद्धी सब करें, तिहारो ऐइवर्जी अगम उनहीं (को) क्यों झलाके हैं॥ ५॥ अजन्मानो लोकाः किमवयववन्तोऽपि जगता-मधिष्ठातारं किं भवविधि रनादृत्य भवति । अनीशो वा कुर्याद् भुवनजनने कः परिकरो यतो मन्दा स्त्वां प्रत्यमरवर संशेरत इमे ॥ ६॥

🐐 मधुसूदनी टीका 🦂

एवं प्रतिकुलतर्कं परिदृत्यानुकूलतर्कमुद्भावयन्स्तौति-*अजेति* हे अमरवर सर्वदेवश्रेष्ठ, अवयववन्तोऽपि सावयवा अपि लोकाः क्षित्यादयः किमजन्मानो जन्महीनाः। किंशब्द आक्षेपे। तेन न जन्महीनाः किंतु जन्या एवेत्यर्थः । तेन सावयवत्वेन क्षित्या-देर्न जन्यत्वहेतोरसिद्धत्वम्। 'यावद्विकारं तु विभागो लोकवत्' इति न्यायात् स्वसमानसत्ताकभेदप्रतियोगित्वेनैव जन्यत्वनियमाच। तथा जगतां क्षित्यादीनां भवविधिरुत्पत्तिकियाऽधिष्ठातारं कर्तारमनादः त्यानपेक्ष्य कि भवति । अपेक्ष्येव भवतीत्यर्थः । तेन कार्यत्वसकर्तृकः त्वयो रव्यभिचारान्नानैकान्तिकत्वं हेतोः। तथानीशो वा ईश्वरादन्यो वा यदि कुर्यात्तर्हि भुवनजनने कः परिकरः का सामग्री।अनीइवरस्य स्वरारीररचनामप्यजानतो विचित्रचतुर्दश<u>भुवनरचनाऽसंभवादी</u>दवर एव रचनां करोतीत्यर्थः। परिकरमिति पाठे को वानीइवरो भुवन-जनने परिकरमारम्भं कुर्यात्। अपि त्वीइवर एव कुर्यादित्यर्थः। एते नार्थान्तरता परिहता। एवमनुमानदोषानुद्भत्य राङ्कितदोषान्तरं निः राकुर्वन्तुपसहरति-यत इति । यत एवं सर्वप्रमाणसिद्धस्त्वं, अतस्ते मन्दा मूढा नतु विद्वांसः इमे ये त्वां प्रति संदोरते संदेहवन्तः कि-मृत विपर्ययवन्त इत्यर्थः । 'जन्माद्यस्य यतः' इति न्यायेन 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते । येन जातानि जीवन्ति । यत्प्रयन्त्यभिसंवि-शन्ति । तद्रह्म' आनन्दो ब्रह्मोति व्यजानात्' इत्यादिश्रुतिरेव परमेश्वरे प्रमाणम् । अनुमानं त्वनुकूलं तर्कमात्रं श्रुतेनं स्वातन्त्रयेण प्रमाणमिति व्रष्ट्रयम् । हरिपक्षेऽप्येवम् ॥६॥

क संस्कृत टीका 🕏

पूर्वीकमेष व्यक्षयति । (अमरवर) हे सुरक्षेष्ठ ! देवाधिदेव ! महादेवेत्यर्थः (अवयववन्तोऽपि) अङ्गोपाङ्गसमन्विता अपि (लोकाः) भवनानि (किं) कथं वेति पृच्छायां (अजन्मानः) जन्मरहिताः सन्ति किमेतेषां जन्म न विद्यते ? यतः सावयवत्वन्तु जन्मत्वावः <mark>च्छिन्नमेव यथा घटपटादयः, तद्वत् लोका अपि सावयवाः, तर्हि</mark> सावयवत्वाद्वद्यमेव तेऽपि जन्मवन्त इत्येव सिद्धम्। एवमेव (भवविधिः) सजनकर्मापि (जगतां) लोकानां (अधिष्ठातारं) खेतनस्वरूपं निमित्तकारणं ईइवरं (अनादत्य) तिरस्कृत्य अनपे क्येत्यर्थः (किं) इति प्रदने (भवति) भवितुमर्हति ? अर्थाद्विनैव कर्तारं सृष्टिर्भवति किं ? तथाच दिक्कालधर्माधर्मपरमाणवादीनि चेतनाधिष्ठानस्वीकृतान्येव स्वकार्योत्पत्ती प्रवर्तन्ते न चान्यथा (वा) अथवा (अनीशः ईश्वरत्वहीनः ईश्वरभिन्नो महदैश्वरर्धय-हिर्भृतः कश्चित् (कुर्यात्) कर्तु योग्यो भवेखेत् तदा तस्य (भुवन-जनने) लोकसृष्टी (कः) कि इपः (परिकरः) सामग्री, प्रगाढ-गात्रिकावन्धो वा, कृ-विक्षेपे ।-इत्यस्माद्धातोः "ऋदोरप्"-३।३। ५७-इत्यप्-प्रत्ययः । अथवा पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण''-३।३। ११८-इत्यस्मात्घ-प्रत्ययेऽपि कपासिद्धिः । तथाच-

> "भवत्परिकराब्राते, पर्य्यङ्कपरिवारयोः । प्रगाढगात्रिकाबन्धे, विवेकारम्भयोरिष ॥" इति विद्वप्रकाशः।

अथवा-"यसारम्भौ परिकरो"-इतित्रिकाण्डरोषोक्तोऽथीं प्राह्यः।
(यतः) यस्मात्कारणात् (इमे) पूर्वोक्तमतवादिनः (मन्दाः)।
मूढबुद्धयः (त्वां प्रति) भवतो विषये (संशेरते) सन्देहं कुर्व-न्तीति। अत्र विनैवेश्वरं न कोऽपि सृष्टिकर्मणि समर्थ इति निक्ष्य तिन्निमित्तकोऽखिलोऽपि सन्देहो दुरीकृत इत्यवधेयम्॥६॥

🗱 संस्कृतपद्यानुवादः 🔏

भृत्वा कथं सावयवा स्तु लोका, अजिन्मन स्सन्ति कदापि वाच्याः। जगिष्ठयन्तु श्च निरादरेण, कथं स्वयं जन्म (सृष्टि) विधिक्रमो वा॥ अवेद नीशो भुवनादिसृष्टी, कथं समर्थः परिचिन्त्य मेतत् १। इमे महासन्दतमा यत स्तं, संशेरते त्वां प्रति देव देव!॥ इ॥

🕏 भाषा टीका 🦂

(अमरवर) हे सर्वदेवश्रेष्ठ ! महादेव ! (अवयववन्तोऽपि) समस्त अंगों से परिपूर्ण रहनेवाले भी (लोकाः) त्रिसुवन (कि) क्या (अजनमानः) जनम से रहित हैं ? अर्थात् क्या इन सब भुवनों का जन्म नहीं हुआ है, आप से आपही उत्पन्न होगये हैं, (भव-बिधिः) सृष्टिका कर्म (जगतां अधिष्ठातारं) समस्त लोकोंके नियन्ता जगदी श्वरको (अना दत्य) मानने के विना (किं भवति) क्या हो सकता है ? (वा) अथवा (अनीशः) ईश्वरसे भिन्न, यदि कोई (कुर्यात्) सृष्टि करे तो (भुवनजनने) संसार की सृष्टि रच-नमें, उसीकी (कः परिकरः) कौनसी सामग्री [मसाला] है ? (यतः) जिसके लिए (इमे मन्दाः) ये सब मतिमन्द (त्वां प्रति सं-द्रोरते) आपके ऊपर सन्देह करने लगते हैं। भाव यह है कि-जि-समें अंग होते हैं वह जन्मधारी होता है अत एव ये सब चौदहीं [अथवा असंख्य] ब्रह्माण्ड अङ्गयुक्त होनेसे अवश्यमेव जन्मवन्त ही हैं-क्यों कि जगत्कर्ता के विना दूसरा कोई कैसे सृष्टि रचसकता है ? यदि मान लिया जावे कि ईश्वर से भिन्न कोई दूसरा ही सृष्टिकर्ता है तो बतलाना चाहिए कि उसके पास कौन कौनसी सामग्रियां हैं-? अर्थात वह भी कहां बैठकर कैसा रूप धरकर एवं कौन से बस्तुओं को लेकर सृष्टि रचता है? यदि यह बात भी नहीं है तो फिर ये सब मुर्ख आप ही के विषयमें क्यों सन्देह करते हैं-इस-से यह सिद्ध होता है कि आपही सृष्टि रचने वाले हैं। इस रलोक-से इससे पहिले "किमीहः" (५) इलोक की कही हुई समस्त शंका-

ओंका युक्ति पूर्वक समाधान करिदया है-और उक्त कुतर्कोंका तर्कही द्वारा खंडन करके सावयवत्व होने से जन्मधारी होना भी सिद्ध करिदखाया है॥६॥

🦫 भाषापद्यानुवादः 😤

जन्म छहे वितु छोक किमि, अवयव युक्त छखात ?। विनिहि विधाता के सजे, कैसै जग वनिजात ॥ वितु जगदीसै को रहत, उद्यत सर्जन (सृष्टी) मांहि ?। महादेव ! तुम पै करत-संसय मूढ बुझां (वता) हि ॥ ६॥

क्रें भाषाविम्बम् 😽

विना लीन्हें जन्में सकल जग क्यों अंग धरई ?, भला कैसे कर्ता विनहि सब सृष्टी विनगई ?। विधाता जो नाहीं सजन लिंग को उद्यत रहे ? तबो ये अज्ञानी क (ध)रत बहु सन्देह तुम पै॥ ६॥

त्रयी सांख्यं योगः पशुपतिमतं वैष्णव मिति प्रभिन्ने प्रस्थाने पर मिद मदः पथ्य मिति च । रुचीनां वैचित्र्या दजुकुटिलनानापथजुषां नृणा मेको गम्य स्त्व मिस पयसा मर्णव इव ॥७॥

🏂 मधुसूदनी टीका 🥳

ष्वं तावत्प्रतिकृत्वतर्के परिद्वत्य भगवद्विमुखान्निरस्य सर्वेषां शास्त्रप्रस्थानानां भगवत्येव तात्पर्यं साक्षात्परम्पर्या वेति वद म्स्तौति—

*त्रयीति । हे अमरवर, नाना संकीणीः पन्धानः नानापथाः ऋज-वश्च कुटिलाश्च ऋजुकुटिलाः ऋजुकुटिलाश्च ते नानापथाश्चेति ऋ जुकुदिलनानापथास्ताञ्जुषन्ते भजन्तीति तथा तेषां नृणामधिकार्यः र्नाधकारिसाधारणानां तत्तत्साधनानुष्टातेः साक्षात्परम्परया त्वमेवैको गम्यः प्राप्यः नत्वन्यः कश्चिदित्यर्थः। अत्र दृष्टान्तमाह-पयसामर्णव इव । यथा ऋजुपथजुषां गङ्गानर्मदादीनां साक्षादेव समुः द्रः प्राप्यः, यथा वा क्रिटिलपथजुषां यमुनासरय्वादीनां गङ्गादिप्रवे दाद्वारा परम्परया, एवं वेदान्तवाक्यश्रवणमननादिनिष्ठानां साक्षात्वं प्राप्यः, अन्येषां त्वन्तः करणशुद्धितारतम्येन परम्परया त्वमेव प्रा प्यः । चेतत्वेनैव मोक्षयोग्यत्वात्परमात्माभ्युपगमाच्चेत्यर्थः । ननु-ऋजमार्गे सात तं विहाय किमिति क्रिटिलमार्गे भजन्ते ऋजमार्गस्यैव शीव्रफलदायित्वादित्यत आह । प्रभिन्ने प्रस्थाने इदं परं पृथ्यं अदः परं पथ्यमिति च रुचीनां वैचित्र्यात्तोस्मस्तर्सिमङशास्त्रप्रस्थाने इदः मेव श्रेष्ठमिद्मेव मम हितामेतीच्छाविशेषाणामनेकप्रकारत्वात प्रा-ग्भवीयतत्तत्कर्मवासनावदेन ऋजुत्वकुाटेलत्वानश्चयासामर्थात्कुटिः लेऽपि ऋजुभ्रान्त्या प्रवर्तन्त इत्यर्थः। प्रस्थानभेदमेव दशयाति त्र-यी सांख्यं योगः पद्मगतिमतं वैष्णविमति । सर्वशास्त्रोपलक्षणमेतत् । तथाहि त्रयीशब्देन वेदत्रयवाचिना तदुपलक्षिता अष्टादश विद्या अप्यत्र विवक्षिताः। तत्र ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामेवदोऽधर्ववेद इति वेदाश्चत्वारः शिक्षा कल्पा व्याकरणं निरुक्तं छन्द्रो ज्योतिषमिति वे राङ्गानि षट्। पुराणानि न्यायो मीमांसा धर्मशास्त्राणि चेति च-त्वार्युपाङ्गानि । अत्रोपपुराणानामपि पुराणेष्वन्तर्भावः । वैशेषिकशाः स्त्रस्य न्याये, वेदान्तशास्त्रस्य मीमांसायाम्, महाभारतरामायणयोः सांख्यपातञ्जलपाद्युपतवैष्णवादीनां च धर्मशास्त्रोध्विति मिलित्वा चतुर्दश विद्याः। तथा चोक्तम् 'पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राङ्गिश्विः ताः । वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश' इति । एता एव चतु-भिरुपवेदैः सहिता अष्टादश विद्या भवन्ति । आयुर्वेदो धनुर्वेदो गान्धर्वे-वेदोऽर्थशास्त्रं चेति चत्वार उपवेदाः। ता एता अष्टादश विद्यास्त्रयी सां-ख्यमित्यनेनोपन्यस्ताः। अन्यथान्यु नताप्रसङ्गात्। सर्वेषां चास्तिकाना-मेतावन्त्येव शास्त्रप्रस्थानानि। अन्येषामप्येकदंशिनामेष्वेवान्तर्भावात्। नतु नास्तिकानामपि प्रस्थानान्तराणि सन्ति तेषामेते वनन्तर्भावा-

त्युचनाजवितुमुचितानि । तथाहि शून्यवोदनैकं प्रस्थानं माध्यमिः कानाम् । सनिकविक्षानमात्रवादेनापरं योगाचाराणाम् । क्षानाकारा-जुमेयस्विकवाद्यार्थवादेनापरं सौत्रान्तिकानाम् । प्रत्यक्षस्वलक्षण-अणिकवाद्यार्थवादेनापरं वैभाषिकानाम्। एवं सौगतानां प्रस्थानच-तुष्यम् । तथा देहात्मवादेनैकं प्रस्थानं चार्वाकाणाम् । एवं देहातिरि-क्तदेहपरिणामात्मवादेन द्वितीयं प्रस्थानं दिगम्बराणाम्। एवं मिलिः त्वा नास्तिक।नां षट् प्रस्थानानि तानि कस्मान्नोच्यन्ते । सत्यम्। वेद्बाह्यत्वासु तेषां म्लेच्छादिप्रस्थानवःपरम्परयापि पुरुषार्थानुप-योगित्वादुपेक्षणीयत्वमेव इह च साक्षाद्वा परम्परया वा पुमर्थोपयो-गिनां वेदोपकरणानांमव प्रस्थानानां भेदो दर्शितोऽतो न न्यूनत्वशः हायकाशः ॥ अथ संक्षेपेणैषां प्रस्थानानां स्वक्रपभेदहतुः प्रयाजनभेद उच्यते बालानां व्युत्पत्तये । तत्र धर्मब्रह्मप्रतिपादकमपौरुषयं प्रमाः णवाक्यं वेदः। स च मन्त्रब्राह्मणात्मकः। तत्र मन्त्रा अनुष्ठानकारण-भूतद्रध्यदेक्तात्रकाराकाः तेऽपि त्रिविधाः । ऋग्यज्ञः सामभेदात्। तत्र पादबद्धगायज्यादि च्छन्दे।विशिष्टा ऋचः 'अग्निमीले पुरोहितम्' इत्याद्याः। ता पव गीतिविशिष्टाः सामानि । तदुभयविलक्षणानि यः जूषि । 'अग्नीदग्नीन्विहर' इत्यादिसम्बोधनरूपनिगद्संज्ञामन्त्रा अपि यज्ञरन्तर्भृता एव । तदेव निरूपिता मन्त्राः ॥ ब्राह्मणमपि त्रिविधम्। विधिरूपम्, अर्थवाद्रूपम्, तदुभयविलक्षणं च। तत्र शब्दभावना विधिरिति भाष्टाः। नियोगो विधिरिति प्राभाकराः। इष्टसाधनता विधिरिति तार्किकादयः। सर्वे विधिरिप चतुर्विधः। उत्पत्त्यधिकाः रविनियोगमेदात्। तत्र (१)देवताकमस्वरूपमात्रबोधको विधिरुत्पः चिषिधः 'आम्रेयोऽष्टाकपालो भवति, इत्यादिः। सेति (२)कर्तब्यता-कस्य करणस्य यागादेः फलसम्बन्धबोधको विधिरधिकारविधिः 'द्रश्रृशमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत' इत्यादिः । अङ्गसम्बन्धबोधको विधिर्विनियोगविधिः 'ब्रीहिभियंजेत', 'सिमिघो यज्जित' इत्यादिः। साङ्गप्रधानकर्मप्रयोगैक्यवोधकः पूर्वविधित्रयमेलनरूपः प्रयोगविधिः। स च श्रीत इत्येके। कल्प्य इत्यपरे ॥ कर्मस्वरूपं च द्विविधम्। गुः णकर्म अर्थकर्म च।तत्र क्रतुकारकाण्याश्चित्य विहितं गुणकर्म। त-द्वि चतुर्विधम् । उत्यस्याप्तिविकृतिसंस्कृतिभेदात् तत्र 'वसन्ते बाः

⁽१) 'तब कर्मस्वकप' इति पाठः। (२) 'इतिकर्तव्यताकरणस्य' इति पाठः।

ह्मणोऽग्नीनादधीत', 'यूपं तक्षति' इत्यादावाधानतक्षणादिना संस्कान रविशेषविशिष्टाग्नियुपादेहत्पात्तः। 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः', 'गां पयो दोग्धि' इत्यादावध्ययनदोहनादिना विद्यमानस्यैव स्वाध्यायपयः-प्रभृतेः प्राप्तिः । 'सोममिभषुणोति', 'ब्रीहीनवहन्ति', 'आज्यं विला-पयति' इत्यादावभिषवावघातविलापनैः सोमादीनां विकारः । बीही-न्प्रोक्षति', 'पत्न्यवेक्षते' इत्यादौ प्रोक्षणावेक्षणादिभिर्वीह्यादिद्रव्याणां संस्कारः । एतद्यतुष्ट्यं चाङ्गमेव । तथा क्रतुकारकाण्यनाश्चित्य विहितमर्थकर्म । तच्च द्विविधम्। अङ्गं प्रधानं च। अन्यार्थमङ्गम्। अ-नन्यार्थं प्रधानम् । अङ्गमपि द्विविधं संनिपत्योपकारकमारादुपकारकं च । तत्र प्रधानस्वरूपनिर्वाहकं प्रथमं यथाऽवहननप्रोक्षणादि फलोपः कारि । द्वितीयं यथा प्रयाजादि । एवं संपूर्णाङ्गसंयुक्तो विधिः प्रक-तिः। विकलाङ्गसंयुक्तो विधिर्विकृतिः। तदुभयविलक्षणो विधिर्द्वी-होमः। एवमन्यद्प्यूह्मम् । तदेवं निरूपितो विधिमागः। प्राशस्त्यः निन्दान्यतरलक्षणया विधिशेषभृतं वाक्यमर्थवादः। स च त्रिविधः। गुणवादोऽनुवादे। भूतार्थवादश्चेति । तत्र प्रमाणान्तरविरुद्धार्थबोध-को गुणवादः 'आदित्यो यूपः' इत्यादिः । प्रमाणान्तरप्राप्तार्थवेष्यको ऽनुवादः 'अग्निर्हिमस्य भेषजम्' इत्यादिः। प्रमाणान्तरविरोधतत्प्रा-तिरहितार्थवोधको भूतार्थवादः 'इन्द्रो वृत्राय वज्रमुद्यच्छत्' इत्या-दिः । तदुक्तम्-'विरोधे गुणवादः स्यादनुवादोऽवधारिते । भूतार्थः वादस्तद्धानाद्रथेवादास्त्रिया मतः' इति । तत्र त्रिविधानामप्यर्थवादा-नां विधिस्तुतिपरत्वे समानेऽपि भूतार्थवादानां (१)स्वतः प्रामाण्य-म् । देवताधिकरणन्यायात् । अवाधिताकातार्थकापकत्वं हि प्राप्ता-ण्यम् । तञ्च बाधितविषयत्वाज्ञापकत्वाच न गुणवादानुवादयोः । भूतार्थवादस्य तु स्वार्थे तात्प्यरहितस्याप्योत्सर्गिकं प्राप्ताण्यं न वि हुन्यते । तदेवं निक्रिपतोऽर्थवादभागः । विध्यर्थवादोमयविलक्षणं तु वेदान्तवाक्यम् । तच्चाज्ञातज्ञापकत्वेऽप्यनुष्ठानाप्रतिपाद्कस्याच वि धिः। स्वतःपुरुषार्थपरमानन्दश्चानात्मकब्रह्मणि खार्थे उपक्रमोपसंहाः रादिषड्विधतात्पर्यालिङ्गवत्तया स्वतः प्रमाणभूतं सर्वानिष विभीन-न्तः करणशुद्धिद्वारा स्वशेषतामापादयदन्यशेषत्वाभावाच्य नार्थः

⁽१) 'स्वार्थेडिप' इति पाठः।

षादः तस्मादुभयविलक्षणमेव वेदान्तवाक्यम्। तच्च काचेद्रशात बापकत्वमात्रेण विधिरिति व्यपदिइयते । विधिपदराहितमपि प्रमा णवाक्यत्वेन च कचिद्भूतार्थवाद इति व्यविह्रयत इति न दोषः। तदेवं त्रिविधं निरूपितं बाह्मणम् ॥ एवं च कर्मकाण्डब्रह्मकाण्डात्मः को वेदो धर्मार्थकाममोक्षहेतुः। स च प्रयोगत्रयेण यह्मनिर्वाहार्थम् ग्यज्ञः सामभेदेन भिन्नः। तत्र है। त्रप्रयोग ऋग्वेदेन आध्वर्यवप्रयोगो यर्जुर्वेदेन, औद्वात्रप्रयोगः सामवेदेन । ब्राह्मयजमानप्रयोगो त्वत्रैवाः न्तर्भृतौ । अथुर्ववंदस्तु यज्ञानुपयुक्तोऽपि शान्तिकपौष्टिकाभिचारि-कादिकमप्रतिपादकत्वेनात्यन्तविलक्षण एव । एवंच प्रवचनभेदात्यः तिबेदं भिन्ना भूयस्यः शाखाः । एवं च कर्मकाण्डे व्यापारभेदेऽपि(१) सर्वासां वेदशाखानामेकरूपकत्वमेव ब्रह्मकाण्डीमीत चतुर्णी वेदानां प्रयोजनभेदेन भेद उक्तः॥ अथाङ्गानामुच्यते। तत्र शिक्षाया उदा-त्तानुदात्तस्वरितहस्वदीर्घष्ठुतादिविशिष्टस्वरब्यञ्जनात्मकवर्णोच्चा-रणविशेषज्ञानं प्रयोजनम् । तद्भावे मन्त्राणामनर्थकफलत्वात् । तः था चोक्तम्-"मन्त्रो द्वीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्या प्रयुक्तो न तमः र्थमाहः। स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधाः त' इति । तत्र सर्ववेदसाधारणी शिक्ष । 'अथ शिक्षां प्रवक्ष्यामि' इत्या (२)दिनवसण्डात्मिका पाणिनिना प्रकाशिता । प्रतिवेदशाखं च भिः श्वरुपाः । प्रातिशाख्यसंज्ञिता अन्यैरेव मुनिभिः प्रदिशताः । एवं वै दिकपदसाधुत्वज्ञानेनोहादिकं व्याकरणस्य प्रयोजनम् । तच्च 'वृद्धि-रादैच्' इत्याद्यध्यायाष्ट्रकात्मकं महेरवरप्रसादेन भगवता पाणिनिन-व प्रकाशितम् । तत्र कात्यायनेन मुनिना पाणिनीयसुत्रेण वार्तिकं विरचितम् । तद्वद्वार्तिकोपरि च भगवता पतञ्जलिना महाभाष्यमाः रिचतम् । तदेति ज्ञिमुनिब्याकरणं वेदाङ्गमाहे इवरिमत्याख्यायते । की-मारादिव्याकरणानि तु न वदाङ्गानि किंतु लौकिकप्रयोगमात्रज्ञानाः र्थानीत्यवगन्तव्यम्। एवं शिक्षाव्याकरणाभ्यां वर्णोच्चारणे पदसाः धुत्वे च क्राते वैदिकमन्त्रपदानामर्थक्षानकाङ्कायां तद्र्थे भगवता याः स्केन 'समाम्रायः समाम्रातः (स ब्याख्यातव्यः)' इत्यादि त्रयोदः शाध्यायात्मकं निरुक्तमाराचितम् । तत्र च नामाख्यातनिपातोपसः सर्गभेदेन चतुर्विधं पदजातं निरूप्य वैदिकमन्त्रपदानामर्थः प्रदर्शिः

⁽१) 'सर्वात्मना' इति पाठः । (२) 'पञ्चखराडात्मिकां' इति पाठः ।

तः। मन्त्राणां चानुष्ठेयार्थप्रकाशनद्वारेणैव करणत्वात्, पदार्थक्काना-धीनःवाद्य वाक्यार्थञ्चानस्य मन्त्रस्थपदार्थञ्चानाय निरुक्तमबस्यमपे-क्षितम् । अन्यथानुष्ठानासंभवात् । सृण्येव जर्भरी तुर्फरीतृन इत्यादीः नामातिदुक्द्दाणां प्रकारान्तरेणार्थक्षानस्यासंभावनीयत्वाच्य। एवं नि-घण्ट्वादयोऽपि वैदिकद्रव्यदेवतात्मकपदार्थपर्यायशब्दात्मका निः रुकान्तर्भृता एव । तत्रापि निधण्ड्संब्रकः पञ्चाध्यायात्मको प्रन्थो भगवता यास्केनेव कृतः । अन्येप्यमरहेमचन्द्रादिप्रणीताः कोषाः सर्वे निघण्डुरूपत्वेन निरूक्तान्तर्गता दृष्ट्याः। एवमृद्धान्त्राणा पा दवद्धच्छन्दोविदेषविद्याप्तद्याने च निन्दाश्रवणाच्छन्देविदेशे षनिमित्तानुष्ठानविशेषविधानाच्च छन्दोक्कानाकाङ्कायां तत्प्रकाशः नाय 'धीश्रीस्त्रीम्' इत्याद्यष्टाध्यायात्मिका शन्दोविचितिर्भगवता पिङ्गलनागन विराचिता। तत्र 'अथ लौकिकम्' इत्यन्तनाध्यायत्र-येण गायञ्युष्णगनुष्टुःवृहतीपिङ्कित्रिष्टुःजगतीति सप्त छन्दांसि सर्वाणि सावान्तरभेदानि प्रसङ्गानिक्रिपतानि । 'अथ लौकिकम्' इत्यारभ्याध्यायपञ्चकेन पुराणेतिहासादाबुपयोगिनि लौकिकानि छ॰ भ्दांसि प्रसङ्गानिरूपितानि व्याकर्णे लौकिकपदानिरूपणवत् । एवं वै-दिककर्माङ्गदर्शादिकालज्ञानाय ज्योतिषं भगवतादित्येन गर्गादिभिध प्रणीतं बहुविधमेव । एवं शाखान्तरीयगुणोपसंहारेण वैदिकानुष्टान-कमविशेषज्ञानाय कल्पसूत्राणि। तानि च प्रयोगत्रयभेदान्निबिधानि। हौत्रप्रयोगप्रतिपादकान्याद्वलायनसांख्यायनादिप्रणीतानि आध्वयंबप्रयागप्रतिपादकानि बौधायनापस्तम्बकात्यायनादिप्रणीता-नि । औद्गात्रप्रयोगप्रातिपादकानि तु (१)लाट्यायनवाद्यायणादिभिः प्रणीतानि । एवं निरूपितः षण्णामङ्गानां प्रयोजनभदः चतुर्णामुपाङ्गानामधुनोच्यते । तत्र सर्गप्रतिसर्गवंशमन्वन्तरवंशाः नचरितप्रतिपादकानि भगवता बादरायणेन कृतानि पुराणानि। तानि च ब्राह्म पाद्मं वैष्णवं दीवं भागवतं नारदीयं मार्कण्डेयं आयेयं भविष्यं बहावैवर्त लेक्षं वाराहं स्कान्दं वामनं कौर्म मात्स्यं गारुडं ब्रह्माण्डं चेत्यष्टादश । एवमुपपुराणान्यप्यनेकप्रकाराणि द्रष्ट-व्यानि ॥ न्याय आन्वीक्षिकी पञ्चाध्यायी गौतमेन प्रणीता । प्रमाण-

⁽१) 'लाद्यायनदाह्यायणादिभिः' इति पाठः।

प्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्कानिर्णयवाद्जलपवितण्<mark>डाः</mark> <mark>हेत्साभासच्छलजातिनिष्रहस्थानारुयानां</mark> षोडशपदार्थानामुदेशलक्षर णपरीक्षाभिस्तत्त्वक्षानं तस्याः प्रयोजनम्। एवं दशाध्यायं वैशेषिकः शास्त्रं कणादेन प्रणीतम् । द्रव्यगुणकर्मसामान्याविशेषसमवायानां प्रकारं भावपदार्थानामभावसप्तमानां साधम्यवैधम्याभ्यां ब्यु-स्पादने तस्य प्रयोजनम् । एतद्पि न्यायपदेनोक्तम् ॥ एवं मीमांसापि द्विविधा। कर्ममीमांसा शारीरकमीमांसा च। तत्र द्वादशाध्यायी कर्ममीमांसा 'अथातो धर्मजिज्ञासा' इत्यादि 'अन्वाहार्ये च दर्शनात्' इत्यन्ता भगवता जैमिनिना प्रणीता । तत्र धर्मप्रमाणं १, धर्मभेदाभेदौर, होषशेषिभावः ३, ऋत्वर्धपुरुषार्थभेदेन प्रयुक्तिविशेषः ४, श्रुस्यर्थ-पाठनादिक्रमभेदः ५, अधिकारिवशेषः ६, सामान्यातिदेशः ७, विशेषातिदेशः ८, ऊहः ९, बाधः १०, तन्त्रं ११, प्रसङ्गश्च १२, इति क्रमेण द्वाद्शानामध्यायानामधीः। तथा च संकर्षणकाण्डम-प्यभ्यायचतुष्ट्यात्मकं जैमिनिना प्रणीतम् । तच्च देवताकाण्डसंज्ञया प्रसिद्धमप्युपासनाख्यकर्मप्रतिपादकत्वात्कर्ममीमांसान्तर्गतमेव ॥ त-था चतुरध्यायी शारीरकमीमांसा 'अथातो ब्रह्मजिश्वासा' इत्यादिः अमावृत्तिः शब्दात् इत्यन्ता जीवब्रह्मैकत्वसाक्षात्कारहेतुश्रवणान ख्याविचारप्रतिपादकान्न्यायानुपदर्शयन्ती भगवता बादरायणेन क्र-ता। तत्र सर्वेषामि वेदान्तवाक्यानां साक्षात्परम्परया वा प्रत्य-गभिन्नाद्वितीये ब्रह्मणि तात्पर्यमिति समन्वयः प्रथमाध्यायेन प्रद-र्शितः । तत्र च प्रथमपादे स्पष्टब्रह्मालिङ्गयुक्तानि वाक्यानि विचारिः तानि द्वितीयपादे त्वस्पष्टब्रह्मलिङ्गयुक्तान्युपास्यब्रह्मविषयाणि। तुः तीयपादे र स्पष्ट ब्रह्मालिङ्गानि प्रायशो सेयब्रह्माविषयाणि । एवं पाद्य-येण वाक्यविचारः समापितः। चतुर्थपादे तु प्रधानविषयत्वेन सं-दिश्चमानान्यव्यक्ताजादिपदानि चिन्तितानि ॥ एवं चेदान्तानामद्वये ब्रह्मणि सिद्धे समन्वये तत्र संम्भावितस्मृतितर्कादिविरोधमाराङ्क्य तत्पः रिहारः क्रियत इत्यविरोधो द्वितीयाभ्यायेन दर्शितः। तत्राद्यपादे सांख्ययोगकाणादादिस्मृतिभिः सांख्यादिप्रयुक्तैस्तर्केश्च विरोधो वे दान्तसमन्वयस्य परिद्वतः । द्वितीये पादे सांख्यादिमतानां दुष्टत्वं प्रतिपादितं, स्वपक्षस्थापनपरपक्षनिराकरणरूपपक्षद्वयात्मकत्वाद्विः चारस्य । तृतीये पादे महाभूतसृष्ट्यादिश्वतीनां परस्परविरोधः पूर्वः

मांगन परिद्वतः । उत्तरभागेन तु जीवविषयाणाम् । चतुर्थपादे इन्द्रियादिविषयश्चतीनां विरोधपरिहारः॥ तृतीयाध्याये साधनिन कपणम् । तत्र प्रथमपादे जीवस्य परलोकगमननिकपणेन वैराग्यं नि-कपितम् । द्वितीयपादे पूर्वभागेन त्वंपदार्थः शोधितः । उत्तरभागेन च तत्पदार्थः । तृतीयपादे निर्गुणे ब्रह्मणि नानाशास्त्रापठितः पुनर-कपदोपसंहारः कृतः। प्रसङ्गाच सगुणविद्यासु शाखान्तरीयगुणोप-संद्वाराज्यसंद्वारी निरूपिती। चतुर्थपादे निर्गुणब्रह्मविद्याया बहिर-क्रसाधनान्याश्रमधर्मयक्रदानादीनि, अन्तरङ्गसाधनानि शमदमनिदि-ध्यासनादीनि च निरूपितानि ॥ चतुर्थेऽध्याये सगुणनिर्गुणाविद्ययोः फलविशेषनिर्णयः कृतः। तत्र प्रथमपादे अवणाद्यावृत्त्या निर्गुणं प्रह्म, उपासनावृत्त्या सगुणं वा ब्रह्म साक्षात्कृत्य जीवतः पापपुण्यालेपक क्षणा जीवन्मुकिराभिहिता । द्वितीयपादे म्रियमाणस्योत्कान्तिप्रकार-भिन्तितः। तृतीयपादे सगुणब्रह्मविदो मृतस्योत्तरमार्गोऽभिहितः। चतुर्थपादे पूर्वभागेन निर्गुणब्रह्मविदो विदेहकैवल्यप्राप्तिरुका। उत्त-रभागेन सगुणब्रह्मविदो ब्रह्मलोके स्थितिरुक्तेति । इदमेव सर्वशा-स्त्राणां मूर्धन्यं, शास्त्रान्तरं सर्वमस्यैव शेषभूतमितीदमेव मुमुक्षुमि रादरणीयं श्रीदांकर्भगवत्पादोदितप्रकारेणेति रहस्यम् ॥ एवं धर्मः शास्त्राणि मनुयाश्चवल्क्यविष्णुयमाङ्किरोवसिष्ठदक्षसंवर्तशातातपप-राशरगौतमशङ्कलिखितहारीतापस्तम्बेशनोव्यासकात्यायनबृहस्प-तिदेवलनारदपैठीनसिप्रभृतिभिः कृतानि वर्णाश्रमधर्मविशेषाणां विमा-गेन प्रतिपादकानि । एवं व्यासकृतं महाभारतं, वाल्मीकिकृतं रामा यणं च धर्मशास्त्र पवान्तर्भृतं स्पष्टमितिहासत्वेन प्रसिद्धम् । सांस्थाः दीनां धर्मशास्त्रान्तर्भावे पिद्द स्वशब्देनैव निर्देशात्पृथगेव संगतियाः ह्या । अय वेदचतुष्टयक्रमेण चत्वार उपवेदाः । तत्रायु**र्वेदस्याष्टी** स्थानानि भवन्ति सूत्रं शारीरमैन्द्रियं चिकित्सा निदानं विमानं क-ल्पः सिद्धिश्चेति । ब्रह्मप्रजापत्यदिवधन्वन्तरीन्द्रभरद्वाजात्रेयाप्निवे-इयादिभिरुपदिष्टश्चरकेण संक्षिप्तः। तत्रैव सुश्रुतेन पञ्चस्थानात्मकं प्रस्थानान्तरं कृतम्। एवं बाग्भटाविभिरपि बहुधेति न शास्त्रमेदः॥ कामशास्त्रमप्यायुर्वेदान्तर्गतमेव । सुश्रुतेन वाजीकरणास्यकामशाः स्त्राभिधानात् । तत्र वात्स्यायनेन पञ्चाध्यायात्मकं कामशासं प्रणीत-म् । तस्य च विषयवैराग्यमेव प्रयोजनं, शास्त्रोद्दीपितमार्गेणापि वि-

पयमोगे दुःसमात्रपर्यवसानात् । चिकित्साशास्त्रस्य च रोगतत्साः धनरोगनिवृत्तितत्साधनज्ञानं प्रयोजनम् ॥ एवं धनुर्वेदः पाद्चतुष्ट-यात्मको विश्वामित्रप्रणीतः। तत्र प्रथमो दीक्षापादः । द्वितीयः सं-प्रहपादः । तृतीयः सिद्धिपादः । चतुर्थः प्रयोगपादः । तत्र प्रथमपा-दे धनुरुक्षणमधिकारिनिरूपणं च कृतम्। तत्र धनुःशब्दश्चापे रू-होऽपि चतुर्विधायुधवाची वर्तते । तच्च चतुर्विधं मुक्तं अमुक्तं मुः कामुकं यन्त्रमुकं च। तत्र मुकं चक्रादि, अमुकं खड्गादि, मुकामुकं शक्यावान्तरभेदादि । यन्त्रमुक्तं शरादि । तत्र मुक्तमस्त्रामित्युच्यते । अमुक्तं शस्त्रमित्युच्यते । तद्गि ब्राह्मवैष्णवपाशुपतप्राजापत्याग्नेया-दिभेदादनेकविधम्। एवं साधिदैवतषु समन्त्रकेषु चतुर्विधायुधेषु येषामधिकारः क्षत्रियकुमाराणां तदनुयायिनां च ते सर्वे चतुर्विधाः पदातिरथगजतुरगारूढाः दीक्षामिषेकराकुनमङ्गलकरणादिक सर्वमिप प्रथमपादे निरूपितम् । सर्वेषां रास्त्रविशेषाणामाचार्यस्य च लक्षणपूर्वकं संग्रहणप्रकारा दर्शितः द्वितीय पादे । गुरुसंप्रदाय-सिद्धानां शस्त्रविशेषाणां पुनः पुनरभ्यासो मन्त्रदेवतासिद्धिकरणः मपि निरूपितं तृतीयपादे । एवं देवतार्चनाभ्यासादिभिः सिद्धानामः स्त्राविशेषाणां प्रयोगश्चतुर्थपादे निरूपितः । क्षत्रियाणां युद्धं दुष्टदः स्युचौरादिभ्यः प्रजापालनं च धनुर्वेदस्य प्रयोजनम्। एवं च ब्रह्म-प्राजापत्यादिक्रमेण विश्वामित्रप्रणीतं धनुर्वेदशास्त्रम् ॥ एवं गान्धर्ववे-दशास्त्रं भरतेन प्रणीतम् । तत्र मृत्यगीतवाद्यभेदेन बहुविधोऽर्थः प्रपः श्चितः ॥ देवताराधननिर्विकल्पकसमाध्यादिसिद्धिश्च गान्धर्ववेदस्य प्रयोजनम्। एवमर्थशास्त्रं च बहुविधं नीतिशास्त्रमश्वशास्त्रं गजशाः सं शिल्पशास्त्रं सूपकारशास्त्रं चतुःषिष्ठकलाशास्त्रं चेति। ताश्चतुः षष्टिकलाः देवागमोक्ताः-गीतम् १, वाद्यम् १, नृत्यम् ३, नाट्यम् ४, आलेख्यम् ५, विशेषकच्छेद्यम् ६, तण्डुलकुसुमबलिविकाराः ७, पुः ष्पास्तरणम् ८, दशनवसनाङ्गरागाः २, मणिभूमिकाकम १०, शयनः रचनम् ११, उद्कवाद्यम् १२, उद्कधातः वादः १३, अद्भुतद्शीः नवेदिता १४, मालाग्रथनकल्पः १५, शेखरापीडयोजनम् १६, नेप थ्ययोगः १७, कर्णपत्रभङ्गाः १८, गन्धयुक्तिः १९, भूषणयोजनम् २०, इन्द्रजालम् २१, कौचुमारयोगाः २२, हस्तलाघवम् २३, चित्रशाकाः पूपमक्तविकारिक्रयाः २४, पानकरसरागासवयोजनम् २५, सुचीवाः

पकर्म २६, सूत्रकीडा २७, वाणाडमरुकवाद्यानि २८, प्रहेलिकाप्रति-मालाः २९, दुर्वञ्चकयोगाः ३०, पुस्तकवाचनम् ३१, नाटिकाख्याः यिकाद्श्वनम् ३२, काव्यसमस्यापूरणम् ३३, पट्टिकावेत्रबाणविकल्पाः ३४, तर्कुकर्माणि ३५, तक्षणम् ३६, वास्तुविद्या ३७, रूप्यरत्नपरीक्षा ३८, धातुवादः ३९, माणिरागज्ञानम् ४०, आकरज्ञानम् ४१, वृक्षायुर्वे दयोगाः ४२, मेषकुक्कुटलावकयुद्धविधिः ४३, शुकसारिकाप्रलाप-नम् ४४, उत्सादनम् ४५, केशमार्जनकीशालम् ४६, अक्षरमुष्टिकाकः थनम् ४७, म्लेखितकविकल्पाः ४८, देशभाषाज्ञानम् ४९, पुष्पशकटि-कानिमित्तक्षानम् ५०, यन्त्रमातृका ५१, धरणमातृका ५२, असंवा-च्यसंपाट्यम् मानसीकाव्यक्रियाविकल्पाः ५३, छलितकयोगाः ५४, अभिधानके। राछन्देश्चानम् ५५, क्रियाविकल्पाः ५६, छितविकल्पाः ५७, वस्त्रगापनानि ५८, यूतविशेषः ५९, आकर्षकीडा ६०, बालकी. डनकानि ६१, वैनायकीविद्याज्ञानम् ६२, वैजयिविद्याज्ञानम् ६३, वैता-लिकीविद्याद्यानम् ६४, इति चतुः षष्टिकलाः नानामुनिभिः प्रणीतम्। तस्य च सर्वस्य लैकिकालीकिकतत्तत्प्रयोजनभेदो द्रष्टव्यः। एवमधा-दशविद्यास्त्रयीशब्देनोकाः ॥ तथा सांख्यशास्त्रं कपिलेन भगवता प्रणीतम् । तत्र त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थं इत्याद्भिषड-ध्यायाः। तत्र प्रथमेऽध्याये विषया निक्रिपताः, द्वितीयेऽध्याये प्रधा-भकार्याणि, तृतीयेऽध्याये विषयवैराग्यम्, चतुर्थेऽध्याये विरक्तानां पिङ्गलाकुर(१)रादीनामाख्यायिकाः, पञ्चमेऽध्याये परपक्षनिर्ज्ञयः, षष्ठे सर्वार्थसंक्षेपः । प्रकृतिपुरुषविवेकज्ञानं सांख्यशास्त्रस्य प्रयोजनम् ॥ तथा योगशास्त्रं भगवता पतञ्जलिना प्रणीतम् 'अथ योगानुशा-सनम्, इत्यादिपादचतुष्टयात्मकम् । तत्र प्रथमे पादे चित्तवृत्तिनिरोः धात्मकं समाधिवराग्यरूपं च तत्साधनं निरूपितम् । द्वितीय पादे विक्षिप्तचित्तस्यापि समाधिसिद्धर्थे यमनियमासनप्राणायांमप्रत्याहाः रधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि निरूपितानि । तृतीयपादे योगिः विभूतयः। चपुर्थपदि कैवल्यमिति। तस्य च विजातीयप्रत्ययिनः रोधद्वारेण निर्दिध्यासनसिद्धिः प्रयोजनम्॥ तथा पशुपतिमतं पा-श्रुपतं शास्त्रं भगवता पशुपतिना पशुपाशविमोक्षणाय 'अथातः पाः

⁽१) 'कुमारादीनां' इति पाठः।

शुपतयोगविधि व्याख्यास्यामः' इत्यादिपञ्चाध्यायं विरचितम्। तत्राध्यायपञ्चकेनापि कार्यरूपो जीवः पद्युः, कारण पद्युपतिरीक्ष्वरः, योगः पशुपतौ चित्तसमाधानं, विधिमस्मना त्रिषयणस्नानादिनिंहः पितः। दुःखान्तसंश्वको मोक्षश्चास्य प्रयोजनम्। एते एव कार्यकार-णयोगविधिदुःखान्ता इत्याख्यायन्ते ॥ एवं शैवं मन्त्रशास्त्रमपि पाः शुपतशास्त्रान्तर्गतमेव द्रष्टव्यम्॥ एवं च वैष्णवनारदादिभिः कृतं पञ्चरात्रम् । तत्र वासुदेवसंकर्षणप्रद्यम्नानिरुद्धाश्चत्वारः पदार्था निरू पिताः। भगवान्वासुदेवः परमेश्वरः सर्वकारणं तस्मादुत्पद्यते संक-र्षणाख्यो जीवस्तस्मान्मनः प्रद्यम्नस्तस्मादनिरुद्धोऽहंकारः। सर्वे चैते भगवतो वासुदेवस्यवांशभूतास्तदभिन्ना एवेति तस्य वासुदेवः स्य मनोवाकायवृत्तिाभिराराधनं कृतवा कृतकृत्यो भवतीत्यादि च निः कपितम्। एवं वैष्णवमन्त्रदास्त्रं परिमित ? मपि पञ्चरात्रमध्ये प्रत्ते भूतम् । वामागमादिशास्त्रं तु वेदबाह्यमेव ॥ तदेवं दर्शितः प्रस्थानः भेदः। सर्वेषां संक्षेपेण त्रिविध एव प्रस्थानभेदः। तत्रारम्भवाद एकः, परिणामवादो द्वितीयः, विवर्तवादस्तृतीयः। पार्थिवाप्यतेजसवायवी-याश्चतुर्विधाः परमाणवो द्यणुकादिक्रमेण ब्रह्माण्डपर्यन्तं जगदारभ-न्ते। असदेव कार्यकारणव्यापारादुत्पद्यत इति प्रथमः तार्किकाणां भीमांसकानां च । सत्वरजस्तमोगुणात्मकप्रधानमेव महदहंकारा-विक्रमेण जगदाकारेण परिणमते, पूर्वमपि सुक्ष्मरूपेण सदेव कार्य कारणव्यापारेणाभिव्यज्यत इति द्वितीयः पक्षः सांख्ययोगपाशुपताः नां, ब्रह्मणः परिणामो जगदिति वैष्णवानामपि। स्वप्रकाशपरमानः न्दाद्वितीयं ब्रह्म स्वमायावशान्मिथ्येव जगदाकारेण कल्प्यत इति त्तीयः पक्षो ब्रह्मवादिनाम्। सर्वेषां च प्रस्थानकर्तृणां मुनीनां विवर्तवाद्पर्यवसानेनाद्वितीये परमेश्वर एव वेदान्तप्रतिपाद्ये तात्पर्यम् । नहि ते मुनयो भ्रान्ताः सर्वेश्वत्वात्तेषां , किंतु बहिर्विषयप्रवणानामापाततः परमपुरुषार्थे प्रवेशो न भवतीति ना-स्तिक्यनिवारणाय तैः प्रकारभेदाः प्रदर्शिताः। तत्र तेषां तात्पर्यः मबुद्धा वेद्विरुद्धेऽप्यर्थे तेषां तात्पर्यमुत्रेक्षमाणास्तत्तन्मतमेवोपादे-यत्वेन गृह्वन्तो जना ऋजुकुटिलनानापथजुषो भवन्तीति न सर्वेषामु-जुमार्ग एव प्रवेशो, नच वि(१)पर्ययेऽपि परमेश्वराप्राप्तिरन्तः करणः श्चिवशेन पश्चादन्तुमार्गाश्रयणादेवेत्यर्थः । हरिपक्षेऽप्येवम् ॥ ७॥

्री संस्कृत टीका ी

अधुना नास्तिकादिमतं खण्डयित्वा ईश्वरसत्तासिद्धिविधाना त्परमास्तिकाना मवान्तरमतं प्रपञ्चयति । (त्रयी) ऋग्यज्जरसा-मोक्तं श्रोतमतं (साङ्क्ष्यं) प्रकृतिपुरुषवादि कापिलशास्त्रं पञ्चितं शतितत्त्वोपलिक्षतं वा (योगः) पातञ्जलदर्शनोक्तसाधनरूपो यो-गिकयाभ्यासः (पशुपर्तिमतं) हैावागमोक्तसिद्धान्तानुसारि पाशुः पतं मतं (वैष्णवं) नारदपञ्चरात्रागमादिकथितं विष्णुदैवतं मतं (इति) अनेन विधिना(प्रस्थाने) गमनीय मार्गे (प्रभिन्ने) बहुबि-धत्वं गते सति । अहम्मन्या स्तत्तद्रुष्टायिनः एवं वद्नित यत् (इदं) मदुक्तमेव (परं) सर्वोत्कृष्टं तत्त्वमस्ति । अस्मात्परं ना-स्ति किञ्चिदिति च (अदः) एतदेव (पथ्यं) सेवनीयं, ब्राह्मं वा। पथिन शब्दात्-"धर्मपथ्यर्थन्यायादनपेते-४। ४। ९२ - इत्यतः अनपेतार्थे यत्। (इति च) इत्येवं प्रकारेण (हवीनां) इच्छानां (बैचिज्यात्) भिन्नरूपत्वात् (ऋजुकुटिलनानाएथजुषां) सरलव-क्रादिभेदाद नेकविधमार्गगामिनां, स्वेच्छानुरूपभ्रमणकारिणां (नृणां) मनुष्याणां, देहिना मेवेति तात्पर्यार्थः (पयसां) सर्वेषां जलानां (अ-र्णव इव) समुद्रसमानः (त्वं) एव (एकः) अद्वितीयः (गम्यः) गमनाईः (असि) विद्यसे।

तथा चोक्तमि गीतायाम्-"यथा नदीनां वहवोऽम्बुवेगाः, समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ती-"ति (२८ अ० ११) एवमेवोक्तं मुन्ण्डकोपनिषदि च-"यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नाम्मक्षे विहाय। तथा विद्वान्नामक्ष्पादिमुक्तः, परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यमिति च ८॥ ३ सु० २ ख०॥"

इह "ऋजुकुटिले"-तिपदं रुचि-नृ-पयस्सु सर्वत्र योजनीयं अथवा कूर्मपुराणोत्तरार्धस्थेदवरगीतायां मध्येवमुक्तं यथाप्ये "यथा नदीनदा लोके सागरेणै कतां ययुः।

तद्व दात्मा क्षरेणा सौ, निष्कलेनै कतां व्रजे—"दिति भावश्च— अ०२। श्रो० ३८। सार्थकत्वात्। उदकानां समुद्र इव सर्वेषां श्रौ तारिमतानां प्राप्यस्थानं त्वमेवा सीति वै प्रकटितम्। यथा खो-कमपि— "एक मेव परं तत्त्व, मभिन्नं परमार्थतः । तदेव रुचिवैचित्र्या, न्नानात्वं समुपागतम् ॥" पद्येनामुनैव-"रुचयो विचित्राः"-अथवा—"भिन्नरुचि हिं लो क"—इत्यादिरूपा लोकोक्तिः प्रसिद्धेति क्षेयम् ॥ ७॥

% संस्कृतपद्यानुवादः 3%

वेदत्रयी प्रकृतिपूरुषवादि साङ्ख्यं,योगः पतञ्जालेमुने रथ वैष्णवं वा॥ ख्यातं महापद्यपते मत मत्र लोके, भिन्नं वदन्ति सुखदं निजमार्ग मेव॥ प्रभो ! रुचीनां हि विचित्रतावशा, दनेकवकर्जुपथप्रचारिणाम् नृणां त्वभेको गमनीय ईश्वरो, । यथा म्भसा मर्णव एति गम्यताम्॥॥॥

्रि: भाषा टीका ३६०

अब नास्तिकादिकोंके मतोंका यथार्थ रीति से खण्डन करके ईश्वरकी सत्ताको भलीभांतिसे सिद्ध करदेने पर ईश्वरवादी आस्तिकोंके अवांतर मतोंका मंडन करके ऐक्य दिखाते हैं— (त्रयी) ऋग्वेद, यजुर्वेद, एवं सामवेद-इन तीनों वेदोंका कहा हुआ श्रोत मत, (साङ्ख्य)किपलमुनिका कथित प्रकृति पुरुषवादी सांख्य शास्त्र का मत, (योगः) पतंजलि मुनिका भाषित योग शास्त्रकां मत, (पशुपतिमतं) शैवागम-इत्यादिमें अभिहित पाशुपत मत, एवं (वैष्णवं) नारदपंचरात्रादि ग्रंथोंमें उक्त वैष्णव मत (इति) इस प्रकारसे (प्रस्थाने) गमनयोग्य मार्गके (प्रभिन्ने) बहुत विधींके होनेपर, अपने अपने मतके अनुसार लोग यह कहते हैं कि (इदं परं) यही मेरा कहा हुआ मत सबसे उत्तम है (अदः पथ्यं) यही सेवन करनेके योग्य है, अथवा मार्गके उपयुक्त है (इति च) इस रीतिसे (क्वीनां वैचित्र्यात्) अपनी अपनी क्विः योंकी विचित्रतासे (ऋजुकुटिलनानापथजुषां) सीधे और टेढे अनेकिविधके मार्गको धरकर चलने वाले (नृणां) मनुष्योंके किम्बा

देहधारियोंके (पयसां अर्णव इव) सीध टेढे मार्गगामी-जनोंके [गमनीय] समुद्रके समान (त्वं एकः गम्यः असि) आप अकेले पहुँच नेकेस्थान हैं—अर्थात् जैसे सीधे अथवा टेढे वहनेवाले सबी जल समुद्रमें पहुँचते हैं, वैसेही इन सब श्रोत सांख्य योगा-दिक मतोंके प्राप्य स्थान एक मात्र आपही हैं जैसा कि कहा है— ''आकाशात्पातितं तोयं यथा गच्छित सागरम्"

अथवा-"सबकर मत खगनायक एहा।

भजिय राम पद करि इढ नेहा॥ (तु० रा०)"

मधुसूदनी टीकामें इस स्ठोक पर बहुत बिस्तार किया गया है – वेही बातें संक्षिप्त रूपसे उद्धृत करदी जाती हैं।

"त्रयी-शब्दसे तीनों वेद और उनसे उपलक्षित विद्याओं कोभी समझना चाहिए-उसमें-ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्व वेद ४ वेद हैं। शिक्षा, कल्प, ब्याकरण, निरुक्त छंद ज्योतिष ६ वेदांगहैं। पुराण, न्याय, मीमांसा, धर्मशास्त्र ४ उपांग हैं। इनमें उपप्राणोंको भी पुराणों हीके अन्तर्गत समझना चाहिए-तथा च वैशेषिक शास्त्र न्यायमें, वेदांतशास्त्र मीमांसामें, महाभारत, रामा-यण, सांख्य, योग, दैव, वैष्णवा-दिकोंको धर्मशास्त्रों ही में मिला देनेसे १४ विद्यायें होती हें-इनके अतिरिक्त चार उपवेद हैं-आयु-र्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद और अर्थ शास्त्र-इन सबके जोडदेनेसे १८ विद्यार्थे होती हैं-समस्त आस्तिकोंके इतने ही शास्त्र मार्ग हैं और भी जो एकदेशीयमत हैं वे सबभी इही के अन्तर्गत हैं। यहांपर यह इाका है कि-माध्यमिक १ योगाचार २ सीत्रान्तिक ३ वेभाषिक ४ चार्वाक ५ दिगम्बर ६ ये छ जो नास्तिकोंके मत भेद हैं इनका भी क्यों नहीं उल्लेख करिया-? तो इसका समाधान यह है कि-वैदिक मतके विरुद्ध होनेसे म्लेच्छादिकोंके मतानुसार ये सब चारों पुरुवार्थीके उपयोगी नहीं हैं-इस कारणसे इनको छोड देनाही उचित है। अव संक्षेपसे पूर्वोक्त प्रस्थानोंका थोडासा विवरण भी लिख दियाजाता है। धर्म ब्रह्म प्रतिपादक अपौरुषेय प्रमाण वाक्य वेद है उसमें मन्त्र और ब्राह्मणभाग दो भेद हैं। उनमें उक्त-तीनोंही वेदोंमें विथरे रहनेसे मन्त्रके तीन भेद होते हैं। और ब्राह्मणके भी तीन भेद हैं, अर्थात विविक्त, अर्थवाद्कप एवं उभय

विलक्षण। उसमें उत्पत्ति अधिकार विनियोग, और प्रयोग-के भेदसे विधि चारप्रकारके हैं। इनमें प्रयोगके भी दो भेद हैं यथा, गुणकर्म और अर्थकर्म उनमें गुणकर्म-उत्पत्ति, आप्ति, और संस्कृति के भेदसे चार प्रकारका होता है। योही अर्थकर्म भी दो प्रकारके हैं, एकतो अङ्ग, और दूसरा प्रधान, उसमें अङ्ग भी दो प्रकारके हैं, यथा संनिपत्योपकारक तथा आरादुपकारक इस भांतिसे विधिभागका निरूपण है । अब अर्थवादका भेद कहते हैं-वह तीन प्रकारका है अर्थात् गुणवाद अनुवाद और भूतार्थवाद । इस रीतिसे विधि और अर्थवाद दोनोंहीसे विलक्षण होनेसे उभय विलक्षण वेदांतवाक्य है-इस प्रकारसे त्रिविध ब्राह्मण भी निरूपित हुआ। इनसव प्रकारोंसे कर्मकाण्ड तथा ब्रह्मकाण्डात्मक वेद ही धर्म अर्थ काम और मोक्षकां कारण है वह यज्ञादिकके निर्वा-हार्थ ही ऋग्, यजुः और सामके भेदसे भिन्न है, अर्थात् हीत्रप्रयोग ऋग्वेदसे, आध्वर्यव प्रयोग यजुर्वेदसे और औद्वात्रप्रयोग सामवेदस होता है। ब्राह्म और यजमान प्रयोग भी इसीके अन्तर्गत है। अथर्व वेद यद्यपि यक्षके उपयुक्त नहीं है, तथापि शांतिक, पौष्टिक, आभिचारिक, इत्यादि कर्मीके प्रतिपादक होनेसे चडा ही विलक्षण है। इस भांतिसे प्रवचनके भेद्से प्रतिवेदोंमें भिन्न भिन्न बहुतेरी शाखार्ये हैं। यद्यपि कर्मकांडमें व्यापारमेद होना सिद्ध है तथापि समस्त शाखाओंका एकरूपत्वही ब्रह्मकाण्ड है-इस प्रकारसे चारोंही वेदोंका प्रयोजनभेदसे भेद कहागया। अब अङ्गोंको कहते हैं। शिक्षाका उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, हस्व, दीर्घ, प्छत इत्यादिसे युक्त स्वर-और व्यंजनात्मक वर्णोंके उच्चारण विशेषका ज्ञान ही प्रयोजन है। क्योंकि इन सबके यथार्थ ज्ञान नहीं होनेसे मंत्रोंका अनर्थही फल होता है, जैसा कि कहा है-

"मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा, मिथ्या प्रयुक्तो न त मर्थ माह। स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति, यथेन्द्रशत्रुः स्वरतो ऽपराधात्॥" अर्थात् स्वरसेहीन अथवा वर्णसे हीन किं वा अशुद्ध प्रयोग किया गया मंत्र कदापि यथार्थ नहीं हो सकता—क्योंकि वह वचन-रुपी बज्ज होकर यजमानहींको नाश करडालता है जैसे इन्द्रशत्रु (दुवासुर) स्वरहींके अपराध से स्वयं नष्ट होगया–यह शिक्षा मुनि

वरपाणिनि हीने प्रकाशित की है जोकि आजकल प्रचलित है-इ॰ सी प्रकारसे प्रत्येक वेदोंकी शाखाओं पर भिन्न भिन्न रूपके प्राति-शाख्य नामकी शिक्षार्थे अनेक मुनियों की वनाई हुई हैं। योंही वेद के पर्दोकी गुद्धता को जानलेनेके लिये व्याकरण शास्त्रका प्रयोजन है। जिसे भगघान् महेरवरके प्रसादसे उही महर्षि पाणिनिने आ-ठ अध्यायोंका सूत्रपाठ बनाया है जो अष्टाध्यायीके नाम से प्रसिद्धः है, उसीपर कात्यायन मुनि (वररु चि-जो पुष्पदन्तके अवतार मा-ने जाते हैं उहा) ने वार्तिक निर्माणिकया है उनपर ऋषिप्रवर पतंज-लिने महाभाष्यकी रचना की है-इन्ही तीनों मुनियों (मुनित्रय) के बनाये हुए व्याकरणको वेदाङ्ग अथवा माहेश्वरव्याकरणकहाजाता है इससे भिन्न जो दूसरे की भारादिव्याकरण हैं वे वेदाङ्ग नहीं हैं कि नत केवल लौकिक प्रयोगोंही के ज्ञानार्थ हैं-यह समझलेना चाहि प इस प्रकारसे शिक्षा और व्याकरणसे अक्षरीका उच्चारण पर्व पदींकी शुद्धताका ज्ञान होजाने पर वेदके मन्त्रपदींका अर्थ जाननेके लिये यास्कमुनिने तेरह अध्यायों में निरुक्तकी रचना की है। जिस-में पद समुहों को नाम, आख्यात, निपात और उपसर्गके भेदसे चार प्रकारका निरूपण करके वैदिक मन्त्रपर्दों का अर्थ दिखलाया है। क्यों कि जवलो मन्त्रके पदोंका अर्थज्ञान नहीं हो लेवे तवलों उसका अनुष्ठान करनाही सर्वथा असम्भव है, जैसे 'स्ण्येवजर्भ-री तुर्फरी तुन-" इत्यादि पदोंका अर्थ समझलेना किसी प्रकारसे सम्भव नहीं है-अत एव वैदिक मन्त्रपदोंके अर्थज्ञानके लिये निः रुक्त परमावश्यक है। योंही बेदोंके कथित द्रव्य-देवतात्मक पदार्थीं-के पर्याय शब्द रूप निघंदु इत्यादिकभी निरुक्तहीके अन्तर्भूत हैं। उसमें भी निघंदु नामक पांच अध्यायोंका ग्रंथ पूर्वोक्त यास्कमुनि-हीका प्रणीत है-और इसके अतिरिक्त अमरसिंह अथवा हेमचन्द्र इत्यादिके बनाये हुए कोष भी निघंदुके समहत्पहोनेसे निरुक्तहीके अन्तर्गत है। एवं च-ऋग्वेदके मन्त्र पादबद्ध क्षन्दोविशेषसे युक्त हैं और किसी किसी अनुष्ठानमें छन्दोविशेषहीका विधान किया गया है-अत एव छुन्दोंका जाननाभी आवश्यक हुआ, क्योंकि बिना उसके शानके कार्यकी हानि और निन्दा होती है। इसी लिये भगवान पिमलनागने आठ अध्यायोंमें सूत्रपाठ बनाया है, जो पि-

गलसूत्रके नामसे प्रसिद्ध है-उसके तीन अध्यायों में गायत्री, उर्धणक्, अनुष्दुप्, चृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप्, जगती इन सातों वैदिक छन्देंको अवातर भेदांके साथ सविस्तर वर्णन किया है, फिर पांच अध्यायोंमें पुराण-इतिहासादिकके उपयोगी लौकिक छन्दोंका वर्णन किया है। इस रीतिसे वैदिक कर्मोंके अंग दर्श [पौर्णमासी]-इत्यादि काल जाननेके लिये ज्योतिषभी आवश्यकहै-जिसे भगवान सूर्यनारायणने तथा गर्गादिक [१८] महर्षियोंने वद्धत प्रकारसे विरचाहै। योही भिन्न भिन्न शाखाके मन्त्रोंको मिलाकर वैदिक अनुष्ठानोंके विशेष कर्मोंको समझनेके लिए कल्पसूत्र घर्ने हैं। वे सब प्रयोगों के तीन भेद होनेसे तीन प्रकारके हैं-जिनमें होत्र-प्रयोगोंके लिए आइवलायन, सांख्यायन-इत्यादि महार्षियोंके निर्मित्त बौधायन, आपस्तम्ब, और कात्यायन-(#)इत्यादिके निर्मित्त बौधायन, आपस्तम्ब, और कात्यायन-(#)इत्यादिके निर्मित्त बौधायन, अपस्तम्ब, और कात्यायन-(#)इत्यादिके विर्मित्त हैं-एवं औद्वात्र-प्रयोगार्थ लाट्यायन, बीह्यायण आदिके विर्मित हैं-एवं औद्वात्र-प्रयोगार्थ लाट्यायन, बीह्यायण आदिके विर्मित सूत्र हैं। इस प्रकारसे छवो अंगोंका प्रयोजन तथा भेद निर्मित स्वयाया।

अब चारों उपांगोकाभी प्रयोजन और भेद कहा जाता है। भ-गवान कृष्णद्वैपायनने अष्टाद्दा पुराणोंको बनाया है जो सर्ग, प्र-तिसर्ग, वंदा, मन्वंतर, और वंदाानुचरितोंको प्रकट करते हैं-उन-

के नाम इसक्छोकसे जानने चाहिये।

''म द्वयं भ-द्वयं হौ वं, व त्रयं ब्र−त्रयं तथा । अ ना-प-लिङ्गकू-स्कानि, पुराणानि पृथक् पृथक् ॥"

१० ब्रह्माण्ड पुराण। १ मत्स्य पुराण। ११ ब्रह्मवैवर्त पुराण। २ मार्कण्डय-पुराण। १२ अग्नि पुराण। ३ भागवत पुराण। १३ नारद पुराण। ४ भविष्य पुराण। १४ पद्म पुराण। ५ शिवपुराण। १५ लिंग पुराण। ६ विष्णु पुराण। १६ गरुड पुराण ७ वाराह पुराण। १७ कूम पुराण। ८ वामन पुराण। १८ स्कन्दं पुराण। ९ ब्रह्म पुराण।

^(*) यह कौन कात्यायन हैं ? वररुचिही अथवा दूसरे कोई-

थोंही प्रायः अठारह उपपुराणभी हैं-जिनमें देवीभागवत, का-लिका पुराण, वायु पुराण, किंक पुराण, और साम्बपुराण-इत्या-दि हैं। न्याय आन्वोक्षिकी पंचाध्यायी गौतममुनिने बनाया है-जिसका प्रमाण १ प्रमेय २ संशय ३ प्रयोजन ४ दृष्टान्त ५ सिद्धा न्त ६ अवयव ७ तर्क ८ निर्णय ९ वाद १० जल्प ११ वितंडा १२ हे-त्वामास १३ छल १४ जाति १५ और निग्रहस्थान १६ नामक सो-लहा पदार्थीके उद्देश लक्षण एवं परीक्षासे तत्वक्षानका होनाही. प्रयोजन है । योंही दश अध्यायोंके वैशेषिक शास्त्रको कणादऋ-षिने निर्माण किया है-जिसका द्रव्य १ गुण २ कर्म ३ सामान्य ४ विशेष ५ समवाय ६ ये छ भाव पदार्थ और सांतवें अभाव ७ के साधर्य-वैधर्म्यसे ध्यत्पत्ति करनाही प्रयोजन है। यहभी न्यायही है। इसी भांति मीमांसाभी दो प्रकारकी हैं-एक तो कर्ममीमांसा भौर दूसरी द्वारीरकमीमांसा । उसमें भगवान् जैमिनिमुनिने बार-ह अध्यायकी कर्ममीमांसा वनायी है-जिसमें धर्मप्रमाण १ धर्मके भेद और अभेद २ दांषदोषिभाव ३ यक्षके लिये पुरुषार्थ भेदसे प्र. योग विशेष ४ वेदार्थ-पाठनादि क्रमभेद ५ अधिकार विशेष ६ सा-मान्यातिदेश ७ विशेषातिदेश ८ ऊह ९ बाध १० तंत्र ११ और प्रसंग १२-यही बारही अध्यायोंके प्रधान अर्थ हैं। तथाच संक-र्षणकाण्डमी चार अध्यायोंमें जैमिनिमुनिहीने निर्माण किया है। वह यद्यपि देवताकाण्डके नामसे प्रसिद्ध है पर उपासना नामक कर्मके प्रतिपादन करनेसे कर्ममीमांसाहिके अन्तर्गत है। पवं च चारही अध्यायेंकी शारीरकमीमांसा भगवान् बादरायण [वेद-व्यास] की वनाई हुई है-जो कि जीव और ब्रह्मके एकत्व साक्षा-त्कारके हेतु श्रवणाख्य विचारके प्रतिपादक न्यायोको दिखलाती है। उसके पहिले अध्यायमें समस्त वेदान्तके वाक्योंका साक्षात् वा परंपराद्वारा प्रत्यगभिन्न अद्वितीय ब्रह्ममें तात्पर्य्य लगाया है। योहीं दूसरे अध्यायमें वेंदान्त वाक्योंके अद्वितीय ब्रह्ममें सिद्धहो-जाने पर सम्भाबित स्मृति और तर्कादिकोंके विरोधकी शंका उ ठाकर उसका परिहार देकरके अविरोधको दिखाया है। फिर ती-सरे अध्यायमें साधननिरूपण किया है। एवं चौथे अध्यायमें स गुण और निर्गुण विद्याओं के फलविशेषका निर्णयकिया गया है।

वही सब शास्त्रोंका मस्तक है और दूसरे शास्त्र इसीके शेषभूत [बंबे धुँचे] हैं-यही शास्त्र भगवान शंकराचार्यके भाष्यानुसार समस्त्रमाक्षाभिलाषी लोगोंको आदरणीय है ॥ इसी प्रकारसे ध-र्मशास्त्राभिलाषी लोगोंको आदरणीय है ॥ इसी प्रकारसे ध-र्मशास्त्राको भी-मनु १ याञ्चवल्य २ विष्णु ३ यम ४ अंगिरा ५ व-र्सिष्ठ ६ दक्ष ७ संवर्त ८ शातातप ९ पराशर ५० गीतम ११ शंख १२ लिखित १३ हारीत १४ आपस्तम्ब १५ उशना १६ व्यास १७ कात्यायन १८ वृहस्पति १९ देवल २० नारद २१ पेठीनसि २२ इत्यादि महर्षियोने बनाये हैं-जो उन उनलोगोंकी स्मृतियां कही। जाती है। इन सबोंमें वर्णाश्रमके धमिवशेषोंका विभाग विस्तार पूर्वक कहागया हैं। योही व्यास-रचित महाभारत तथा महर्षि वाल्मीिकछतरामायण यद्यपि इतिहासके नामसे प्रसिद्ध है पर वास्तवमें धमिशास्त्रोहीके अन्तर्गत है । सांख्यादिकभी धमिशास्त्रोहिको अन्तर्गत है । सांख्यादिकभी धमिशास्त्रोहिको परनतु यहां पर उनका स्वयं निर्देश किया है अतएब वे सब पृथकही रक्खे जाते हैं।

अब चारों ही वेदों के चार उपवेदीं काभी यथाकम प्रयोजन भेद दिखाया जाता है-उसमें ऋग्वेद का उपवेद आयुर्वेद, यजुर्वेदका
धनुर्वेद, साम वेदका गान्ध्रवेदे, और अथवंवेदका अर्थशास्त्र
उपवेद है। जिसमें आयुर्वेदके आठ भेद हैं अर्थात् सूत्र १ शारीर
र पेन्द्रिय ३ चिकित्सा ४ निदान ५ विमान ६ कल्प ७ और सिद्धि ८
जिसके ब्रह्मा १ प्रजापति २ अत्रि ३ धन्वन्तिर ४ इन्द्र ५ भरद्वाज
६ दत्तात्रेय ७ और अग्निवेदय ८ इत्यादि कर्ता हैं-इही लोगोंके
उपदेशानुसार चरकमुनिने उसे संक्षिप्त किया है-योंही सुश्रुत
नेमी पांच स्थानों (भेदों) का दुसरा प्रस्थान रचा है-और वाग्भट्ट
प्रभृतिनेभी बहुत कुछ लिखा है, पर वह सब एकही विषय है
इस लिये शास्त्रमें कोई भेद नहीं है। कामशास्त्र भी आयुर्वेदहिके
अन्तर्गत है, क्योंकि सुश्रुतने वाजीकरण नामक कामशास्त्रको
लिखा है उसपर वात्स्यायन मुनिने पांच अध्यायों में काम शास्त्र*

^{*}कामसूत्रमें सात अधिकर्ण है-यथा-साधारण १ साप्रयोगिक २ कन्यासंप्रयुक्तंक भारयोधिकारिक ४ पारदारिक ५ वैशिक ६ और औपर्निवदिक ७ इनमें सब मिलाकर ३६ अध्याय हैं जिस पर यशोधरकी जयमङ्गला नामकी टीका है-५ अध्यायोंका कामशास कीन हैं ? बंदना चाहिए।

बनाया है-उसका प्रयोजन केवल विषयोंसे वैराग्य होनाही है क्योंकि शास्त्रोदीपित मार्गसे भी विषयोंके भोगमें केवल दुःखदी अन्तमें प्राप्त होता है। वैद्यकशास्त्रका प्रयोजन रोगोंकी उत्पत्ति इत्यादि तथा रोगोंके दूरकरनेवाले उपाय आदिका झान होनाही मुख्य है। अथ च पादचतुष्टयात्मक धनुर्वेदको विश्वामित्रजीने बनाया है-उनमें पहिला दीक्षापाद है। दूसरा संग्रहपाद, तीसरा सिद्धिपाद, और चौथा प्रयोगपाद है। इसके प्रथम पादमें धनुषका लक्षण और अधिकारियोंका निरूपण किया गया है-धनुःशब्द यद्यपि धनुषहीं के लिये रूड (प्रचलित) है, पर चारों ही प्रकारके आयर्घोका सुचक है। वे चारों प्रकार ये हैं-मुक्त (चलायागया) अमक (हाथमें लिए हुए चलाया गया) मुकामुक (जिसे कभी हाथमें रखकर चलाना पड़े कभी फेंककर चलाना पड़े) और यंत्रमक (जो दूसरेके सहारेसे चलायाजावे)-जैसे मुक्त चक अथवा चक्का इत्यादि, अमुक्त खड्ग तरवार गदा इत्यादि, मुकामुक भाला वा वरछी त्रिशुल प्रभृति, और यंत्रमुक्त वाण कि वा गोली इत्यादिक। इसमें मुक्तको अस्य और अमुक्तको शस्त्र कहा जाता है। वे अस्त्र भी ब्राह्म वैष्णव पाशुपत प्राजापत्य आग्नेय इत्यादिभेदीसे बहुत प्रकारके हैं। इस रीतिसे देवाधिष्ठित मंत्रोंके सहित चारोंही प्रकारके आयुधोंमें जिन क्षत्रिय कुमारोंका अधिकार है, वे सबभी पदाति (पैदल) रथी, गजारोही और अद्वारोही (असवार) के भेद से चार प्रकारके होते हैं-एवं दक्षा अभिषेक सकुन और मङ्गलकरण-इत्यादि सब कुछ प्रथम पादमें निरूपित है। समस्त शस्त्र विशेषोंका तथा आचार्यका लक्षण पूर्वक प्रहण करनेकी विधि दूसरे पादमें कही गई है। गुरुसंप्रदायके अनुसार सिद्ध शस्त्र विशेषोंका वारंवार अभ्यास और मंत्रके देवताका सिद्धकरना तीसरे पादमें कथित है। फिर देवतओं की पूजा और अभ्यासादिकसे सिद्धहुए अस्त्र विशेषोंका प्रयोगकरना चतुर्थपादमें वर्णित है। क्षत्रियोंका निजधमीचरण संप्राम करना तथा दुष्ट डांकू (लुटेरे) चोर इत्यादिसे प्रजावर्गका पालनकरनाही धनुर्वेदका प्रयोजन है। इसभांति ब्राह्मप्राजापत्यादि क्रमसे विश्वामि त्रका रचित धनुर्वेद-शास है।

गान्धर्ववेद-शास्त्र भरतमुनिने निर्माण किया है, जिसमें नाचना गाना और वजानाके भेदसे बहुत प्रकारका प्रपंच है। देवताकी भाराधना, और निर्विकल्पक समाधि (चित्तकी एकतानता) भादिकी सिद्धिही गांधर्ववेदका प्रयोजन है।

और अर्थ शास्त्रमी बहुत प्रकारका है-जैसे नीतिशास्त्र, अरवशास्त्र, गजशास्त्र, शिल्पशास्त्र, सूपकारशास्त्र, और चतुःषिर-कलाशास्त्र। वे चौसठों कलार्थे शैवागममें यो कही गई हैं।

१ गीत,

२ वाद्य,

३ नृत्य,

४ नाट्य,

५ आलेख्य,

६ विशेषकच्छेद्य,

७ तंडुलकुसुमवलि विकार,

८ पुष्पास्तरण,

९ द्शनवसनाङ्गराग,

१० मणिभूमिकाकर्म,

११ शयनरचना,

१२ उदक वाद्य,

१३ उदकघात,

१४ अद्भुत द्रीन वेदिता,

१५ मालाग्रथनकल्प,

१६ शेखरापीडयोजन,

१७ नेपध्ययोग,

१८ कर्णपत्रभङ्ग,

१९ गन्धयुक्ति,

२० भूषणयोजन,

२१ इन्द्रजाल

२२ कौचुमारयोग,

२३ हस्तलाघव,

२४ चित्रशाकापूपविकारितरा,

२५ पानकरसरागासवयोजन,

२६ सूचीवापकर्म,

२७ सूत्रकीडा,

२८ वीणाडमरुकवाद्य,

२९ प्रहेलिकाप्रतिमाला,

३० दुर्वचकयोग,

३१ पुस्तकवाचन,

३: नाटिकाख्यायिका दर्शन,

३१ काव्यसमस्यापूरण,

३४ पद्धिकावेत्र वाणविकल्प,

३५ तर्कुकर्म,

३६ तक्षण,

३७ वास्तुविद्या,

३८ रूप्यरत्नपरीक्षा,

३९ धातुवाद, कार्क्स क्रिक

४० मणिरागञ्जान

४१ आकरशान,

४२ वृक्षायुर्वेद,

४३ मेषकुक्कुटलावकः

युद्धविधि,

४४ ग्रुकसारिका-

प्रलापन,

४५ उत्सादन ५५ अभिधानको शच्छन्दोशान, ५६ कियाविकल्प. ४६ केशमार्जनकौशल, **४७ अक्षरमु**ष्टिकाकथन, ५७ ललिताविकल्प, ४८ म्लेच्छितकविकल्प, ५८ वस्त्रगोपन. ५९ द्यूतविशेष, ४९ देशभाषाञ्चान, ५० पुष्पकशाटिकानिमित्तशान,६० आकर्षकीडा, ६१ बालकी डनक. ५१ यंत्रमातृका, ५२ घारणमातृका, ६२ वैनायिकीविद्याज्ञान, ५३ असंवाच्यसंपाट्य-; ६३ वैजायिकाविद्याञ्चान.

मानसीकाव्यक्रिया,

५४ छाँलतकयोग येही चौंसठों कलायें हैं।

६४ वैतालिकीविद्याज्ञान,

उपर्युक्त समस्त विषयोंको अनेक मुनियोंने बनाये हैं, उन सबोंका लौकिक और अलौकिक उनके उनके प्रयोजनोंका भेद समझना चाहिए।

इस प्रकारसे अठारहों विद्याये त्रयीशब्दके द्वारा कही गई। अब सांख्य शास्त्रका निरूपण कियाजाता है जिसे भगवान कपिल देवजीने निर्माण किया है जैसा कि तुलसीकृत रामायण में कहा है—

"देवहुती पुनि तासु कुमारी जो मुनि कर्दमकी प्रिय नारी। आदिदेव प्रभु दीन दयाला, जठर धरेष्ठु जेहि कपिल क्रपाला। सांख्य शास्त्र जिन प्रकट बखाना, तत्त्व विचार निषुन भगवाना" ॥ इति ॥

जिसमें त्रिविध दुःखोंकी अतिराय निवृत्तिही परम पुरुषार्थ है-यह छ अध्यायोमें यों कहा गया है-यथा, प्रथम अध्यायमें विषयोंका निरूपण किया है। दूसरे में प्रधानकार्योंको कहा है। तीसरेमें विषय वैराग्य है। चौथेमें पिंगल कुमारादिक विरक्तोंकी आख्यायिका है । पांचवेंमें परपक्षका निर्जय है । और छठे अध्याय में समस्त अर्थोंका संक्षेप है [सत्तर आर्थाछंदकी कारिकाओं में सांख्यतस्व कीमुदी नामक ग्रंथ प्रसिद्ध है जिस पर गौडपादा-

चार्यका भाष्य अथवा वाचस्पति मिश्रकी वृत्ति पठन पाठनमें प्रचलित है] प्रकृति-पुरुषका ज्ञानहीं सांख्य शास्त्रका मुख्य प्रयोजन है।

योगशास्त्र भगवान् पतंजिलिका बनाया हुआ है जो योगसूत्रके नामसे प्रसिद्ध है] जिसमें चार पाद हैं। प्रथम पादमें चित्तवृत्ति-का रोकना और समाधि एवं वैराग्यका रूप तथा उनके साधनोंको निरूपण किया है। दूसरे पादमें विक्षिप्तचित्तवालेकी समाधि की सिद्धिके लिये-यम, १ नियम, २ आसन, ३ प्राणायाम, ४ प्रत्या हार, ५ धारणा, ६ ध्यान, ७ और समाधि, ८ नामक योगके आठों अंगोंको निरूपित किया है। तीसरे पादमें योगकी विभृति-योंका वर्णन है। चौथे पादमें कैवल्य-निरूपण है-इस शास्त्रका विजातीय प्रत्ययोंके निरोधद्वारा निदिध्यासनकी सिद्धिही प्रयोजन है। [योगसूत्र पर महाराज भोज-देवकी वनाई हुई वृत्ति है]॥ योंही पशुपतिमत अर्थात् पाशुपत शास्त्र है जिसे स्वयं भगवान पशुपतिहीने पशुपाशको छुडानेके लिए पांच अध्यायोंमें रचा है। जिसके पांचोंही अध्यायों में कार्यरूप-जीवही पशु, कारण-पशुपति ईश्वर, उसी पशुपतिमें चित्तका समाधान करना-योग, एवं भस्मसे त्रिकाल स्नानादि कर्मीका करनाही-विधि है । यही कार्य-कारण-योग-और विधि दुःखान्त कहे जाते हैं-इसी दुःखा-न्त-संक्षक मोक्षकी सिद्धि इस शास्त्रका प्रयोजन है। इसी रीतिसे रीव-मंत्रशास्त्रभी पाशुपतशास्त्रके अन्तर्गत है।

[उक्त पाशुपत शास्त्रका वर्णन शिवपुराणकी वायुसंहिताके पूर्वभागमें उनतीसवें अध्यायमें भी पाया जाता है]॥

इसीमांति वैष्णवशास्त्र नारदादिमहर्षियोंका बनाया हुआ है, जो नारदपंचरात्र कहलाता हैं। जिसमें वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न, और अनिरुद्ध, यही चारों पदार्थ निरूपित हैं। अर्थात भगवान् बासुदेव परमेश्वरही सबके कारण हैं-उन्हींसे संकर्षण नामक जीव उत्पन्न होता है-उसीसे उत्पन्न हुआ प्रद्युम्न मन है-फिर उससे अनिरुद्ध संझक अहङ्कार उत्पन्न हाता है। ये सब भगवान् वासु-देवहींके अंशभृत होनेसे उनसे भिन्न नहीं हैं अतः उसी वासुदेवकी मन-वचन और कायसे आराधना करके मनुष्य इतहत्य होता है -यही सब बातें निरूपण की गई हैं। वैष्णवमंत्रशास्त्रमी पंच-रात्रहीमें अन्तर्भूत है। वैष्णव मतका विशेष वर्णन-पश्चपण-म-ह्यवैवर्तपुराणके कृष्णजनमञ्जल, विष्णुपुराण और भागवतादिकों में भी मिलता है-तथा च इस विषयमें हरिभक्तिविलास नामक प्रथ अवश्य द्रष्टव्य है]॥

इस प्रकारसे समस्त प्रस्थान भेद दिखला दिया गया। इन सबोंके मतानुसार संक्षेपसे तीनहीं प्रस्थान भेद सिद्ध होते हैं, अर्थात् आरंभवाद, परिणामवाद, और विवर्तवाद । पृथिबी, जल, तेज, और वायु,-इही चारोंके परमाणु द्वधणुक इत्यादिके क्रमसे ब्रह्मांडपर्यन्त जगतको बनाते हैं। कार्य-कारणके व्यापारसे असत [झूठा] ही उत्पन्न होता है, यह पहिला आरंभवाद तकेशास्त्रमता-वलम्बी तथा मीमांसक लोगोंका है। सत्त्व-रज-तमोगुणात्मक प्रधानहीं महत्-अहंकारादिकके कमसे जगतका आकार बनजातां है-पूर्वभी सुक्ष्मरूप कारण व्यापारसे सत् [सत्य] ही कार्य अभिव्यक्त होता है-यह दूसरा पक्ष परिणामवाद सांख्य-योग और पाशुपतमत वालोंका है- ब्रह्महीका परिणाम जगत है यही वैष्णव लोगोंकाभी मत है। स्वप्रकाश परमानन्दअद्वितीय ब्रह्म अपनी मायाके वस मिथ्याकी भांति जगतके आकारमें किएत हो जाता है यह तीसरा पक्ष विवर्तवाद ब्रह्मवादी लोगोंका है। सभी प्रस्थान बनाने वाले मुनिलोगोंका विवर्तवादके अन्तमें वेदान्तप्रतिपाद्य आद्वितीय ब्रह्महीमें तात्पर्य है। [यहां पर यह इंका होती है कि तो फिर इतने प्रस्थान (मतभेद) क्यों किये गये-उसका समाधान यह है कि-] वे मुनिलोग भ्रांत नहीं थे सब कुछ जानतेथे, किंतु बाहरी विषयों में आसक होनेसे लोगोंका यथार्थ प्रवेश परमपुरुषार्थमें नहीं हो सकता अत एव नास्तिकताके दूरकरनेकी इच्छासे उन महानुभावीने ये सब प्रकारभेद दिखलाये हैं। इसी कारणसे उन लोगोंके ठीक ठीक तात्पर्यको विना समझेही जो लोग वेदसे विरुद्ध अर्थमें भी उनके तात्पर्यकी उत्प्रेक्षा करके उनके मतको उपादेय समझकर प्रहण करलेते हैं वे ही-ऋजुक्टि-लनानापथगामी (धारी) होते हैं-इसीसे सभी लोगोंका सीधे मार्गमें प्रवेश नहीं होता-और इसी विपर्ययमें परमेइवरकीमी

प्राप्ति नहीं हो सकती-हां अन्तःकरणके शुद्ध होजाने पर पीछे से ऋजुमार्गका आश्रयण करनेहींसे सिद्धि लाभ होता है।यह समस्त शास्त्रोंका निचोड है॥ ७॥

🕏 भाषापद्यानुवादः 🦂

वैदिक सांख्य ह जोग मत, वैष्णव पाशुपतादि।
कहत एकते भिन्न पथ, यह उत्तम हितवादि॥
सुधे टेढे मार्ग चिल, रुचि विचिन्नता पाय।
जल अस वहतो जार नर, तुम सम सिधु समाय॥ ७॥

कि भाषाविम्वम् कि गुनै कोऊ वेदे हिर हर मती सांख्य-मतको, कहे योगाभ्यासी सुगम पथ येही सबहिमो। रुचा नानाभांती ऋजु कुटिल मार्गे घरि (बहि) चली, नरोंके नारोंके जलघि-सम हो गम्य तुमहीं ॥७॥

महोक्षः खट्वाङ्गं परशु रिजनं भस्म भिणनः कपालं चे तीय त्तव वरद तन्त्रोपकरणम् । सुरा स्तां ता मृद्धिं दधित तु (१)भवद्भूप्रणिहितां न हि स्वात्मारामं विषयमृगतृष्णा भ्रमयित ॥८॥

कृ मधुसूदनी टीका कृ एवं सर्वशङ्कोद्धारेण हरिहरस्वद्धपं निरूप्य तदेवार्वाचीनपद्स्थं स्तौति—

*महोक्ष इति *। हे वरद्, तव परिपूर्णपरमेश्वरस्याप्येतत्तन्त्रोप-करणं तन्त्रस्य कुटुम्बधारणस्योपकरणं साधनम्। तदेवाह्। महोक्षः महानुक्षा वृद्धवृषभः, खट्वाक्नं खट्वाया अवयबः शस्त्रविशेषः का-पालिकानां प्रसिद्धः, परशुः टङ्कः कुठारो वा, अजिनं चर्म, भस्म

⁽१) विद्धाति चेति पाठः।

पांद्यः, फणिनः सपीः, कपालं मनुष्यशिरोस्थि चेति सप्तकम्। नन्ववं दरिद्रस्तुष्टोऽपि किं दास्यतीत्यत आह—सुरा इत्यादि । सुरास्तु भवत्सेवया भवद्भूप्रणिहितां भवतो भूविक्षेपमात्रेण सम-र्पितां तां तामसाधारणीमृद्धिं संपर्ति दधित धारयन्ति । त्वमिति दिर्दि स्वार्यन्ति । त्वमिति दिर्दि स्वार्यन्ति । त्वमिति दिर्दि स्वार्यन्ति । त्वमिति दिर्दि स्वार्यन्ति । त्वमिति विक्रिक्ते तुः दिर्दि स्वार्यन्ति । त्वमिति । त शब्द आह । यो ह्यन्यान्धनवतः करोति स तद्पेक्षयाधिकधनवान्भ-वतीति प्रसिद्धं लोके। ननु तहीं हशोऽपि स्वयं कथं महोक्षादिमा-त्रपरिवार इत्यत आह—नहीत्यादि । हि यस्मात्स्व आत्मिन स्वरूपे चिदानन्द्घने आरमत्याकीडत इति तथा तं न भ्रमयति न मोह-यति । विषयमृगतुष्णा विषया इन्द्रियार्थाः शब्दस्पर्शक्षपरसगन्धाः स्त एव मृगतृष्णा जलबुद्धा गृह्यमाणा मरीचिका। यथा मृगतृष्णा रबिरिइमक्रपा जलविरुद्धस्वभावापि भ्रान्त्या जलमयीवाभासते तथा विषया अपि दुःस्वरूपा भ्रान्त्या सुखरूपा आभासन्त इति कपकार्थः। यत्र जीवोऽपि स्वात्मारामतां प्राप्तो न विषयासको भवः ति, तत्र किमु वक्तव्यं नित्यमुक्तः परमेश्वरो बिषयैर्नाभिभूयत इत्यः भिप्रायः। तेन वृषभारूढा खट्वाङ्गपरशुफणिकपालालंकतचतुर्भुज। चर्मवसना भस्माङ्गरागा विविधभूषणा माहेइवरी मुर्तिगुंरूपदेशेन श्नाता स्तुत्यादिभिराराध्येत्यर्थः । वस्तुतस्तु पुरुषप्रधानमहद्दंकारः तन्मात्रेन्द्रियभूतानि महोक्षादिरूपेण गुप्तानि भगवन्तं महेश्वरमुपाः सत इत्यागमप्रसिद्धम् । तस्य जगत्कुटुम्बस्य तत्त्वान्येवोपकारण-मिति निष्कर्षः। हरिपक्षे तु महोक्षः अक्षश्चर्का 'अक्षो रथावयवके च बिभीतके स्याद्शाणि पण्डितजना विदुरिन्द्रियाणि' इति धरणिः महस्तेजोक्तं, भस्मफणिनः भस्मवच्छुभ्रस्य कोमलाङ्गस्य च फणिनः शेषस्याऽजिनं शरीरत्वक् खट्वा शय्या। तथा कपालं कं शिरः पाल्यते ऽनेनेति कपालं शिरउपधानं तस्यैव भस्मफिणनो ऽकं किंचि-दुच्छित्रावयवविशेषः। अथवा केन जलेन पाल्यत इति कपालं पद्म शक्को वा तस्मिन्पक्षे भस्मफाणिनोऽङ्गं अजिनं च खट्वा, अङ्गं पर्यङ्क-स्थानीयं अजिनं च तदुपरि आस्तृतवस्त्रस्थानीयमिति बोद्धव्यम्। तथा परश्रुरिति परशुरामावताराभिष्रायेण । हे वरदः एतावत्तव तन्त्रोपकरणमित्यादिपूर्ववत्। अथवा विषयमृगतृष्णा अविद्यान्तः करणोपरकं प्रतिबिम्बकल्पं जीवं ज्यामोहयत्यपि रामं अनन्तसत्य-

श्वानानन्दात्मकत्वेन योगि(१)नां रितविषयं त्वां विम्बकल्पं मोहयित न स्वावरणांदोनाभिभवति । उपाधः प्रतिविम्बपक्षपातित्वात् । की-हशी सा । स्वात्मा स्वः सिद्धदानन्दात्मकस्त्वमेवात्मा स्वरूपं यस्याः सा, तथा त्वय्यध्यस्ता सा स्वसत्तास्फूर्तिप्रदं त्वां कथं व्यामोहये-दित्यथः । अत्रापि चकादीनां भगवद्विभूतित्वं विष्णुपुराणादौ प्रसि-द्धम् ॥ ८॥

अपरिवार प्रयत आह—नर्वारवादि हि यस्मान्त्र आत्मीम स्वकते विवानन्द्रवन आरमस्यान्द्रीय किडिकेमें ।दुरं न समयति न मोह-

वति । विवयसुगतुष्णा विषया सन्द्रियार्थाः सन्दर्भर्भरूपरस्तरम्भरू (बरद !) हेवरदानोन्मुख ! (महोक्षः) महाँश्चासी उक्षा च महोक्षः महावृषमः । "अचतुर" - ५ । ४ । ७७-इत्यादिना निपातः नात्साधुः। (खट्वाङ्ग) सुखं सुणपर्यायोऽस्त्रविशेषः कचिद्दण्डस्यो परिब्रह्मकपालं खट्वाङ्गमुच्यते कचित्-"खट्वाङ्गं नरपञ्जर"-मि-स्रद्युक्तम् । तथा (परशुः) परं शृणातीति परशुः "आङ्परयोः खनिशुभ्यां ङिच" —१ । ३३-उणा०-इतिकुः । परइवधापरपर्यायः प्रसिद्धोऽस्त्रविशेषः। (अजिनं) चर्मा (भस्म) क्षारं [भस्मतत्त्व-ज्ञानार्थे वृहज्जावालोपनिषद् द्रष्ट[्]येति] (फणिनः) सर्पाः (कपालं) मुण्डं (च) इति समुचये (इति) एवं विधं (इयत्) प्ताबदेव (तव) ते (तन्त्रोपकरणं) प्रधानपरिच्छेदः, प्रपञ्चरूपेण स्थितमुपकारकमिति वा । अस्तीति रोषः । परन्तु (सुराः) देवाः इन्द्रादयः (भवद्भ्रप्रणिहितां) भवतो भ्रूक्षेपमात्रेण प्रदत्तां (तां तां) अतिरायप्रसिद्धां (ऋदिं) सम्पदं (विद्धति) धारयन्ति। यद्येवं तर्हि स्वयं कथन्ने(पभुज्यते ?-इत्याशङ्कशह । (हि) यस्मात् कारणात् (विषयमृगत्रणाः) भोगानां तुच्छा मृगत्रिणकेव ईहा (स्वात्मारामं) आत्मतस्वक्षं योगिनं पुरुषं (न भ्रमयति) कदापि नैवं चालियतुं शक्नोति अत्र भगत्रतोऽभव्यं परिच्छदं वर्णायत्वा परमसमृद्धिदातृत्वञ्च प्रदर्श निर्मायित्व-परमयोगित्वादिगुणगणा यथावदेव विरादीकृता इति ॥ ८ ॥ शहाहामा शहर हो हो हुउए छह

⁽१) 'योगिनामविषयं' इति पाठः।

क्रिकिट भी छन्त एक कि संस्कृतपद्यानुवादः 🎇 विकास पाउ हुन्ही

महोक्षखद्वाङ्गकपालसर्पाः भस्माजिनं पर्श्वारियस्वद्वीयम् । अपञ्चरूपेण महोपकारि, मतं प्रभो ! ते वरदाग्रगण्य ! ॥ परन्तु शकादय एव देवा, भूक्षेपमात्रेण त्वया प्रदत्ताम् । समृद्धि मृद्धां शिव!धारयन्ति, न याति योगी विषयेषु तृष्णाम्॥८॥

की रामायण गौकी विवास अकारण ने सासी किया है

क्या-"क्रपञ्च कंकम पहिरे व्याला,

। हिंदू रीवर्ष पर निक्रमें हुई भाषाटीका 🛂

(वरद!) हे वरदायक! (महोक्षः) बडा अथवा सूढा वल (खट्वाङ्गं) अस्त्रविशेष [अथवा पार्टाके समान कापालिक लोगों-का प्रसिद्ध। कहीं कहीं मनुष्यकी पंजडीकांभी खट्वांग कहते हैं।] (परद्युः) फरसा (अजिनं) चमडा अथवा खाल (भस्म) छार, राखी (फणिनः) सांप (कपाल) मुंड, खोपडी (च) इत्यादि (इति) इस भांतिसे (इयत्) इतनीही भर (तव) आपकी (तन्त्रो-पकरणं) पूंजीपसार [हैसीयत] है। परन्तु (सुराः) देवता लोग (भवद्भूप्रणिहितां) आपकी भृकुटीके प्रसादकी दीहुई (तां तां) उन उन अर्थात् बडीमारी (ऋद्धि) सम्पत्तिको (विद्धिति) धारण करते हैं, अर्थात भोगते हैं यदि आप ऐसे दानियां हैं तो स्वयं क्यों नहीं संपत्तियोंको भोगते ? इस शंका पर कहते हैं कि (हि)क्योंकि (स्वातमारामं) आत्मज्ञानी योगी पुरुषको (विषयमुगतृष्णा) विषयों-कीं अर्थात् रूप-रस-गन्ध-स्पर्श. और शब्दरूपी मृगतृष्णा जलकी बुद्धिसे वालूपरके किरण-[अभिप्राय यह कि जलसे विरुद्ध स्वभाव होने परभी सूर्यके किरण भ्रममें पडेहुए तृषार्त मृगोंको जैसे जलमयही भासते हैं वैसेही अांतिवश दुःखमय विषयभी सुख रूप जान पडते हैं] (न) नहीं (भ्रमयति) भ्रममें डाल सकती है। तात्पर्यं यह है कि आपकी सवारी वैल चारों हाथोंमें खट्वाङ्ग फरसा, सर्प और कपाल, खालहीका ओढना विछीना, और अंग-राग राखही भर तो है, पर आपहीकी भौंके हिलनसे ब्रह्म-विष्णु-इन्द्रादिक देवते लोगभी बडीसे बडी समृद्धियोंका भोग करते हैं,

किन्तु आप आत्मक्षानी महापुरुष होनेके कारण उन तुच्छ विषयोंकी भोग-छाउँसा नहीं करते। वास्तवमें आत्मक्षान होजाने पर साधा-रण जीवभी विषयासक नहीं होते तो फिर साक्षात परमेइवरको विषयोंकी मृग-तृष्णा कैसे भरमासकती? इसके पूर्व निर्गुण ईश्वर की स्तुति होचुकी है इसीसे इस श्लोकमें अर्वाचीन अर्थात् सगुण-रूपका वर्णन किया है। महादेवके स्वरूपका वर्णन तुलसीदासजीने भी रामायण गौरी विवाह प्रकारणमें पेसाही किया है—

यथा—"कुण्डल कंकन पहिरे व्याला,

तनु विभृति पट केहरि छाला।
शिश्वा ललाट सुंदर शिर गङ्गा,नयन तीन उपवीत भुजङ्गा।
गरल कंठ तर नर-शिर माला,
अशिव भेष शिव धाम रुपाला।
कर त्रिशूल अरु डमरु विराजा,
चले वसह चढ़ि बार्जीह बाजा"॥ (तु०रा०)॥८॥

🛊 भाषापद्यानुवादः 🦂

वरधा टाङ्गा खाल फिन, फरसा राख कपार। वरदायक ! इतनी अहै, तुमरी पूंजि पसार॥ तुव भृकुटीके हिलन (दान) ते, लहत ऋद्धि सब देख। आतम झानिहिं विषयकी, मृगतृष्णा निह सेव॥८॥

द्रैं। भाषाबिम्बम् ।द्रै

बडा बर्घा टांगा प(फ)रसु मृग(गज) छाला भसम है, कपालै सर्पोंको ध(क)रत निज तंत्रोपकरने। समृद्धी पावैहें सकल सुर तो-भींह हिलते प्रभू-लोगों पे तो विषय-मृगत्रिस्ना (तृष्णा) निह चढै॥ ८॥ ध्रुवं कश्चि त्सर्वं सकल मपर स्त्व ध्रुव मिदं परो धोव्याधोव्ये जगति गदित व्यस्तविषये। समस्ते ऽप्येतिस्मि नपुरमथन ते विस्मित इव स्तुव जिहेमि त्वां न खलु ननु धृष्टा मुखरता॥९॥

🏞 मधुसूदनी टीका 🤧

पवं स्तुत्ययोर्हरिहरयोर्निर्गुणं सगुणं च स्वरूपं निरूपितं, संप्रति स्तुतेः प्रकारं निरूपयंन्स्तौति—

 अध्विमिति । हे पुरमथन, तैः स्तुतिप्रकारैस्त्वां स्तुवन्न जिह्नेमि नाहं लज्जे । विस्मित इव जातचमत्कार इव । यथा कश्चिदद्भुतं दृष्ट्रा विस्मितस्तत्परवशत्वाह्योकोपहासमगणायित्वा विचेष्टते तथा णयन् त्वत्स्तुतौ प्रवृत्तोऽस्मीत्यर्थः। तैः कैः प्रकारैरित्याह । ध्रवः मित्यादि । कश्चित्कोऽपि सांख्यपातञ्जलमतानुसारी सर्वे समग्रं जः गद्ध्रवं जन्मनिधनरहितं सदेव गदति। व्यक्तं वदतीत्यर्थः । नहा-सत उत्पत्तिः संभवति न वा सतो विनाश इत्याविभीवतिरोभावमाः त्रमुत्पत्तिविनाशशब्दाभ्यामभिलक्ष्यते । तेन परमेश्वरोऽपि तावन्माः त्रस्येष्टे न त्वसत उत्पत्तेः, सतो वा विनाशस्येत्याभिप्रायः । इति सन्कार्यवाद एकः पक्षः। तथाऽपरोऽन्यः सुगतमतानुवर्ती सकः लमिदमधुबं क्षणिकमिति गदति । नहि सतः स्थिरत्वं संभवति । अर्थिकियाकारित्वमेव सत्त्वम्। (१)तश्च सद्रथस्यक्षणयोगेन न विलम्बे-नोत्पद्यते इति। एकस्मिन्क्षणे सर्वार्थाक्रयासमाप्तेरुत्तरक्षणेऽसत्त्वेमव। तथाच परमेदवरस्यापि क्षणिकविज्ञानसंतानरूपत्वादसावसत उत्पः त्तरीष्ट नतु सतः स्थिरत्वायेति द्वितीयः पक्षः सर्वक्षाणिकतावादल-क्षणः ॥ तदुभयपक्षासिहण्णुश्च परस्तार्किकः समस्तेऽप्येतस्मिञ्ज-गति भ्रोब्याभ्रोब्ये नित्यत्वानित्यत्वे ब्यस्तविषये भिन्नधर्मवर्तिनी गद्ति (आकाशादिचतुष्कपृथिव्यादिचतुष्कपरमाणवश्च नित्याः । आकाशकालादिगात्ममनः पृथिब्यादिपरमाणवश्च नित्याः इति वा)

⁽१) 'सदर्थस्याश्चेपायागन' इति पाठः।

कार्यद्रव्याणि चानित्यानि। तथा चानित्यानामुत्पत्तिविनाशयोरीष्टे परमेश्वरो नतु नित्यानामपीत्यर्थः। इत्येवं तृतीयः पक्षः। तथाच त्रिः च्वय्येतेषु द्वैताङ्गीकारादद्वितीयसन्मात्ररूपस्य परमेश्वरस्य स्पर्शोः ऽपि नास्तीति सोपाधिकसंकुचितैश्वर्यरूपेण स्तुतिः सर्वथा छज्ञाः करीत्यर्थः। तर्हि किमिति न छज्जस इत्यत आह। नतु अहो खलु निश्चितं मुखरता वाचालता धृष्टा निर्लज्जा। तथःच मुखरतेव लज्जामपहरतीत्यर्थः। एवं सर्वप्रकारप्रवादकवादादीनामाभासत्वमुः कम्, अद्वितीयवादस्येव छज्जानास्पदत्वेन सत्यत्विमिति द्रष्टव्यम्। एतद्य 'त्वमर्कस्त्वं सोमः' इत्यादौ स्पष्टीकरिष्यते। हरिपक्षेऽत्येवम्। तत्र पुरमथनशब्दः प्राख्याख्यातः॥ ९॥

साहं राजा। विक्रित हव जानचनामार एवं। यथा कांश्रेयवृत्तुनं देषा विक्रियतस्मायस्य र क्रिका क्रिका विक्रित तथा

(प्रमथन!) हे त्रिपुरदाहक! (कश्चित्) सांख्यपातञ्जलकः र्शनात्यायी (सर्वे) सचराचर मखिलं (इदं) हह्यमानं (जगत्) ब्रह्माण्डमण्डलं (ध्रुवं) नित्यं अविनाशीति यावत् (गद्ति) कथ-यति । तन्मते समस्त मपीदं जग दविनश्वरमेव। (तु) इति हेत निद्दानं (अपरः) तद्भिन्नो बौद्धादिमतानुवर्ती (सकलं) अशेषं जगत (अध्वं) अनित्यमेव वदति। (परः) ताभ्या मन्यो बीत-रागो मध्यस्थः तार्किको वा (समस्ते प्रत्येतस्मिञ्जगति, भ्रौव्याभ्रौव्ये) भुवत्वाभुवत्वे, नित्यत्वानित्यत्वे इत्यर्थः (व्यस्ताविषये) निश्चिप्तप्र-माणे, भिन्नधर्माविञ्छन्ने वा (गदति) कथयति। यथा-आकाशादिः पञ्चकं परमाण्वादिकञ्च नित्यं, घटपटादि कार्यजातमानित्यमिति वदति । अनेन प्रकारेण तैः पूर्वकथितनित्यत्वानित्यत्वादिवादिभिः (विस्मित इव) आश्चर्यतां गतो मोहितश्चाहं (त्वां) भवन्तं (स्तु-वन्) स्तुत्या तोषयन् , सन् (जिहेमि) लज्जे, लज्जितो भवामि (ननु) अहो ! (खल) निश्चयेन (मुखरना) बाचालता (न धृष्टा) अपि तुसर्वथैव धृष्टतिध्वने रभिप्रायः। काचित्रकारस्य जिहेमीतिपदेनैव सङ्गतिरुरीकृता। अत्र जगतो नित्यत्व मनित्यत्वं नित्यानित्यत्वञ्च तत्त-त्पथानुसारेण दर्शायत्वा तद्विषये स्वाश्चर्यतामपि प्रतिपाद्य भगवतः स्तुत्यर्थमात्मनो घाचालतेव प्रकटीकृतेति ॥ ९ ॥ महिलाका कार्य

🐉 संस्कृतपद्यानुवादः 🦂

एको भ्रुवं विक्त जग त्समग्रं, परो वदत्य भ्रुवं मेव सर्वम् । भ्रुवाभ्रुवं कश्चि दिदं ब्रवीति, व्यस्त स्समस्तो विषय स्ततोऽस्य ॥ एवं वदिद्धं बंहुभि निंजं मतं, ते वादिभि विस्मयता मह ङ्गतः । लक्षेस्तुवं स्त्वा न्त्रिपुरासुरान्तक! वाचालता भृष्टत्या युनाक्ते माम्॥९॥

HETSHPIE H

ही छानित 😩 भाषा टीका 🦂 🕬 👼

इस प्रकारसे भगवानके निर्मुण और समुण हवेंका नर्णन क-रके अव स्तुति करनेका प्रकार दिखलाते हैं-(पुरमथन!) हेत्रिः , प्रासुरदाहक! (कश्चित्) कोई, अर्थात् सांख्य और पातंजल इत्यादि दर्शनोंका माननेवाला (इदं सर्व) यह सचराचरसमः स्त (जगत्) ब्रह्मांड (ध्रवं) नित्य है, अर्थात् इसका कभी नारा नहीं होता-देसाही कहता है (अपरस्तु) और उससे भिन्न दूसरा तो, अर्थात् बौद्धादिक (सकलं अध्वं) अरोष [सारा] संसार अनित्य है यही सिद्ध करता है। (परः) इन दोनोंहीसे भिन्न धीतरागी अथवा तार्किक (समस्ते अपि एतस्मिन् जगति भ्रोह्याभ्रोब्ये व्यस्तविषये) इस समग्रभी संसारमें नित्यत्व, अनि-त्यत्व भिन्नधर्मवर्ती बने रहते हैं-अर्थात् जगतमें नित्यत्व और अनित्यत्व दोनों ही मिले हैं-अभिप्राय यह कि गृथिवी, जल, तेज, वाय, आकारा, काल, दिशा,-आत्मादिकोंके परमाणु तो नित्य हैं और कार्य द्रव्य अनित्य हैं-ऐसा (गदति) कहता है। अत एव (तैः) उन सब दार्शनिकों द्वारा (विस्मित इव) मानों चिकित होकर (त्वां स्तुवन्) में आपकी स्तुति करताहुआ (जिहिमि) बहुत लिज्जित होरहाहूं। (नजु) अहो (खलु) निश्चय करके (मुखरता न धृ-शा ?) बाचालता धृष्ट नहीं है ? अर्थात् धृष्टही है। भाव यह है कि, ऊपरके कहे हुए तीनों प्रकारके मतवादियाने बैतही को स्वी-कार किया है-इसीसे अद्वेतकप सन्मात्र परमेश्वरका स्पर्शभी नहीं होने पाता-इसिलिय इन लोगोंकी सिद्धान्त-शैलीको देखकर मै तो आश्चर्य में पडगया हूं-इसीसे आपकी स्तुति करनेमें लिजात होरहा हं-फिरभी वकवादीपन दीठाई किये विना नहीं मानती॥

🏂 भाषापद्यानुवादः 🤻

पक कहत जग नित्य यह, दूजो कहत अनित्य । अपर कहत दोऊ मिस्रत, जगमें नित्य-अनित्य ॥ इहिविधि अचरचेंम परो, अस्तुति करत स्त्रजाउं ॥ काह करों बाचास्रता (वकवादिपन); स्हत ढिटाई टाँउ ॥९॥

🏰 भाषाविम्बम् 🦂

कहें कोऊ सारा जगत नित, दुजे अनित है, परे भाषें नाही नित अनित दोऊ मिलित है। यही भांती कर्ते स्तुति चिकत है लिखित बनौं, नहीं ढीठी जिह्वा तजति बकवादीपन तबौं॥ ९।

तवै श्वर्यं यत्ना द्य दुपिर विरंचि हिरि रधः परिच्छेत्तुं याता वनल मनलस्कन्धवपुषः । ततो भक्तिश्रद्धाभरगुरुगृणद्भां गिरिश य-त्स्वयं तस्थे ताभ्यां तव कि मनुवृत्ति ने फलति॥१०॥

🧚 मधुसूदनी टीका 🦂

पवं श्लोकनवकेन स्तुतिसामग्री निरूप्य स्तुतौ प्रस्तुतायां समस्तप्रभाववतामग्रसरयोर्हरिविरंच्योरिप त्वत्प्रसादादेव त्वत्साः श्लात्कार इत्येवं निरतिदायं माहात्म्यं प्रकटयन्स्तौति—

#तवेति #। हे गिरिश,तवानुवृत्तिः सेवा किं न फलित। अपि तु सर्वमेवं फलित । त्वत्साक्षात्कारपर्यन्तं फलं ददातीत्वर्धः। तत्रा-न्वयव्यतिरेकाभ्यां कारणतां द्रढियतुं भगवदनुवृत्ति व्यतिरेके फल-व्यतिरेकमाह । यद्यस्मादनलस्कन्धवपुषस्ते जः पुञ्जमूर्ते स्तवैद्वर्यं स्थूलं रूपं परिच्छेन्तुमियत्तयावधारियतुमुपर्यूर्ध्व विरंचिर्वह्मा अधो-ऽधस्ताद्धरिर्विष्णुः यत्नात्सर्वप्रयत्नेन यावद्गनतुं शक्तौ तावद्यातौ गतौ अनलं नाऽलम् । न परिच्छेन्तं समर्थावित्यर्थः। यत्र स्थूलक्रपमप्य-परिच्छेद्यं तत्र दुरे स्क्ष्मक्रपपरिच्छेदसम्मावना। तेन त्वद्नुवृत्ति वि-ना हरिषिरंच्योः प्रसिद्धमहाप्रभावयोरिष त्वं न विश्वेयस्तत्र का वार्ताः ऽन्येषामिति व्यतिरेकमुक्काऽन्वयमाह । ततस्तस्मा(त्कारणा)त्स्वय-त्नवैफल्यादनन्तरं ताभ्यां हरिविरंचिभ्याम् । 'श्लाघह्नुङस्थाशणां श्रीप्स्यमानः' इति चतुर्थी । तयोर्शानायेत्यर्थः । कीदशाभ्यां भक्ति श्रद्धाभरगुरुगृणद्भ्याम् । भक्तिरत्र कायिकी सेवा, श्रद्धास्तिक्यवुद्धिः (मानसीसेवा), तयोर्भरोऽतिशयस्तेन गुरु श्रेष्ठं निरातिशयं यथा तथा गुणद्भ्यां स्तुवद्भ्यां वाचिकीं सेवां कुर्वद्भाम्। यद्धि गुरुतरं भवति शिलोच्चयादि तत्पवनपर्जन्यादिभिनं विकियामुपैति अलघु-द्रव्यत्वात् , तथा स्तुतिरप्यतिगौरववती शिलोचयादिस्थानीया पवनपर्जन्यस्थानीयैर्विद्मेश्चालियतुं न राक्येति गुरुराब्देन ध्वनित-म्। एवं रूपेण तवैश्वर्यं स्तुवद्भां ताभ्यां किमित्याह । स्वयं तस्थे स्वयमेव नतु तयोः प्रयत्नेन तस्थे स्वमात्मानं प्रकाशयति स्म । अत्र तवै इवर्यामिति कर्तृपदं द्रष्टव्यम् । 'प्रकाशनस्थेयाख्ययोश्च' इत्यात्म-नेपदम् । यद्वा गृणद्भ्यामिति कर्तरि तृतीया । तस्थे स्थितं निवृत्त मिति भावप्रत्ययः। ततस्तयोर्निवृत्ताविप किं तवानुवृत्तिर्न फलति। अपितु फलत्येवेत्यर्थः । तस्मादेव हरिविरंचिभ्यामपि त्वद्नुवृत्येव त्वं साक्षात्कृतः का वार्ताऽन्येषामित्यन्वय उक्तः। एवं त्वद्नुवृत्तिरे व सर्व फलतीत्यन्वयन्यतिरेकाभ्यां दढीकृतम्॥ हरिपक्षे तु गिरौ गोवर्धनाख्ये होते गोपी रमयन्निति गिरिहाः श्रीविष्णुः। अथवा गि-रिं मन्दरं इयति तन्करोति श्रीरोदं मश्रान्निति गिरिशः। योजनिका पूर्ववत्। हरिः सर्पः शेषः विरंचिशेषाभ्यामपि त्वत्कृपयैव त्वं प्राप्त इति पूर्ववत्सर्वम् । अत्र 'अनिल' इति कचित्पाठः स न सांप्रदायि । कः। तथा चान्यत्रोक्तम् 'नोर्ध्वं गम्यः सरसिजभुवो नाष्यधः शार्क्तः पाणेरासीदन्तस्तव हुतवहस्कन्धमुर्त्या स्थितस्य' इति ॥ १०॥

🚁 संस्कृत टीका 😤

(गिरिश!) हेगिरिशायिन् ! गिरौ शेते इति गिरिशः-"गिरौ डश्छन्दासि" ३।२।१५-इत्यतो डः। अथवा गिरि राश्रयत्वेना स्या स्ति-"लोमादिपामादि-" ५।२।१००-इत्यादिना शः। तथाचोक्तम-पि कचित्-"हरो हिमालये शेते हरि श्शेते महोदधौ"। (अनल-स्कन्धवपुषः) ज्योतिस्समूहशरीरस्य, ज्योतीरूपस्येत्यर्थः। (नव) भवतः (पेश्वर्यं) महत्ता

परिश्रमण (परिच्छेतुं) एतावदिति निश्चेतुं, परीक्षार्थं वा (उपरि) ऊर्द्धदेशे (विरिश्चः) ब्रह्मा । "विरिश्चो दुहिणः शिञ्जो विरिश्चि र्द्ध्यणो मतः।"-इति शब्दार्णवः। काचित् विरश्चि रिप लभ्यते— यथा "चिरं विरंचिनेचिरं विरश्चि" रिति। (हरिः) विष्णुः (अ-धः) अधोदेश एवं इमी ब्रह्मविष्णू (अनलं याती) असमर्थी भृती । कचि "दनिलस्कन्धवपुष" इत्यपि पाठो दृश्यते तत्र बायुशरीर-स्ये त्यर्थः। ततो वायुतस्त्रपर्य्यन्तं लिङ्गस्य मस्तकं कालान्निपर्यन न्तं मृतं, ब्रह्मा ब्रह्माण्डव्यापी, विष्णु रप्तत्विनवासी कथ मेती भवती महिमानं परिज्ञातुं समर्थी स्यातामिति तात्पर्यार्थः। (ततः) तदनन्तरं (भक्तिश्रद्धाभरगुरुगृणद्भयां) भाक्त भेजनं, श्रद्धा वि-श्वासपूर्विका स्पृहा, तयो भरः समृहो भारो वा महत्त्व मित्यर्थः, तेन गुरु महत् यथा भवति तथा गृणद्भचां स्तुवद्भवां (ताभ्यां) ब्रह्मविष्णुभ्यां-अत्र-"श्राघन्हुङस्थादापां ज्ञीप्स्यमानः-" १।४।३४-इत्यतो बोधनार्थे चतुर्थी। (यत्) तवैश्वर्य्थ (स्वयं) स्वयमव (तस्थे) प्राप। "प्रकाशन स्थेयाख्ययश्चि"-१।३। २३-इत्यात्मने-पद्म्। (तव) भवतः (अनुवृत्तिः) सेवनं (किन्न फलति) अपि-त सर्वमेव ददातीत्यर्थः । अत्र कदाचि दहमहमिकया विवदतो क्रे-द्याविष्णवो मध्ये ज्योतीरूपं लिङ्गं प्रकटय्य तदाद्यन्तसीमपारिश्वानाः र्थ मादिश्य च भगवता ती असमर्थी सन्ती स्वय मनुगृहीती-इतिः द्वावपुराणोक्ता कथाऽवगन्तव्या स्कन्दपुराणस्य माहेइवरखण्डान्त-र्गताऽरुणाचल माहात्म्येप्येषा कथा सविस्तरा वर्णितास्तीति च।तथा चैव मेवोक मस्मित्पितृब्यैः "पण्डित चन्द्रदेशखरित्रपाठिभि" निजितिः मितविश्वनाथस्तुतौ-

> "यः कञ्जभूकमलन् भविवादकाले, प्रादुश्चकार निजवोध मनन्तिलक्षम् । पुज्यं हरिं निधि मपूज्य मत श्चकार, तं विश्वनाथ मुमया सहितं भजेऽहम्॥" स्कन्दपु० माहेश्वर-कामारिकाखं-३३-अ० स्रष्ट्यादी लिक्कर्णा स विवादो मम ब्रह्मणः । अभू द्यस्य परिष्ठेदे नाल मावां बभाविष॥ २६॥

🚁 संस्कृतपद्यानुवादः 🦂

ज्योतिःस्वरूपस्य हि वेभव न्ते, झातु झतोऽघो जलशायिदेवः। ब्रह्मो परिष्टा दपि नो समर्थौ, स्यातां यदा तो सुरवृन्दवन्द्यौ ॥ श्रद्धामहाभक्तिभरे स्स्तुवद्भयां ताभ्यां तदा तत्स्वय मेव तस्थे। स्वयंप्रकाशा ऽद्य!गिरीश!सत्यं, तथा नुवृक्तिः फलिनी सदैव ॥१०॥

🏂 भाषा टीका 🥳 👚

(गिरिश !) हे कैलासवासिन् ! (अनलस्कन्धवपुषः) ज्योतिः पुंज शरीर धारी,अधीत् ज्योतीक्षप (तव) आपके (ऐश्वर्थं) माहात्म्यको, किंवा स्थूलकपको (परिच्छेनुं) परिखनेकेलिये, कि-तना है-इसकी जांच करनेको (यतात्) बडे परिश्रमसे (विरिंबः) ब्रह्मा, तो (उपरि) ऊपरको और (हरिः) भगवान् विष्णु (अधः) नीचेकी ओर (यातों) जानेपर (अनलं) असमर्थही हुए-(ततः) तद्नंतर (भक्तिश्रद्धाभरगुरुगुणद्भवां ताभ्यां) भजन और श्रद्धाके भारसे गौरवयुक्तहोकर स्तुति करने पर उन दोनों ही देवश्रेष्ठोंसे (स्वयं तस्थे) आपस्वयं मिले अथवा प्रकाशित हुए-क्योंकि (त-व अनुवृत्तिः किं न फलति?) आपकी सेवा क्या नहीं फलती है ? अर्थात् सभी फलाको देती है। तात्पर्य यह है कि-पूर्वाक श्लोकों में स्तुतिकी सामग्रीको निरूपण किया, फिर स्तुति आरम्भ करके परमप्रभावशाली ब्रह्मा विष्णुभी आपहीके भजन और सवन-से आपको जानसके हैं यह बातभी प्रकट करदी-क्योंकि ब्रह्मा तो ब्रह्मांडभरही में व्याप्त रहते हैं, और विष्णु जलतत्त्वके निवासी होनेसे उन सबके परे रहने वाले आपको कैसे जान सकते हैं-हां जब आपही स्वयं उनको जनादेते हैं, तभी जान सकते हैं-जैसा कहा है-

"सोइ जाने जेहि देहु जनाई, जानत तुझै तुझै होइ जाई। (तु० रा०")

शिव पुराण में यह कथा है कि-एकवार ब्रह्मा और विष्णु में यह विवाद उठपड़ा कि बड़ा कीनहै ? दोनों ही सुरश्रेष्ठ शिक्के

पास गये तो उहोने अपने ज्योतिर्छिङ्गका पता लगाने वालेको वड़ा ठहराया इसपर ब्रह्मा ऊपर चले विष्णु नीचेकी ओर सिधारे-फिर ब्रह्माने तो गी और केतकी युष्पको साक्षी देकर अपनेको अन्ततक पहुचने बाला बतलाया पर विष्णुने हार मानली-इस पर भगवानने ब्रह्माको अपूज्य और गौको मलभोजी एवं केतकीको कंटक और सर्पेका स्थान बनाकर त्याज्य करिदया-पर सत्यरूप विष्णुहीको अपनेसेभी श्रेष्ठ होनेकी आज्ञा दी-इसीसे गौका पिछला भाग शुद्ध और आगेका भाग अशुद्ध है-और केतकी शिव की नहीं च ढाई जाती, सृष्टिकर्ता होनेपर भी संसारमें यज्ञोंको छोड़कर ब्रह्मा-का पूजन नहीं होता-यह कथा लिंग पुराण तथा स्कन्द पुराणा-दिकों में भी बहुदाः पाई जाती है-इससे यह बात सिद्ध होती है कि पहिले जो यह कह आयेकि देवते आपहीके भौहकी दीहुई स-म्पत्ति भोगते हैं सो वही बात सर्वदेवश्रेष्ठ ब्रह्मा विष्णुके ऊपर अनुः ग्रह वर्णन करके दिखाई है-जिससे यह स्पष्ट है कि ये देवते ली-गभी परमशिवकी उपासना करकेही बड़े महत्त्व पदको प्राप्तहुए हैं-इस प्रकारसे परम होव देवतींका वर्णन करके अव दैत्यराक्षसादिक होवोंकामी आगे वर्णन आरंभकरते हैं॥ १०॥

र्ह्हें भाषापद्यानुवादः 😤

तुमरे ज्योती लिंगकी. महिमा बूझन लाय। ऊपर ब्रह्मा चढिचले, नीचे विष्णु सिधाय॥ थिककै अस्तुति तिन करी, श्रद्धा भक्ति बढाय। मिले आप कब नहि फलै, तुव सेवा पनफाय॥ १०॥

🔆 भाषाविम्बम् 🦂

परीछा-लेविको तुव अगम पेश्वर्ज्ज पर्दमें गये विस्तू (ष्णू) नीचे उपरि चलि ब्रह्मा थिकत मे। भजे सद्धा-(श्रद्धा)भक्ती करि तुरत आपै तिहि मिले तुह्मारी सेवासे नहिं लहत सो कौन फल है ?॥ १०॥ अयत्ना दापाद्य त्रिभुवन मवैरव्यतिकर दशास्यो य द्वाहून भृत रणकण्डूपरवशान् । शिरः पद्मश्रेणीरचितचरणाम्भोरुहबलेः स्थिराया स्त्वद्भक्ते स्त्रिपुरहर विस्फूर्जित मिदम्॥११॥

🚁 मधुसूदनी टीका 🦂

अथ बलिरावणयोरसुरयारि भगवदनुत्रहं द्शयन्स्तौति-***अयतादिति*। हे त्रिपुरहर, स्थिराया निश्चलायास्त्वद्भक्ते-**स्तव सेवायाः विस्फूर्जितामेदं प्रभावोऽयम् । किंविाशिष्टायास्त्वद्भः क्तेः। शिरःपद्मश्रेणीरचितचरणाम्भेष्ठहबलेः। शिरांस्येव पद्मानि अर्थाद्रावणस्य तेषां श्रेणी पङ्किस्तया रचितः किंएतश्चरणाम्भोरु-हयोः पादपद्मयोबिलिरुपहारो यस्यां सा तथा। रावणेन हि नविभ-निंजशिरोभिः स्वहस्तकृत्तैः शंभोरुपहारः कृते इति पुराणप्रसिद्ध-म् । किं तिब्रस्फूर्जितमित्यत आह । यत् दशास्यो रावणो वाहू-न्विरातिभुजान् । कीहराान् । रणाय युद्धाय कण्डूः खर्जूः । अतिस्पृः हेति यावत् । तया परवशांस्तद्धीनानभृत धृतवान्। रणकण्डूहिं रणेनैव निवर्तते । रणसम्भवाच सर्वदा कण्डूरेव तद्भुजेष्विति भावः। तर्हि रणं संपाद्य किमिति तत्कण्डूं न निवर्तयतीति चेन्न, प्रतिम्हाभावादित्याह । त्रिभुवनं त्रेलोक्यमवैरव्यतिकरं न विद्यते वैरस्य बिरोधस्य व्यातिकरः कारणं दर्पादि यत्र तत्तथा आपाद्य। त्रेलोक्यवर्तिनो वीरानिन्द्रादीन्स्बदास्यं नीत्वेत्यर्थः । तद्प्ययद्वादः यत्नेनेव। स्वयमेव रावणपराक्रमं श्रुत्वा सर्वे वीरा दर्पादि त्युक्तवन्त इत्यर्थः। तथा चानायासेनेव निर्जितत्रिजगता रावणस्य भुजानां कण्डूर्नेव शान्तेत्येष शौर्यातिशयो भगवद्भक्तेरेव प्रभाव इत्यर्थः। 'आसाद्य' इति कचित्पाठः । तस्य प्राप्येत्यर्थः ॥ हरिपक्षे तु । त्रीणि जाग्रत्स्वप्रसुषुप्त्याख्यानि पुराणि भक्तानां जीवानां स्वसाक्षात्कारेण हरतीति त्रिपुरहरो विष्णुः । हे त्रिपुरहर मोक्षदायक विष्णो, दशाः स्यो यत्तादशान् बाहून्भुजानभृत तत्त्वद्भक्तरेव पूर्व कृताया इदानीं फलक्षेण परिणममानायाः, अत एव स्थिराया अनेककल्पव्यवधाः

नेऽपि यावत्फलपर्यन्तं स्थायिन्यास्तव सेवाया विस्फूर्जितमिदं नाः न्यस्य प्रभावोऽयमित्यर्थः । त्वदीयवैकुण्ठपुरद्वारपालस्य पार्षद्<mark>षप्रवः</mark> रस्य ब्रह्मशापव्याजेन त्वदिच्छयैवासुरीं योनिमनुभवतोऽपि राव-णस्य त्वद्धिकप्रभावादेव निरतिशयं पौरुष मित्यर्थः। तथाच वलेवेराः चनः त्वद्भक्तेर्विस्फूर्जितमिदं यागशालायां त्वदागमनत्वत्पाणितोय-दानत्वच्चरणाम्बुजस्पर्शनादि एतत्सर्वे स्चयन्संबोधयति । हे शि-रःपद्मश्रेणीराचितचरणाम्मोरुह । अत्रापि वलेरिति सम्बध्यते । ब-लेः शिर एव पद्मश्रेणी पद्ममयी निःश्रेणिका पादविक्षेपश्रुमिस्तस्यां रचितमर्पितं चरणाम्भोरुहं येन स तथा। योगपद्मपीठे हि भगव-श्वरणारविन्दाधारत्वेन वलेः शिरोऽपि पद्मपीठत्वेन निरूपितम्! शिरःशब्दस्य नित्यसापेक्षत्वाचात्र सापेक्षसमासो न दोषाय, देव-दत्तस्य गुरुकुलमितिवत् । बलिना खलु भगवद्वामनावतारपार्थनया पदत्रयमिता भूमिर्देयति प्रतिज्ञातं, तत्र पदद्वयेनैव सर्वस्मिञ्जगति भः गवताक्रान्ते स्वसत्यपालनाय तृतीयपदस्थाने स्वशिर एव वलिना दत्तं, तच्च भगवता स्वपादाम्बुजेनावष्टव्धामिति पुराणप्रसिद्धम्। नहोताद्याः प्रसादो ब्रह्मादिभिरपि लब्धोऽस्ति। तस्माद्वलिकृताया-स्त्वद्धकेरेव प्रभावोऽयमित्यर्थः ॥ ११ ॥

条 संस्कृत टीका 🦂

(त्रिपुरहर!) हे त्रिपुरविदारक (दशास्यः) रावणः (यत्) प्रसिद्धं (अयत्वात्) विनेव प्रयासेन (त्रिभुवनं) त्रेलोक्यमात्रं (अवेद्यातिकरं) स्वरात्रसम्पर्कशून्यं, निष्कण्टकामित्यर्थः (आपाद्य) आसाद्य, कृत्वा वा (रणकण्डूपरवशान्) युद्धखर्जुपराधीनान्, स्व्धामलोलुपानिति यावत (बाहून्) भुजान् (अभृत) धृतवान् (तन्त्, शिरः पद्मश्रेणीरचितचरणाम्भोरुहवलेः) शिरांसि मुण्डान्येवपद्मानि तेषां श्रेणी पङ्कि स्तया रिचिता कृता चरणाम्भोरुहयोः पद्ममलयो बंलिः पूजोपहारो यस्यां-तस्याः (स्थिरायाः) अचलाया, दृढायाः (त्वद्भक्तेः) भवत्सेवायाः (इदं) प्रत्यक्षं (विस्फूर्जितं) विलिखं सितं, प्रतापफल मस्तीतिशेषः। अत्र रावणस्य निर्द्धन्दं त्रेलोक्यः राज्याधिपत्यरूपं फलं त्वद्भक्ते रेवेति भक्तिमहिमा यथावत्स्फुटी- इत इति ॥११॥

🚁 संस्कृतपद्यानुवादः 🥰

स्वरात्रुसम्पर्कविहीन मेत, ब्रैलोक्य मापाद्य दशाननो यः। दधार (बभार) बाहून् रणलम्पटान्स्वा, न्सङ्कामकण्डूतिवशंवदान्या॥ शिरोब्जमालारचितांविपद्म-वलेः स्थिराया भवत स्सुभक्त्याः। भक्तेष्टदानव्यतिनः पुरारे! विस्फूर्जितं त त्यकटं विभाति॥११॥

嶚 भाषाटीका 🦂

(त्रिषुरहर!) हेत्रिपुरासुरान्तक! (दशास्यः) दशमुख रावण्यां (यत्) जो (अयत्नात्) विना प्रयासहीके (त्रेलोक्यं) तीः नों लोकोंको (अवैरब्यतिकरं) अपने शत्रुवर्गसे रहित (आपाद्य) वनाकर (रणकण्डूपरवशान) संग्रामको खुजलीसे पराधीन, अर्थात् युद्धाभिलाषी (बाहून) [बीसों] भुजाओंको (असृत) धारणिकया (तत्) सो, वह (शिरः पद्मश्रेणीरचितचरणाम्मोहहः चलेः) मुंडहपी कमलोंकि मालासे कीगई है चरणारविन्दकी पूजा जिस्की ऐसी (स्थिरायाः) निश्चल (त्वद्भक्तेः) आपहीकी भिक्तिका (इदं) यह, प्रत्यक्ष (विस्फूर्जित) विलास अथवा प्रताप-फल है। आभिप्राय यहिक-कुछ प्रयत्न किये बिनाही त्रेलोक्यभरका निष्कं सक राज्य पाकर प्रातिद्वन्द्वी योद्धा नहीं मिलनेसे अपने बाहुओं की खुजलाहदको मिटानेमें जो रावण दिपत बना रहा उसका कारण अपने मुंडोंको काटकर आपके चरण कमलोंपर चढा देनेकी हढ भिल्त है-अर्थात् आपही की सेवाका उसे यह असाधारण फल मिला था। यथा—

"रन मद मत्त फिरै जगधावा। प्रतिभट खोजत कतहुँ न पावा॥ ब्रह्म सृष्टि जहँ लिंग तनुधारी। दसमुख वसवर्ती नरनारी॥" इत्यादि।

और फिर जैसीकि रावणकी उक्ति अंगदके प्रति कही गई है—
"जान उमापति जासु सुराई,
पूजे जेहि सिर सुमन चढाई।
सिर सरोज निज करहि उतारी,
पूजे अमित वार त्रिपुरारी (तु ० रा०)"॥ ११॥

🛊 भाषापद्यानुवादः 🚓

विनु प्रयास त्रेलोक मँह, करि निष्कंटक राज। भयउ दसानन भुजन धरि, परम विवस रन खाज॥ मुंड−माल पद कमल पै, तुद्धारे दियो चढाय। तुव ६ढ भक्ती विमल फल, त्रिपुरान्तक! अधिकाय॥ ११॥

र भाषाविम्बम् 🕏

बिना जले जीत्यो त्रिभुवन बली रावन सबै, भुजासाली हैंके भयउ रन-कंडू वस तबै। चढादीन्ह्यों सीसै करि कमल-माला चरन-पै तिहारी भक्तीका प्रकट फल स्वामी विदित है॥ १९॥

अमुष्य त्वत्सेवासमधिगतसारं भुजवनं बला त्कैलासेऽपि त्वदधिवसतौ विक्रमयतः। अलभ्या पाताले ऽप्यलसचलिताङ्गुष्ठशिरासि प्रातिष्ठा त्वय्यासीद् ध्रुव मुपचितो मुह्यति खलः॥१२॥

🚁 मधुसूदनी टीका 🔫

एवं वितरावणयोर्भक्तिवशादनुत्रहं प्रदर्श तयोरेव दर्पवशाक्षित्रहं प्रदर्शयन्स्तौति—

*अमुष्येति * हे त्रिपुरहर, अमुष्य पूर्व स्रोकोक्तस्य रावणस्य प्रतिष्ठा स्थितिः त्विय अलसचालिताङ्गुष्ठशिरसि सित पातालेऽप्य लभ्या आसीत्। अलसं मन्दं यथा स्यात्तथा चलितं कम्पितमङ्गुष्ठ शिरोऽङ्गुष्ठात्रं येन सित्या त्रिमन्। चलितामिति हस्वत्वं च क- म्पतेश्चलतेमित्वानुशासनात्। तथाच तवाङ्गुष्ठकम्पनमात्रेणेव तस्य वीराभिमानिनोऽधः प्रवेशोऽशक्यप्रतीकार आसीदित्यर्थः। अमुष्य कि कुर्वतः। त्वद्धिवसताविप कैलासे तव मन्दिरेऽपि स्फिटिकगिरी भुजवनं भुजवृन्दं विशातिसंख्याकं पलाद्विक्रमयतोऽतिशौर्येण व्यापारयतः। इममुत्याट्य लङ्कायां नेष्यामीत्याभिप्रायेण भुजचेष्टां कुर्वत

इत्यर्थः। कीरदां भुजवनम् । त्वत्सेवासमधिगतसारं तव सेवया समिधगतः प्राप्तः सारो बलं थेन तत्तथा । त्वत्प्रसादेनैव बलमाः साद्य त्वद्गृहमुत्पाटयतीत्यहो कृतव्रता मौक्यं चेत्यभित्रायः। एवं हि पुराणप्रसिद्धं 'भगवत्प्रसादादासादितवलेन रावणेन स्ववलप-रीक्षार्थ भगवन्निवासस्यापि कैलासस्योत्पाटनमारच्यम् । ततश्च पा-र्वत्या भीतया प्रार्थितो भगवान्कैलासस्याधोगमनार्थमङ्गुष्ठाप्रमात्रं रानैव्यापारयामास । तावन्मात्रेणैव श्लीणबलो राबणः पातालं प्र-विवेश । पुनश्च भगवता करुणया समुद्धृतः' इति । ननु भगवत्प्र-सादालुब्धवरो रावणः कथं भगवन्तं तदानीं विस्मृतवानित्यत आ-ह । ध्रुवं निश्चितं उपचितः समृद्धः सन् खलः छत्रहो मुह्यति छतं विस्मरित स्वोपचयहेतुमपि न गणयतीत्यर्थः ॥ हरिपक्षे तु । कै-लासे केलिः कीडा सैव प्रयोजनमस्येति केलः कैलोऽसिः खड्गो यः स्य सः कैलासिः। इच्छामात्रेण निर्जितसर्वशत्रोरापे तव कीडार्थ-मेव नन्दकधारणमित्यर्थः । अमुष्य बलेः त्वद्धिवसतौ त्वान्निवासे तव स्वत्वास्पदीभूतेऽपि बैलोक्ये बलान्मद्यिमिदं बैलोक्यमिति स्वत्वाभिमानाद्भुजवनं हस्तोदकं विक्रमयतः मम स्वत्वत्यागपूर्व-कमेतस्य प्रतिप्रहीतुः स्वत्वमुत्पाद्यामीत्यभिप्रायेण भगवतः पाणाः बुदकं प्रयच्छतः। कीदृशं भुजवनम्। त्वत्सेवया समधिगतः सारः सीभाग्यविशेषो येन तत्तथा। तव पाणिपन्नसंबन्धेनातितरां शोभ-मानमुद्दकमित्यर्थः। तथाच सर्वजगन्निवासस्य तव स्वत्वास्पदीभृतं यस्तरस्वकीयमिति मत्वा तुभ्यं ददतो बलेर्महानेवापराधः। त्वया तु परमकारुणिकेन प्रतिक्षातिकमत्रयमितभूमिदानेऽपि तस्य सामः र्ध्यमासाद्य तस्य (१)मत्ततानिवृत्तये योग्य एव दण्डः कृत इत्याह । त्विय अलसचलिताङ्गुष्ठाशिरासि सति तस्य प्रतिष्ठा स्थितिः पाता-लेऽलभ्यासीत का बार्ता स्वर्गमर्त्ययोः । अथवा पाताले विद्यमानः स्यापि बलेरिन्द्रादिभिरप्यलभ्या प्रतिष्ठा कीर्तिरासीत्। तत्र सर्वदा भगवतः संनिद्दितत्यादिति भावः। अलसं सलीलं चलितः काम्पः तोऽङ्कृष्ठः शिरासि अर्थोद्वलेयेन तास्मन्। यथा तृतीयाविक्रमभूम्यर्थे बिलना शिरिस प्रसारित तत्र च त्वदीयपादाङ्गुष्टसंबन्धमात्रेणैव

⁽१) 'ममता।नेषुत्तये' इति पाठ: !

तस्य पातालप्रवेशो जात इत्यर्थः। ध्रुवमुपचितो इत्याद्यर्थान्तरः स्यासः पूर्ववत्। अथवा खलोऽयमसुरो बालिरुपाचितः मुद्याति। अत्तो मोहिनिवृत्तयेऽपाचितः कर्तव्य इति भगवतोऽभिप्रायवर्णनम्। 'यः स्याहमनुगृह्यामि तस्य वित्तं हराम्यहम्' इति भगवद्वचनात्॥ १२॥

🏂 संस्कृत टीका 🦂

हे भगवन् ! इत्यध्याहार्य्यं (त्वत्सेवासमिधगतसारं) भवदारा-धनबलेनैव प्राप्तवलं "सारो-बले स्थिरांशे च। "-इत्यमर-मेदिन्यौ। (भुजवनं) बाहुसमूहं, विंशातिसङ्ख्यकत्वा द्वन मिवे त्युपमिति स-मासः। (बलात्) शक्तिपूर्वकं-"अपादाने पश्चमी"- २।३।२८। (त्वद्धिवसतौ) भवतो निवासस्थाने (कैलासे) स्वनामाविख्याते हिमगिरिशिखरे, के जले लासी यस्य सः-केलासः-"हलद्नतात्" ६। ३। ९-इत्यलुक्-तस्यायं कैलासः। अथवा केलीनां समूहः कै छं-"तस्य समृहः"-४।२।३७ इत्यण्-तेन आस्यते अत्रंति, आस उपवेशने-"हलश्च"-३।३।१२१-इति घञ्। (विक्रमयतः) स्वपः राक्रमं दर्शयतः (अमुष्य) पूर्वकथितनाम्नो रावणस्य (त्विय)-(अलसचिति।ङ्गष्ठशिरासि) अलसेन अप्रयत्ना देव चिलतं अधः कृतं अङ्गष्टस्य शिरः अग्रभागो येन सः-तस्मिन्। एताइशे त्विय भ-वित स्रोत (प्रतिष्ठा) स्थितिः (पातालेऽपि) रसातलाद्यधः प्रदे-होऽपि (अलभ्या) सर्वथा दुर्लभा (आसीत्) बभूव । अहो ! यु-क मेवैतत्। यतः (उपचितः) उत्कृष्टलक्ष्म्या सम्पन्नः समृद्धा वा (खलः) दुर्जनः (मुद्यति) मोहं प्राप्तीत्येव-इति (ध्रुवं) निश्चि तम् । अर्थान्तरन्यासेनव कारणानिर्देशः।अत्र कदाचि त्स्वभुजदर्पितो रावणः केलासपर्वत मुचलान, ततो भगवता निजाङ्गुष्ठात्रभागेन ना-मितो गिरिस्तं नितरामपी डय दिति पौराणिकी कथाऽ नुसंधेया !॥१२॥

🦫 संस्कृतपद्याऽनुवादः 🖂

त्वदीयसेवासमहावलं वलाद् ,-भुजावनं दर्शयतः पराक्रमि । दशाननस्यो द्धरतोऽ तिदर्षिणः, त्वदीयकैलासनिवासपर्वतम् ॥ अभू स्वदङ्गुष्ठशिरः प्रकम्पना-,द्रसातलेऽपि स्थिति रेव दुर्लभा । इदं परं निश्चित मेव धूर्जेटे! खलः समृद्धः खलु मुद्यति प्रभो ! ॥१२॥ क्षे भाषा टीका 🕏

हेभगवन्! (त्वदाधिवसतों) आपके निवास स्थान (कैलासे ऽपि) कैलास पर्वतमें भी (त्वत्सेवासमधिगतसारं) आपहीकी सेवासे प्राप्त हुए बलसे पूर्ण (भुजवनं) [वीसों] भुजारूपी वन् को (धिक्रमयतः) पराक्रमी दिखलाते हुए (अमुष्य) इसी पूर्वोक्त रावणकी (प्रातिष्ठा) स्थिति [रहाइस] (त्विय) आपके (अलस् चिलताङ्गुष्ठशिरसि) [सित] अलसाते हुये अंगुठाके अप्रभागको हिलादेने पर (पातालेऽपि) पातालमेंभी (अलभ्या आसीत्) नहीं मिल सकी (ध्रुवं उपचितः खलः मुह्यति) यह वात ध्रुव है कि, बढ़ा हुआ दुष्ट अथवा छत्र मोहको प्राप्त होता ही है। अभिप्राय स्पष्ट है कि—

वही युद्धकी चाटसे भुजाओं को खुजलाने वाला रावण जब अपना जोडी योद्धा नहीं पासका तो आपहीकी सेवासे बल-बला-ते हुए अपने भुजोंकी खजुली मिटानेके लिए आपहीके निवास स्थान केलास पर्वत को उठाने लगा पर जब आपने अपने अंगुठाके नोकसे दवा दिया तो उसे पातालमें भी ठिकाना नहीं मिला। जो वह आपहीसे वर पाकर आपहीको बल दिखाने लगा सो यह कोई आश्चर्य की वात नहीं है, क्यों कि ओछे लोग अथवा दुष्ट जन बरहती पाकर अबइयमेव मोहान्ध हो जाते हैं, जैसाकि कहाहै।

"विषयी जीव पाइ प्रभुताई मूढ़ मोह बस होंहि जनाई।" अथवा

"ज्यहिते नीच वड़ाई पावा, सो प्रथमिह हठि ताहि नसावा।" (तु॰ रा॰)

यों ही रावणके कैलास उठाने की बातभी रामायणमें इस रीति-से कही गई है—

"कौतुकही कैलास पुनि, लीहोसि जाइ उठाइ।
मनहुँ तालि निज बाहु बल, चला अधिक सुख पाइ॥"
अथवा अंगद्के प्रति भी रावणकी ऐसीही एक उक्ति लिखी हैयथा —

"पुनि नभसर मम कर निकर, करि कमलन पर वास।

सोभित भयउ मराल इव, संभु सहित कैलास ॥" इस्री भांति कैलासको महादेवका निवासभी लिखाँहै यथा— "परम रम्य गिरिवर कैलासू, जहाँ सदा सिव उमा निवास्"। (तु० रा०) इत्यादि॥१२॥

🚼 भाषापद्यानुवादः 🍇

सो तुव सेवन पाइ बल, निज भुजवन पनफाय।
तुव निवास कैलास गिरि, बल करि लयो उठाय॥
रिचक अगूंठा-नोकते, चापत गयउ पताल।
खल संपति पाये अवसि, परत (फंसत) मोहके जाल॥ १२॥

भू भाषाविम्बम् भू भुजोंमें सेवाते परम-बल पाई तुमहिसो, उठालेवै चाद्यो गरब-वस कैलास गिरिको। अगुंठाके दावेते दसवदन पाताल धासिगो, समृद्धी पावेते अवासि खल मोहान्ध बनतो॥ १२॥

यद्दार्द्धं सुत्राम्णो वरद परेमाच्चै रिप सती-मधश्रके वाणः परिजनविधेयात्रिभुवनः । न तच्चित्रं तस्मि न्वरिवसितारि त्वच्चरणयो-न कस्या उन्नत्यै (१)भवति शिरस स्त्वय्य वनतिः १३॥

🏂 मधुसूदनी टीका 📆

पूर्वत्र भगविद्विषये समुन्नतयोर्विलरावणयोरत्यन्तमवनिर्द्शिता।
अधुना तत्रावनतयोरिन्द्रवाणयोरत्यन्तमुन्नतिं द्शियन्हरिहरौ स्तौति—
यदिति। सुत्रामण इन्द्रस्यिद्धं संपत्तिं परमोठ्वैः सतीमप्यः
धन्नके न्यक्रतवान्। वाणो बलिसुतः। कीह्याः। परिजनविधेयविभुवनः परिजनो दासस्तद्वद्विथेयं वश्यं त्रिभुवनं यस्य, परिजनाकामिव विधेयं वश्यं त्रिभुवनं यस्येति था। स तथा उच्वैः सतीं यद्धश्चके तदन्यत्र चित्रमपि तस्मिन्याणे न चित्रं नाश्चर्यम्। कीह्शे।

⁽१) प्युन्नत्ये-इति प्रचलितः पाठः।

त्वधरणयोर्विरियसितीर नमस्कर्तिर इन्द्रसंपत्तेरप्यधः करणं त्वज्ञमस्कारस्य न पर्याप्तफलं किंत्वेकदेशमात्रामिस्याह । न कस्या इति ।
त्वियि विषये शिरसो याऽवनितर्नमस्किया सा कस्य उक्तत्यै न भवति । अपि तु सर्वामेवोक्षतिं मोक्षपर्यन्तां जनियतुं समर्था भवत्येवेत्यर्थः । अवनातिरप्युक्तिहेतुरित्यतिशयोक्तिसंकीणांऽयमर्थान्तरम्यासः । सर्वोत्छष्टत्वमचिन्त्यमिहमत्वं च भगवतः स्चयतीति भावः । हरिपक्षे तु । हे परम वरदः, सुत्रामण इन्द्रस्य बाणः शर एकोऽपि ऋदि संपत्तिमुद्यैरधोऽपि सर्ती त्रिभुवनव्यापिनीं चक्रे
इतवान् यत् तत्तास्मन्सुत्रामिण न चित्रमित्यादिपूर्ववत् । त्वत्यसादादेव सर्वानसुरानेकेनापि षाणेन जित्वा त्रिभुवनराज्यं प्रासवानिन्द्र इत्यर्थः । अत्र बाण इति शस्त्रमात्रोपलक्षणम् । कीहशोवाणः । परिजनविद्येयमायत्तं त्रिभुवनं यस्मात्स तथा । शेषं
पूर्ववत् ॥ १३ ॥

🐐 संस्कृत टीका 😤

(वरद!) हेवरदायक! (परिजनबिधेयत्रिभुवनः) स्वदासीः कृतत्रेलेक्यः (बाणः) बाणनामासुरः (यत्) कियाविशेषण मन्य-यपदं (सुत्राम्णोऽपि) इन्द्रस्यापि, किमुतान्यषां । सुष्ठु त्रायते इ-ति सुत्रामा-"आतोमनिन कनि व्वनिपश्च-" ३।२। ७४ इत्यनेन म-निन्त्रत्ययः। सु-उद्-इत्युपसर्गद्वयप्रयोगात् "सूत्रामा" दीर्घादि रपि भवति । "सुत्रामा गोत्रभि द्वजी वासवी वृत्रहा वृषा ।"-इत्यमरः। (परमोद्यः-सर्ता) परममहत्त्वं गतां (ऋदिं) समृद्धि, देवराजाधि-पत्यसम्पदमिति भावः। (अधश्वकं) तिरश्वकार (तत्) यत्तदोः र्नित्यसम्बन्धः । (त्वच्चरणयोः) भवदीयपादाम्बुजयोः (यरिषसि-तरि) शुश्रुषके वरिवस्यतीति वरिवसिता-सेवक इत्यर्थः। "नमो-बरिवश्चित्रङः क्यच्-"१।३ । १९-इति क्यच्, ततः-"क्यस्य विभाषा-" ६ । ४ । ५०-इति यलोपश्च । (तस्मिन्) बाणासुरे (चि-त्रं न) आश्चर्यस्थानं न भवति । यतः (त्विय) भवतो विषये (शिरसः) मस्तकभागस्य (अवनितः) अवनमनं, प्रणाम इति यावत् (अपि) किमु शुश्रूषणमिति-अपिभावः । (कस्य) साधारः णस्या पि जनस्य (उन्नत्ये) अभ्युद्याय (न भवति) अपित सर्वेषा

मेव महोदयदात्री सम्पद्यते इतिश्विनः। अत्र शिरसी ध्वनत्यैवी क्षति र्लभ्यते इति विरोधालङ्कारः। यदा भवतः प्रणामेनैव परमीत्कर्षलाभो भवति तदा परमाराधकेन वाणासुरेण ऐन्द्रं पद मधरीकृत श्रे त किमाश्चर्य मित्यभिप्रायः स्पष्ट एव। एतेषूक्तेषु त्रिषु श्रोकेषु परमशैवानां रावण-बाणादीनां बलप्रतापादिकथनेन प्रभारेव महिमोक्षेवणनं विशदीकृतम्। सापराधानां तामसानाः मणि निजभिक्ततत्पराणां परमानुत्राहको भवानेविति ध्वनितम्। ननु भगवन्महिमवर्णना मारभ्य किमिति परमपापिष्ठानां दैत्यराक्षसादीनां कथोच्यते-इतिचेन्न । भगवत्पादपद्मप्रणिहितमनसां केषाश्चि दिप स्मरणं
विभो स्तोषकं स्मर्नृणाश्च मङ्गलजनक भेवति।

रावणकृतं शिवताण्डवस्तोत्रं सुप्रसिद्ध मेव परन्तु वाणकृत-शिवतोटक मपि स्कन्द पुराणस्थं द्रष्टन्यम्॥ १३॥

🙀 संस्कृतपद्यानुवादः 🦂

पुरन्दरस्यापि महासमृद्धां, समृद्धि महाय महोन्नतां यत्। तिरश्चकार प्रवलपतापो, वाण स्स्वदासीकृतसर्वलोकः॥ स्वत्पादपङ्केरहसेवके तत्, तस्मिन्न वैचित्र्य मुपैति किञ्चित्। कृता त्वद्धे शिरसो नित हिं,कस्यो न्नति न्नेव करोति शम्भो! १३

🧩 भाषा टीका 🦂

(वरद!) हेवरदानोन्मुख! (परिजनविधेयत्रिभुवनः) अपने दासोंके समान वनादिया है त्रैलोक्यमात्रको जिसने ऐसे बाणः) बाणासुरने (यत्) जो (सुत्राम्णोऽपि) देवराज-इन्द्रकीभी (परमोच्चैः सतीं) बहुत बढ़ी भारी (ऋद्धि) समृद्धिको (अधराचके) नीचे करदिया (तत्) सो, वह (त्वच्चरणयोः) आपके चरणोंके (वरिवसितरि) प्रणामकरने वाले अर्थात् सेवक (तिसमन्) उस वाणासुरके विषयमें (चित्रं न) कुछ आश्चर्यजनक नहीं है, क्योंकि (त्विय) आपके लिये (कस्य) किसजनका (शिरसः अवनितः अपि) सिरका झुकाना भी (उन्नत्यै) अभ्युद्यके लिए (न भवति) नहीं होता-अर्थात् सबी प्रणाम करने वालेका महोदय होता है। भाव यहिक—त्रैलोक्यविजयी बाणासुरने जो इन्द्रकी संपत्ति को तुच्छ समझकर नीचे करदिया मो तो कोई आश्चर्यकी

बात नहीं है, क्योंकि वह आपका परम उपासक था, पर साधा-रण जन भी आपके निमित्त सिरको नीचा करे तो वडी ऊंची उन्नति को प्राप्त करलेता है। यहां पर सिरके झकानेसे ऊंची गतिका पाना वर्णन किया है-इससे विरोधालंकार तथा अतिश. योक्तिके सदित अर्थान्तरन्यास का समावेश स्पष्ट है पूर्वोक्त चारी श्रोकोंसे महावेदोपासक सत्त्वगुण-विशिष्ट विष्ण, रजीगणी ब्रह्मा, और तमोगुणप्रधान रावण बाणासुरके उत्कर्षकी कथा स-चित करके भगवानकी बड़ी भारी महिमा दिखलायी है। इस पर रावणादिक असर राक्षसोंके वल और प्रतापादिक वर्णन करनेसे पाप-कथाके उल्लेखका संदेह नहीं करना चाहिए-क्योंकि ईश्वरके बरणा-रविन्दकी उपासना करने वाले सबीलोगोंका स्मरण करना भगवानको भाता और मंगलको देताही है-इससे भगवानहीकी महिमाका प्रभाव सुचित किया गया है। क्योंकि जगदीइवर अप-नी अपेक्षा अपने भक्तोंकी बडाई सुनकर विशेष प्रसन्नहोते हैं, वे अपने सेवकोंको अपनेसे ऊपरही रक्खा चाहते हैं. जैसा कि कहा है-

"प्रभु तरु तर कपि डार पर, ते किय आपु समान।

भौर-

मोरे मन प्रभु अस विसवासा, रामते अधिक रामकर दासा''॥१३॥

जो इन्द्रासनकी करी, ऊँची संपति नीच। बाना-सुर कीहधो सबै, सेवक त्रिभुवन बीच॥ यह नहि अचरज ताहिलगि, तुव पद सेवत जोय। काहि न उन्नत करत सिर, तुवहित अवनत होय॥ १३॥

🚁 भाषाविम्बम् 🤻

करी इन्द्रासन्की तृन-सिरस सम्पत्ति महती, बनायो दासोंसा सकल जग वानासुर वली। तुह्यारे भक्तेंपे अचरज नहीं होत कछुभी, प्रनामै कर्नेसे (में) लहत नहिं को उन्नति भली (वडी) ॥ १३॥ अकाण्डब्रह्माण्डक्षयचिकतदेवासुरकृपा-विधेयस्या सी च स्त्रिनयन विषं संहत्वतः । स कल्माषः कण्ठे तब न कुरुते न श्रिय महो विकारोऽपि रलाच्यो भुवनभयभङ्गव्यसनिनः॥१४॥

मधुसूदनी टीका भ् नुः नुः

अधुना कालकूटप्रलयजलयोः संहारं दर्शयग्शंकरनारायणौ स्तौति —

अकाण्डेति। हे त्रिनयन, विषं समुद्रमथनोद्भृतं कालकुः टाख्यं गरलं संहतवतः पीतवतस्तव कण्ठे यः कल्माषः कालिमा-सीत्स कालिमा तव कण्ठे श्रियं शोमां न कुरुते किम्। अपि तु कुरुते एवेत्यर्थः। ननु भगवानितशियतिवशेषदर्शी महानर्थहेतुकं विषं किमिति पीतवानित्यत आह । अकाण्ड इति । अकाण्डेऽसमये <mark>ब्रह्माण्डक्षयो महाप्रलयो विषोमिंवे</mark>गात्संभावितस्तस्माचकिता भीता <mark>देवाऽसुरा इन्द्रबलिप्रभृतयस्तेषु</mark> कृपा दया तया विधेयस्य व<mark>र्यस्य।</mark> अन्यस्यतत्पाने सामध्ये नास्तीति विश्वत्राणाय विषं स्वयमेव पीत-वानित्यर्थः । ननु विषविकारात्कल्माषः कथं कण्ठे शोभां तनोतीत्यत आह । अहो इत्यादि । अहो आश्चर्ये । भुवनभयभङ्गव्यसनिनः परमे-इवरस्य विकारोऽपि रलाघ्यः प्रशंसनीयः । भुवनस्य लोकस्य भयं त्रासस्तस्य भङ्गो निरन्वयनाशः स एव ब्यसनं सर्वमन्यद्विहाय क्रि-यम।णत्वाद्यसनं तद्स्यास्तीति तथा तस्य । तेन जगदुपकृतिकृतं दूषणमि भृषणमेवेत्यर्थः॥ *हरिपक्षे तुः । हे त्रिनयन त्रयाणां <mark>ळोकानां नयनवत्सर्वावभासक, 'तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति</mark> सूरयः । दिवीव चक्षुराततम्' इति श्रुतेः । अकाण्डेऽकाले ब्रह्माण्ड-क्षयो महाप्रलयः । दैनंदिनप्रलयजलपूरवेगात्संभावितस्तस्माच्य-किता ये देवासुराः स्वायंभुवमनुप्रभृतयस्तद्विषयककृपावशीकृतस्य तव विषं जलं 'विषं क्ष्वेडं विषं जलम्' इत्यादिकोशात् । तच्च प्रलयकालीनं यक्षवाराहरूपेणावगाह्य पङ्कीकृत्य संद्वतवतः शोषितः वतः पङ्कव्यामिश्रणेन यः कल्माषा मलिनिमासीत्स कल्मापः स्ता-

तृभिर्वर्ण्यमानः अर्थात्स्तोतृ<mark>णां कण्डे श्रियं शोभां न कुरुते इति न।</mark> अपितु कुरुत एवेत्यर्थः । अर्थान्तरन्यासः पूर्ववत् ॥ १४॥

🚁 संस्कृत टीका 🕏

(त्रिनयन !) हे त्रिलोचन ! (अकाण्डब्रह्माण्डक्षयचिकतदेवा-सुरकृपाविधेयस्य) अकस्मा देव असमय एवेति वा, ब्रह्माण्डक्षयेण समस्तब्रह्माण्डगोलकविध्वंसेन, आकालिकप्रलयसम्भावनयेति या-वत्, चिकताः विस्मयाविष्टा ये देवा असुरा श्च तेषु कृपा विधेया कर्तव्या यस्य तस्य, अर्थात् परमकारुणिकस्य । तथा (विषं) श्लीरो-दमथनोद्भूतं कालकुटं महाविषं (संद्वतवतः) निगीर्णवतः, विष-पायिन इत्यर्थः (तव) भवतः (कण्ठे) गलदेशे, यः (कल्माषः) क्करणपाण्डुरो वर्णः। कलयतीति कल्-"किप्-"३।२।११८। माषयत्य भिभवति वर्णानिति माषः ''हन्त्यर्थाश्चे''-ति चुरादौ पाठात् णिच्-ततः कल् चासौ माषश्च कल्माषः। "कल्माषो राश्चसे कृष्णे शबले ऽपी''-ति देमचन्द्रः। नीलिमेत्यर्थः। (आसीत्, स कि श्रियं न कुठते ?) शोभां न करोति, इति (न) अपितु परमां श्रियं सम्पाद-यति । ह्रौ नजौ प्रकृतार्थ [दाळ्यं] बोधकौ भवतः । कचित् नु इत्यपि पाठ स्तत्र वितर्कें प्रथी विधेयः। (अहो!) युक्त मेवै तत्, (भुवनः भयभङ्गव्यसनिनः) सकललोकत्रासनिवारणतत्परस्य पुरुषस्य (विकारोऽपि) महान् दोषोऽपि सर्वया (इलाच्यः) स्तुत्य एव भवति । अत्र परमद्यालु भगवान् महाविषं निपीय त्रैलोक्यरक्षणार्थ मेवात्मानं नीलकण्ठ अकारे तिपौराणिकी गाथा सुप्रसिद्धा पि महिसः स्तुत्या तीवसमीचीना कृतेति द्रष्टव्यम् ॥

उक्तं च स्कन्द पु० माहेश्वर-कौमारिका-खण्डे ३३ अ०-"अकाण्डे यद्म ब्रह्माण्ड क्षयोद्यक्तं हलाहलम्। कण्ठे दधार श्रीकण्ठः कस्तस्मा त्परमो भवेत्"॥ २१॥ क्रि संस्कृतपयानुवादः क्रि

अकाण्डलोकक्षयभीतदेवा-सुरानुकम्पावशवर्तिन स्ते। य त्कालकूटं पिबतो बभूब, महाविषं व्यम्बक! नीलकण्ठ!॥ तन्नीलवर्णत्व मतीवशोभां, करोति शम्भो! भवतो नु कण्ठे। ब्रह्माण्डरक्षाकरणोद्यतस्य,श्लाच्यो विकारो ऽपि सदा महन्निः॥१४॥

🚁 भाषाटीका 😤

पूर्वेक चारों श्लोकोंमें भगवद्भकोंकी महिमाको प्रकट करके अब साक्षात् भगवानकी महिमाओंको आरंभ करते हैं। (त्रिनयः न) हे त्रिलोचन । (अकाण्डब्रह्माण्डक्षयचिकतदेवसमुर-कृपाविधे-यस्य) अचानकही सचराचर ब्रह्मांडभरको नाश होता हुआ स-मझकर घबराये हुए देवता सीर असुरोंके ऊपर दयाके बदावर्ती होकर (विषं) क्षीरसागरके मधनसे उत्पन्न हुए कालकूट नामक महा-विषके (संहतवतः) पीडालने बाले (तव) आपके (कण्ठे) कंठमें जो (कल्मायः) नीलापन होगया है (सः) वह (श्रियं न क्रुवते-इति-न) शोभाको नहीं करता है ऐसा नहीं है-अर्थात् ब-हुत बड़ी शोभाको बढ़ा रहा है (अहो)-आइचर्यसूचक अब्यय पद्है। (भुवन-भय-भक्न-व्यसनिनः) समस्त संसारके भयोंका मंगकरदेने वाले व्यसनीका (विकारोऽपि श्ठाध्यः) विकार भी स-र्षया प्रशंसाहीके योग्य हैं-अर्थात् यहिक-यिव आप उस काल-कूट विषको नहीं पीते तो समस्त संसारही उससे भस्म होजाता अतः देवता दैत्योंका भेद त्यागकर आप बड़ी दया करके उसे पी-कर स्वयं नीलकठ वनगये, इससे आपकी शोभा कुछ घटो नही वरन औरभी बढगई, क्योंकि जो कोई और सब कामोंको छोड अपने सुखको त्यागकर संसारमात्रके भयको दूर करनेमें एकाप्र चित्तसे लगजाता है उसका विगडजानाभी प्रशंसितही होता है। यही भाव स्पष्ट है जैसाकि कहाभी है।

"परहित छागि तजैजोदेही । संतत संत प्रसंसिंह तेही" ॥ "जरत सकछ सुरवृंद, विषम गरछ जेहि पान किय । तेहि न भजसि मतिमंद. को दयाछ संकर सरिस"॥ (तु०रा०)

🚁 भाषापद्यानुवादः 😤

अनायास (विनिहि काछ) ब्रह्मांड छय,-चाकित सुरासुर देखि। कालकृट विव पीलियो, तुम करि छपा विसेषि॥ स्रो नीलापन कंडमें, तुमरे सोमा देत। भव भय भंजन ध्यसनिकर, विकृति प्रसंसा हेत॥ १४॥

🚁 भाषाविम्बम् 🐴

अनायासै लोकै भसम कारिदेतो लिख विषे, उठाके पीलीहवो तुम किर दया दैत्य सुरपे। वहीं सोभा काला (नीला) पन लिगकरे कंठतल (मिन) मो, विकारो गाँव है जगत भयहारी-उपसनिको॥ १४॥

असिद्धार्था नैव क्वचि दिप सदेवासुरनरे निवर्तन्ते नित्यं जगित जियनो यस्य विशिखाः। स पश्य नीश त्वा मितरसुरसाधारण मभूत स्मरः स्मर्तव्यात्मा न हि विशिषु पथ्यः परिभवः १५

र्मः मधुसूदनी टीका क्षे अथ कामस्य जानिनिधने द्शीयन्हरिहरीं स्तेति—

*असिद्धार्था इति *। हे ईश, यस्य स्मरस्य विशिखा बाणाः सदेवासुरनरे जगित देवासुरनरादिसहिते त्रैळोक्ये जयिन उत्सृष्टाः क्षिचिद्व्यसिद्धार्था अकृतकार्या न निवर्तन्ते । अपि तु सिद्धार्था एव नित्यं जयिन एव भवन्ति । जयिन इति स्मरस्य वा विशेषणम् । नित्यं जयशीलस्यत्यर्थः । स एतादृशपौरुषवानिप स्मरः यथान्ये देवा मम जय्यास्तथाऽयमपीतीतरदेवतुल्यं त्वां पद्यन् स्मर्तव्यात्माः भृत् स्मर्तव्यः समरणीय आत्मा शरीरं यस्य स तथा । नष्ट इत्यर्थः । पद्यक्तिति हेतौ शतुप्रत्ययः । लक्षणहेतौ च शतुः स्मरणात् । 'तद्वै-तत्यद्यन्त्वविर्वामदेवः प्रतिपेदे' इतिवत् । तेनेतरदेवसाधारणत्वेन त्वद्दर्शनमेवाव्यवधानेन विनाशहेतुः का वार्ता परिभवादेरिति माः वः । तत्र कैमुतिकन्यायमाह । नहीत्यादि । हि यस्माद्वशिषु जितेन्त्रियेच्वन्येष्वपि परिभवस्तिरस्कारः पथ्यो हितो न भवति । स्वनान्शायेव संपद्यत इति यावत् । कि पुनः परमवशिनां वरे परमेश्वरे त्वयी स्पर्थः ॥ हरिपक्षे तु । हे इतरसुरसर्वविलंक्षण देव, पूर्व स्मरंत्व्यात्मा स्मृतोऽपि समरः कामस्त्वां पद्यक्षभृज्ञातः । त्यत्सकाशान्यात्मा स्मृतोऽपि समरः कामस्त्वां पद्यक्षभृज्ञातः । त्यत्सकाशान्यात्मा स्मृतोऽपि समरः कामस्त्वां पद्यक्षभृज्ञातः । त्यत्सकाशान्य

जात इत्यर्थः। पितैव बल्ल पुत्रं जातमात्रमवलोकयित, अतः पुत्रीः ऽपि तमेवावलोकयतीति पद्यन्नभृदित्यनेन जन्यजनकभावो लभ्यन्ते। कथं जातः। साधारणं तव तुल्यक्षपं यथा स्यात्तथा। आत्मा वे पुत्रनामासि' इति श्रुतेः। तीत्कं सर्वाद्योन भगवन्तृत्यः, तथा च 'न तस्य प्रतिमाऽस्ति यस्य नाम महद्यद्यः', न तत्समञ्चाभ्यधिकश्च विः धते' इत्यादिश्चतिवरोध इत्यादाङ्क्य वेलक्षण्यमाह। नहीत्यादि। विद्यादि । विद्यादि । विद्यादि । तत्र हेतुः परिभवः परिभवत्यनर्थे योजयतीति परिभवः कामः। स खलु सर्वेषां संसारबन्धस्यात्यन्तोः कछेदहेतु।रिति महद्वेलक्षण्यमित्यर्थः। असिद्धार्थो इत्यादि पूर्ववत्॥१५॥

र्ट्ढ संस्कृत टीका मुँ•

(ईश !) ईष्टे इति ईशः -तत्सम्बुद्धी,-"इगुपधत्वात्-३।१।३५ कः" हे स्वामिन्! (यस्य) कामस्य (विशिखाः) वाणाः (सदेवासुर-नरे) देवदानवमनुष्यादिसमन्विते, स्वर्गपातालमर्त्यलक्षणे, समस्ते (जगति) संसारे (कविदपि) कु विवदपि (असिद्धार्थाः) अकृत-प्रयोजनाः व्यर्था वा (नैव) सर्वदा नहि (निवर्तन्ते) किन्तु कृत फ्रत्या एव प्रत्यागच्छन्ति, अत एव (नित्यं) सर्वदा (जयिनः) विजयिनः सन्ति । 'जयिन'-इति पदन्तु 'यस्ये' तिपदस्यापि विशेष-णत्वमिच्छति। (स स्मरः) प्रसिद्धः कामदेवः-"कामः पञ्चरारः स्मर-" इत्यमरः। (त्वां) भवन्तं (इतरसुरसाधारणं) अन्यसामाः न्यदेषसददां (पद्यन्) विलोकयन्, विचारयन्, सन् वा (स्मर्तः ब्यात्मा) स्मरणीयशरीरः, अनङ्ग इत्यर्थः (अभृत्) बभृव । विनष्टो Sभृदिति यावत् (हि) यस्मात्कारणात् (वशिषु) जितेन्द्रियपुरु वेषु (परिभवः) अनादरः,तिरस्कारदृष्टि रिति वा (न पथ्यः) पथो ऽन्पेतः पथ्यः-"धर्मपथ्यर्थन्यायादनपेते-" ४।४।९२ इतियत्। कदापि सुसकारी नहि भवतीति । अत्र प्रसिद्धी मदनदहनमहिमा वदाती यथोकञ्च महाकवि कालिदासेन "कुमारसम्भवा" ख्ये काव्ये—

"क्रोधं प्रभो ! संहर संहरेति, यावद्गिरः स्न मरुता अरान्ति । तावत्स बह्नि भैवनेत्रजन्मा, भस्मावशेषं मदन अकार"॥ १५॥

🚁 संस्कृतपद्यानुवादः 🕏

स्वलक्ष्यहीनाः क्षचिदेव नासन्, मनुष्यदेवासुरमण्डलेषु । बाणा यदीया जियनो जगत्सु, सिद्धाः सदा नैव कदाण्यसिद्धाः॥ स कामदेवोऽ न्यसुरै स्समानं, सामान्यक्रपेण बिलोकयन् त्वाम्। अनक्षतां प्राप जितेन्द्रियेषु, अनाद्रो नैव कदापि पथ्यः (कार्यः)। ६५॥

🛊 भाषा टीका 🕏

(ईश!) हेनाथ! (यस्य) जिस कामदेवके (विशिखाः) बाण (सदेवासुरनरे) स्वर्ग-पाताल और मर्खलोकके रहने वाल देवता दैत्य और मनुष्योंके सहित (जगित) ब्रह्मांडमें (कचिद्यि) कहींपर भी (असिद्धार्थाः) अपने कार्यको विना साधे (नैव नि-वर्त्तन्ते) कदापि छै। टतेही नहीं हैं एवं (नित्यं जियनः) सर्वदा विजय-बाालीही बने रहते हैं। (स स्मरः) वही कामदेव (त्वां) आपको (इतरसुरसाधारणं) दूसरे सब सामान्य देवतोंके समान (पदय-न् [सन्]) देखता हुआ अर्थात् एक साधारण देवतासा सम झता हुआ (स्मर्तव्यातमा) स्मरणकरनेके योग्य है शरीर जिसका, अर्थात् अनुक्ही (अभूत्) होगया, (हि) क्योंकि (विशिषु) जिते न्द्रिय लोगोंमे (परिभवः) अनादर करना (पथ्यः न) उचित, अ-थवा सुस्रकारी नहीं होता-अभिप्राय यहिक जिस कामदेवके बाण समग्र ब्रह्मांडमे कभी व्यर्थ नहीं होते वरन सदैव विजयी बनेरहते हैं ऐसा महाधनुर्धर बह कामदेवभी आपको साधारण देवतासा-समझ आपकी दृष्टि फिरते ही जलकर छार होगया-अर्थान्तर न्या-ससे बातको पुष्ट करते हैं कि-सच है जितान्द्रिय पुरुषोंके अपमान करनेका ऐसाही फल मिलता है-यह कथा प्रायः सभी पुराणोंमें-पाई जाती है वरन शिव पुराणमें तो इसका बडा विस्तार है-जि-सका कुछ धोडासा अंश गो॰ तुलसी दासजीने अपने रामायणके बालकांडमें भी अनुवादित किया है-उसीके अंतमें यह लिखा है-यथा-

'भयत ईस मन छोभ विसेषी, नयन उद्यारि सकल दिसि दे सी। सीरम पल्लब मदन विलोका,
भयउ कोप कंपेउ त्रय लोका ।
तव सिव तीसर नयन उधारा,
चितवत काम भयउ जरि छारा।
हाहाकार भयउ जग भारी,
डरपे सुर मे असुर सुखारी-इत्यादि" (तु० रा०)॥ १५॥

😤 भाषापद्यानुवादः 🕰

देवा-सुर-नरमें कतहुँ, कबहुँ न होइ असिद्ध । जाके लौटत (फिरते) बान निह, विजयी जग परसिद्ध॥ भो अनगं सो काम लखि, तुहि सब देव समान । होत जितेन्द्रिन पै नहीं, हितकारी अपमान ॥ १५॥

🐐 भाषाविस्वम् 🦂

विना काज साध कतहुँ नर-देवा-सुरन में, नहीं लोटे आवें कवहुँ विजयी बान जिहिके। भयो कामे छारो इतर सुरसो बूझि तुमको जितेन्द्रीसे ढीठापनहु (न) सुखकारी कहुँ भयो ?॥ १५॥

मही पदाघाताद् व्रजिति सहसा संशयपदं पदं विष्णो भ्रीम्यद्भुजपरिघरुगणग्रहगणम् । मुहु चौ दौंस्थ्यं यात्य निभृतजटाताडिततटा जगद्रक्षायै त्वं नटिस ननु वामैव विभुता ॥१६॥

🗱 मधुसूदनी टीका 🦂

अथ जगद्रक्षणार्थे नर्तनावतरणे दर्शयन्हरिहरी स्तीति— •महीति*। हे ईश, जगद्रक्षाये त्वं नटिस मृत्यासे। संध्यायां जगन्ति जिद्यांसन्तं वरलब्धतत्कालबलं महाराक्षसं निजताण्डवेन मोहयसीत्यर्थः। त्वं तु जगतां रक्षाये नृ(१)त्यसि, जगन्ति तु त्वत्ताः

रे. 'नटासे' इति पाठः।

ण्डवेन संशयितानि भवन्तीत्याह। महीत्यादि। तव चरणाघातेन सहसा संशयपदं संकटं मही व्रजति । तथा विष्णोः पदमन्तरिक्षं भ्राम्यद्भुजपरिघरुग्णग्रहग्णं भुजा ,पव परिघाः अतिसुवृत्तपीवरः हृद्धश्चित्वात्तेर्भाम्यद्भिभुजरूपपरिघै रुग्णाः पीडिताः प्रह्मणा नक्षत्र समुहा यत्र तत्तथा संशयपदं वजतीत्यर्थः। तथा द्यौः स्वर्लोकः अ निभृता असंवृत्ता या जटास्ताभिस्ताडितं तटं प्रान्तदेशो यस्याः सा तथा मुद्रदीस्थ्यं दुःस्थत्वं याति पवं च क्रमेण त्रयाणां लोकानामीप संशयो दर्शितः। नन्वसौ सर्वश्रोऽप्यपायमपर्यालोचयन्नेव किमित्येयं-विधताण्डवे प्रवृत्त इत्यत आह । निविति । नतु अहो विभुता परम-महत्ता । प्रभुतेति यावत् । वामैव प्रतिकुलैव । अनुकुलमाचरत्यपि किञ्चित्प्रतिकुलमवश्यमाचरतीत्येवशब्दार्थः । दश्यते हि स्वल्पकेऽपि राजनि स्वदेशरक्षणाय सेनया सह संचरति स्वदेशोपद्रवः, किमृत ताहरो महेरवर इत्यर्थः। हरिपक्षे तु । हे ईराः त्वं जगद्रक्षाये नटिस नटवदाचरिस । नटशब्दादाचारार्थे क्विपि प्रत्ययलोपे नटसीति रूपम्। मत्स्यादिभूमिकां भजसीत्यर्थः। कस्यामवस्थायां जगद्रश्रः णार्थमवतरणमित्युच्यते । महीपादित्यादि । महीं पातीति महीपो राः जा तस्मादाघातात्सा मही सह समकालमेव संशयपदं वजित। आ समन्ताद्धातो नाशोऽस्मादित्याघातो हिस्रः। तथा च यदैव हिः स्त्रस्य राज्यं तदेव संकटं वजतीत्यर्थः। तथा च विष्णोः पदमधिष्ठानं यत्र भगवान्विष्णुः स्वविभृतिभिः सह पूज्यते तद्विष्णोः पदं देवयज-नाख्यं यश्वशालादि । तत्कीदशम् । भ्राम्यद्भिभुजस्थपरिधैभुजरूपपः रिधैर्वा रुग्णो भय्नो प्रहगणः सवित्रादिरूपः सोम(१)पात्रसमूहो यत्र तत्त्रथा यागादिशुभकर्माणि यदा ध्वस्यन्ते तदेत्यर्थः। तथा द्यौरी स्थ्यं याति । अनिभृतजदाः पाखण्डवतचिन्हभृतास्ताभिराताहितं अभावमिव गमितं तदं तुङ्गं पदं सत्यलोकाष्यं यस्याः सा तथा। पालिएडभिहि वैकुण्ठलोकोऽपि नाङ्गीकियते कि पुनरिन्द्रादिलोक इत्यर्थः । यदा चैवं तदा त्वं नद्भवदाचरसीत्यर्थः। तथाच भगवद्वचनं गीतासु-'यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत । अभ्युत्थानमध-र्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥' इति । श्रीभागवते च-'यर्द्यालयेष्वपि

⁽१) 'पात्रविशेषसमूही' इति पाठः।

सतां न कथा हरेः स्युः पास्तिष्डिनो द्विजजना वृषला नृदेवाः । स्वाः हास्यधावषिति स्म गिरो न यत्र शास्ता भविष्यति कलेभेगवाः न्युगान्ते ॥' इत्यादि । निन्वच्छामात्रेणैव जगन्ति रक्षितुं क्षमोऽपि कि मत्स्यादिकपैः क्विष्यतीत्यत आह । निन्वत्यादि । नजु निश्चितं विभुता विभववत्ता । संपन्नतेति यावत् । वामैव वक्षेष । सत्यप्यृजो प्रकारे वक्षेणैव प्रकारेण स्वसंपत्ति सफलियतुं संपन्नः कार्ये करोती-त्याः । तेनाष्ट्रविधमैद्दवर्यमौ(१)स्पात्तकं दर्शयन्मकानामभिष्यानाय तानि तानि श्रवणमनोहराणि वरितानि तेन तेनावतारेण धत्ते भगः वानिति भावः ॥ १६॥

हे विभो ! यदा (त्वं जगद्रक्षाये) जगतां रक्षणाय, रक्षसाश्च प्रतारणाय (नटिस) नृत्यसि, नाट्यं करोषि। तदा (मही) भूमिः। "क्मा वनि मेदिनी मही"-त्यमरः। महाते इति महिः—"अचः इः"-४।१।३९-उ० । "कृदिकारादक्तिनः"-४.१।४५-ग०-इति ङीष्। 'वीचिः पङ्कि मीहेः केलि रित्याद्या हस्वदीर्घयो"-रितिवाच॰ स्पतिः। भूलोको वा। लोको यथा ऋग्वेदे-३ ५६।२-"तिस्रो मही-हपरा स्तस्थुः"-महीः लोकाः] इति तद्भाष्ये सायनाचार्यः। (पाः दाघातात्) चरणविन्यासकपताडनात् (सहसा) झटिति (संशय पदं) उत्पतित अथवा अधः प्रयातीति सन्देहस्थानं (ब्रजति) गच्छति । तथा च (विष्णोः पदं) आकारां, भुवलोंको वा-"विय द्विष्णुपदं वापि पुंस्या काशविहायसी-"त्यमरः (भ्राम्यद्भजपरिघ-रुगणप्रहगणं)-सञ्चालितबाहुरूपपरिधै रवरुद्धो भग्नो वा नक्षत्रवर्गी-यस्मिन् तत् तथा भवति । अर्थाद् भुजपरिचालनकर्मणैव प्रहगणः समृहो भुग्नो भवति । एवं (द्यौः) स्वर्गः स्वर्ह्होक इत्यर्थः (मुहुः) वारं वारं (अनिभृतजदाताडिततदा) असंवृतजदाकलापैस्ताडितं तदं ब्रान्तभागो यस्याः सा-तथोक्ता सती (दीस्थ्यं) दुःस्थत्वं दुःरवस्थत्वं वा (याति) प्रयाति (नतु) इति वितर्भे (विभुता) वैभव मैर्वर्यं तु (वामैव) प्रतिकृते व भवति । तर्हि त्वन्तु जगद्रक्षार्थमेव नटसि,

⁽१) 'क्वर्यमाल्यायेक' इति पाठः ।

परम्तु तेन कर्मणा भूर्भुवःस्वर्लोकानां सर्वेषाञ्च प्रस्य एवोत्पद्यते, तत स्त्वत्ताण्डवं विनाशकर मिति चेन्न।

प्रलयाग्निशिखादग्धं, पुन कत्पचते जगत्।
प्रकृष्टलयसंयुक्तं, प्रलयं ताण्डवं विभोः (हि तत्)॥१॥
क्षेत्रेषु धान्यलवनं, शराणां मूलदाहनम्।
बीजाङ्कुरादिकुर्ख्यं, जायते दृश्यते स्फुटम्॥२॥
ताण्डवाडम्बर स्तद्व, त्प्रलयानलतापितान्।
परमाण् न्प्रकुरुते, सृष्टियोग्या न्पुनः स्वयम्॥३॥
अतोऽस्य नर्तनं लोक-रक्षायाः कारणं परम्।
विचारणीयं विद्वद्भि-र्महामङ्गललक्षणम्॥॥॥इतिदिक्॥१६॥

🌞 संस्कृतपद्यानुवादः 🦂

व्रजित संशयतां सहसा मही, चरणताडनतो भवतो विभो !।
भुजलताविहता प्रहतारका, गगनमध्यगता वितता दुतम्॥
भजित दौरथ्य मथो त्रिदशालयो, निभृतशुद्ध (भ्र) कपईतटाहतः।
नटसि य ज्जगता मभिगुप्तये, कठिनता सुपयाति हि वैभवम्॥१६॥

🏂 भाषा टीका 😤

हे भगवन्! जब कर्मी (त्वं) आप (जगद्रक्षाये) संसार की रक्षाके लिए (नटिस) तांडव करते हैं, अर्थात् नाचने लगते हैं, तो (मही) पृथिवी, अर्थात् भूलोक (पादाघातात) पैरोंके चोट से (सहसा) तुरतही (संशय पदं) संदेह की भूमी, अर्थात कभी तो उपरको उभड़ आती है और फिर नीचेको धंस जाती है स्स कारणसे संदेह पदको (ब्रजति) चली जाती है। (विष्णोः पदं) आकाशमंडल, अथवा भुवलोंक (ग्राम्यद्भुजपरिघरुगणप्रहगणं) मवित । घूमते हुए बाहुरूप परिधों [बेंवडों] से रुकगये हैं प्रह गण जिसमें-ऐसा हो जाता है। अर्थात् आपके हाथ हिलाने से प्रह और नक्षत्रादिकों की गति रुकजाती है। तथा (द्योः) स्वर्गलोक (मृहुः) खारं बार (अनिभृतजटाताडिततटा) [सती] निरंतर जटाओं से उक्कर खा रहा है कोर जिसका-ऐसा होकर (दीस्थ्यं)

दुरवस्थताको (याति) प्राप्त होता है। ऐसा क्यें। होता है ? इस-पर कहते हैं कि-(ननु विभुता वामा एव) अहो ! वैभव तो टेढा होताही है। भाव यह है कि आपतो संसारकी रक्षाहीके लिये तांडव करते हैं पर उससे तीनोंही लोकोंकी दुईशा होने लगती है क्योंकि पेश्वर्य तो सदा प्रतिकृल होताहीहै। इसपर यह शंका होती है कि सर्वज्ञ और सर्वान्तर्यामी होकर जो महादेवजी संसार के हितके लिए नाचते हैं उससे ब्रह्मांडभरका नाशही होने लगता है, तो फिर उनका नाचना भला कैसे कहा जा सकता है ? इसका समाधान यह है कि- भगवान जब नाचते हैं तो उनके तांडवहीसे अलयानल उत्पन्न होकर सारी सृष्टि को भस्म कर देता है-फिर उसी भस्म होने के कारणसे पृथिवी-इत्यादि पांचों भूतों के पर-माणु सृष्टिके लिये विशेष उपयुक्त हो जाते हैं, जैसे कि सरहरी का जुट्टा फूंक देनेसे विशेष पनफने लगता है-उसी भांति महा रुद्रके तांडव से सृष्टिकार्य का विशेषतः उपकारही होता है-पर जो हानि देख पड़ती है उसका कुछ दूसरा कारण नहीं है केवल इत-नाही भर समझलेना चाहिए कि-एश्वर्यशाली लोगोंके प्रबंध करने में प्रायः बहुतेरी वार्तो का उलट फेर हुआही करता है। अतः शिवजीके तांडव से संसारकी रक्षाही होती है-यह सिद्ध है।

पतिद्विश्व यह बात प्रत्यक्ष है कि, साधारण राजे महाराजे लोग भी जब अपने देश अथवा राज्यके रक्षणावेक्षणके लिथे दौरा पर जाते हैं तो प्रजालोगों का हित तो ऐसाही तैसा होता है पर भारी संकटका सामना करना पड़ता है थोड़े दिन हुए कि हमारे वर्तमान महाराजपंचम जार्ज प्रिंस आफ वेल्स रूपसे-जब भारतवर्षमें प धारे थे तब उनकी सवारीनिकालनेके प्रबन्धमें मासों पूर्वहीसे वना-रसमें कितनेही लोगोंका मार्ग चलना रोकदिया जाताथा-िकर अबभी छोटे मोटे कर्मचारी गण प्रतिवर्ष शीतकाल में प्रजा (रेय्य-त) लोगोंके सुवीतेहीके लिये अपने प्रान्तके प्राम्यप्रदेशों (देहा-तों) में दौरा करने जाते हैं-उनका अभिप्राय प्रजाओंको सुख (आ-राम) देनेहीका है, पर प्रजागणको जो जो सुख अथवा दुःख प्राप्त होते हैं—उसे वेही लोग समझसकते हैं जिहे कभी दौरा में अपने विचार (मोकदिमे) के लिए जानेका सौभ ग्य प्राप्त हुआ होगा-प्यांकि न तो वहां खाने की सामग्रीही मिलती है, न रहनेके लि-ए कहीं ठिकाना लगता है किर सहायक (वकीलमुखतारों) का बे-तन (फीस) और यान (एका) की भृति (केराया) तो दूनेसे कभी घटती ही नहीं तो कहिए जब साधारण मनुष्यों के ऐश्वर्य का ऐसा टेढा फल चखना पड़ता है तो उस सर्वाधिष्ठाता देवाधि-देवके तांडवसे त्रेलोक्य मात्रका थल उथल होजाना क्या असम्भ-वहै ? इसीलिए कहागया है कि—"ननु वामव विभुता")

👫 भाषापद्यानुवादः 🦂

पदाघातते अवनितल, संसय (संकर) भरो लखात।
नभ भाँजत (घूमत) भुज परिघ लगि, तारागन किजात॥
होत जटा फटकारते, सरग (स्वर्ग) दुखी बहुवार।
जग रच्छा लगि (हित) नटहु पै, वैभव कठिन विकार ।१६॥

र्हें। भाषाबिम्बम् 😤

लगेते पैरोंके धरनितलमें संसय छये, (ई) उठाये हाथों के गगनमहँ तारा रुकिगये (ई)। जटाके फट्कारे सरग सगरो खल्वल मची, जगत्-रच्छा लागी (हेतू) नटहु विभुता टेढिहि रची१६॥

वियद्यापी तारागणगुणितफेनोद्रमरुचिः प्रवाहो वारां यः १षतलघुदृष्टः शिरासि ते । जगद्दीपाकारं जलधिवलयं तेन कृत मि-त्यनेनै वो न्नेयं धृतमहिम दिव्यं तव वपुः ॥१७॥

🔁 मधुसूदनी टीका 🤻

अध गङ्गाया उद्धरणधारणे दर्शयन्हरिहरों स्तौति—

#वियदिति । हे ईश, अनेनैव छिङ्गेन तव दिव्यं दिवि भवं
स्वदेवनियन्तु वपुः शरीरं धृतमहिम सर्वेभ्यो महत्तरं उन्नयमूहनीयम्। तव वपुषः सर्वमहत्तरत्वमेतावतापि निश्चेतुं शक्यं किमिति

प्रमाणान्तरमत्रापेक्षितब्यमिति एवकारार्थः। इतिशब्दः प्रकारार्थे। प्रवंप्रकारेण लिङ्गेनेत्यर्थः। तमेव प्रकारं दर्शयति । वियदित्यादि । वियदाकारां व्याप्नोत्याच्छादयतीति तथा तारागणेन नक्षत्रवृन्देन स्वान्तःपातिना गुणिता शुभ्रत्वादिगुणसजातीयत्वाद्वधिता फेनांद्रः मरुचियस्य स तथा एताइशो वारां प्रवाहः स तव शिरासि पृषत-लघुरष्टः पृषताद्विन्दोरिप लघुरल्पतरः पृषतलघुः स इव इष्ट आ लोकितः। तेन तु वारां प्रवाहेण जल। धिवलयं जगद्वीपाकारं कृतं जलधीनां चुन्दं जगद्भूलोको द्वीपाकारं जम्बूद्वीपादिसप्तकक्षपं य-सिमस्तथा विहितम्। 'अगस्त्येन हि सप्तसु समुद्रेषु पीतेषु पुनर्भगीः रथानीतगङ्गाप्रवाहेणैव तेषां पूरणं जातम्' इति पुराणप्रसिद्धम् तथाच यो जलराशिस्तव शिरसि विन्दोरप्यल्पो दृष्टः स एवात्र कियान्मन्दाकिनीनाम्ना वियद्याप्यास्ते, कियान्भागीरथीति गङ्गेति च प्रसिद्धो भूलोके सप्तसमुद्रानापूर्यास्ते, कियांस्तु भोगवतीति संश्रया पातालमभिन्याप्यास्ते इत्यनेन तव दिन्यवपुषी महत्त्वमनु-मीयते इत्यर्थः ॥ हरिपक्षे तु । तारागणेर्गुणिताः फेना यस्याः सा तारागणगुणितफेना गङ्गा तस्या उद्गमे उद्भवे रुचिः शोभा यस्य स तथा शिरासि सर्वलोकानां शिरःस्थानीये ब्रह्मलोके बलिछलनोत्थि-प्तचरणाङ्गष्ठनिर्भिन्नब्रह्माण्डविवरादागतो गङ्गोत्पत्तिहेतुर्वियद्यापको यो वारां प्रवाहः स ते त्वया पृषतलघुदृष्टः बिन्दोरिप लघुदृष्टः। बिन्दोरिप लघु यथा स्यात्तथोपलक्य इत्यर्थः। अनेनैव लिङ्गेन च तव दिव्यं वपुः बलिछलनार्थे दिन्याकादो आविभीवितं वैविकमं रूपं धृतमहिमोन्नेयम् । शेषं पूर्ववत् ॥ १७ ॥

🧩 संस्कृत टीका 🦂

हेभगवन् ! (वियद्व्यापी) आकाशवद् व्यापनशीलः (तारा गणगुणितफेनोद्गमरुचिः) तारागणो नक्षत्रसमृह स्तेन गुणिता उ पमिलिता तद्वत्तां प्रापितेति यावत्-फेनोद्गमस्य हिंडीरोत्पत्तेः रु चिः शोभा यस्य स पतादशः (यः) प्रसिद्धः (वारां) जलानां-"आ-पः स्त्री भूम्नि वा वारी" त्यमरः (प्रवाहः) स्रोतः ओधो वा (ते) तव (शिरसि)शिरः स्थितजटाजूरे-इत्यर्थो लक्षणया। (पृषतल-पुरशः) विन्दुसदशस्मस्पो विलोकितः-"पृषन्ति विन्दुपृषता-" इत्यमरः। (तेन) प्रवाहेण (जलिंघवलयं) समुद्ररूपपरिखावेछितं (जगत्) भुवनं (द्वीपाकारं) भूखण्डसदद्यां (छतं) विनिः
मितं (अनेनैव) हेतुना (नव) भवतः (दिव्यं) सर्वोत्कृष्टं (बपुः)
धारीरं (धृतमिहम) महामिहमिशालि, केचि त्सम्बुद्धिपद् मेत दित्यादुः। तत्र धृतो मिहमा सर्वज्ञत्वं सर्वकर्तृत्व अयेनेति योज्यम्।
(इति) एवं विधं (उन्नेयं) ऊहनीयं बोध्य मित्यर्थः। कदाचि दः
गस्त्यमुनिना पीते समुद्रे शुष्कता क्रते स्ति शिवशिरःस्थितया
विन्दुरूपता मिभगतया गङ्गये वापूर्यमाणः सागरो जगत्परिखारूपो
वरीवर्ति। इमा मेव पौराणिकीं कथा मवलस्वये दं गङ्गाधररूपमिह
मवर्णनं सुष्ठुकृत भिति विचारणीयं बिद्वद्भिरिति एव मेवोक्तं च
स्कन्दपु॰ माहेश्वर—कीमारिकालण्डे ३३ अ०—

"वियद्यापी सुरसरि त्रवाहो विप्रुषाकृतिः। वभूव यस्य शिरासि कस्तस्मात्परमो भवेत्"॥२३॥ इति ॥१७॥

🧩 संस्कृतपद्यानुवादः 🦂

यो व्योमवर् व्यापकशीलता ङ्गत,-स्तारागणाशङ्कित (वर्धित)
फेनकान्तिमान् ।
वारिप्रवाहो लघुविन्दुरूपधृक्, शम्भो! जटाजूटतटे तवे क्षितः ॥
कृतं जग त्तेन समुद्रवेष्ट्यं, द्वीपस्वरूपं जलमध्यवार्ति ।
महामहिम्ना महितं त्वदीय, मनेन दिव्यं वपु कहनीयम् ॥१॥

嶚 भाषा टीका 😤

हे स्वामिन्! (वियद्वधापी) आकाशके समान सर्वत्र भरा रहने वाला (तारागण गुणितफेनोद्रमरुचिः) नक्षत्र समृहसे गुनी गई है फेनके निकलनेकी शोभा जिसकी-ऐसा (यः) जो (वारां प्रवाहः) जलोंका स्रोत (ते शिरिस) आपके मस्तक पर अर्थात् जटाजूटमें (पृषतलघुरुषः) वृंदके समान छोटासा देखपडता है (तेन) उसी प्रवाहसे (जलिधवलयं) समुद्रसे घेराहुआ (जगत्) संसार (द्वीपाकार) धीपके आकारका अर्थात् द्वीपरूप (कृतं) करिद्या गया (अनेनैव) एक इसी कारणसे (धृतमिहम दिव्यं) वड़ी भारी महिमाको धारणिकये हुए, परमिवृंब्य (तव वषुः)

आपका शरीर (ऊहनीयं) समझनेके योग्य है। शिवपुराणादिकों में यह कथा प्रसिद्ध है कि जब अगस्त्य मुनि सब समुद्रोंको पीगये तो राजिष भगीरथके साथ आकर श्री गंगाजीने अपनेही प्रवारहिसे उन सबको पूरा किया—वही बात इस स्रोकमें दिखलाई गई है। तात्पर्य्य यह कि जो जल आपकी जटामें एक बूंदसा झलकता है उसीसे सब समुद्र भरगये जिनसे यह जगत् टापूके समान बनगर्या-वस इसीसं आपके शरीरकी महिमा प्रकट है। यह गंगाधर कपकी महिमा कही गई है-गङ्गाजीका वर्णन यद्यपि रामायणमें कर्क स्थानों एर मिलता है परयहां पर केवल इतनाही उद्धृत कि याजाता है—

"गङ्ग सकल मुद मङ्गल मुला, सब सुख करान हरनि भव सूला। कहि कहि कोटिक कथा प्रसङ्गा, राम विलोकत गङ्ग तरङ्गा॥" (तुः रा०)॥ १७॥

😤 भाषा पद्यानुवाद, 🦂

तारा गन सम फेन रुचि, ब्यापक मनहुँ अकास। लिखयत तुमरे सीस पै, जल लघु बूद विलास॥ अंबुधि-परिखा द्वीपसम, तासो जगत घिराय। याते तुव बपु दिब्यकी, महिमा जानी-जाय॥१७॥

🧎 🙀 भाषा विम्बम् 🖂

अकासैमें फैठी ग्रहगन-रुची फेन-उबली, जलों की जो धारा तुव सिरसि बून्दों सम लखी। वहीते द्वीपों (टापू) सा जगत जलधोवेष्टित भयो, यहीसे जानी है वपुष—महिमा दिव्य तुमरो॥ १७॥ रथः क्षोणी यन्ता शतधृति रगेन्द्रो धनु रथो रथाङ्गे चन्द्राकौँ रथचरणपाणिः शर इति । दिधक्षो स्ते कोऽयं त्रिपुरतृण माडम्बरविधि— विधयेः क्रीडन्त्यो न खलु परतन्त्राः प्रभाधियः॥१८॥

🕏 मधुसूदनी टीका 🥞

अथ लङ्कात्रिपुरदाही दर्शयन्हरिहरी स्तीति—

 *रथ इति * हे ईश ! त्रिपुरतृणं दिधक्षास्तव कोऽयमाडम्बर-विधिः त्रयाणां पुराणां समाहारस्त्रिपुरं तदेव तृणं अनायासनाइयः त्वात् । तद्दग्धुमिञ्छोस्तव केयं महत्प्रयोजनमुद्दिश्यैव संभ्रमरचना । निह लौकिका अपि नखच्छेये कुठारं परिगृह्धन्ति, अतस्तवात्यन्पे प्रयोजने न महान्प्रयास उचित इत्यर्थः। आडम्बरविधिमव दर्शय-ति । रथ इत्यादि । क्षोणी पृथ्वी रथक्रपेण परिणता, रातधृतिर्व्रह्मा यन्ता सारथिः, अगेन्द्रः पर्वतश्रेष्ठो मेरुः धनुः कोदण्डं, सोमसूर्यौ हे चक्रे, रथचरणं चक्रं तद्युक्तपाणिर्विष्णुः दारो बाणः, चतुर्थवा-क्ये श्रुतोऽप्यथोशब्दः सर्वत्र वाक्यभेदाय योजनीयः। इतिशब्दः प्रकारार्थः । त्रिभुवनमपीच्छामात्रेण संहरतस्तवैवंप्रकारेण साम-श्रीसंपादनमाडम्बरमात्रमित्यर्थः । एवमाक्षिष्य परिहारमाह । विधे-यैरित्यादि । खलु निश्चितं प्रभोरीइवरस्य धियो बुद्धयः संकल्पविशे-षाः परतन्त्राः पराधीना न भवन्ति, अपि तु स्वतन्त्रा एव । ताः की-हृश्यः । विधेयैः स्वाधीनैः पदार्थैः क्रीडन्त्यः खेळन्त्यः । निह् क्रीडा-यां प्रयोजनाद्यपेक्षास्ति । तस्माद्विचित्राणि वस्तुनि स्वाधीनतया क्रीडासाधनीकृत्य क्रीडतस्तव सर्वाणि कार्याणि स्वेच्छामात्रेण कः र्तुं क्षमस्य लौकिकवैदिकनियमानधीनबुद्धेर्न किञ्चिद्प्यनुचितमित्यः र्थः ॥ हरिपक्षे तु । त्रीणि त्रिक्टिगिरिशिखराणि पुराण्याश्रयो यस्येति त्रिपुरं लङ्कापुरं तदेव तृणं तद्दग्धुमिच्छोस्तव कोऽयं श्रीरामक्पेण सु व्रीवसख्यसमुद्रवन्धनादिश्चाडम्बरविधिः। रथः श्लोणीत्यादिरूपकं। क्षोणीव रथः, रातधृतिरिव यन्ता, अगेन्द्र इव धनुः, चन्द्रार्काविव-रथचके, रथचरणपाणिरिव शरः, स्वतुल्यवीर्यो बाण इत्यर्थः। श्लो-

ण्यादिसदशरथाद्यपादानमेतादशात्यरूपप्रयोजनायापेक्षितुमुचितं न भवतीत्यर्थः । शेषं पूर्ववत् ॥ १८ ॥

🧩 संस्कृत टीका 😤

हेप्रभो ! (त्रिपुरतृणं) त्रयाणां पुराणां समाहार स्त्रिपुरं, तदेव-तृण मिव अतितुच्छ मित्यर्थः (दिधक्षोः) दग्धु मिच्छोः (ते) तव (अयं कः आडम्बरविधिः ?) किं प्रयोजन मुद्दिश्ये यं संभ्रमरच-ना, आयास इति वा। अत्यत्पे ऽपि कार्ये किमिति महा न्प्रयासः स्वीकृत इति यावत्। त मेवा डम्बरीवींध विवृणोति-(क्षोणी) पृ-थिवी-'क्षोणि ज्यां काइयपी क्षिति"-रित्यमरः । (रथः) यानं, रथ-रूपा कृता, एवमेव (अथा) पर्मिष सर्वत्र यथाव द्योजनीयमिति, (शतध्वतिः) ब्रह्मा (यन्ता) सार्राधः कृतः (अगेन्द्रः) गिरिश्रेष्ठः सुमेरुः (धनुः) चापः कृतः (चन्द्रार्की) सोमसूर्यी (रथाङ्के) द्वे चके विहिते, "रथाङ्गं न द्वये चक्रे ना चक्राङ्गविहङ्गमे-"इति मेदिनी (रथ चरणपाणिः) चक्रपाणि, विंष्णुः (शरः) बाणः कृतः (इति)-श-ब्दस्तु प्रकारार्थः, एवं विध इति वा। महाकालरूपेण त्रैलोक्यप्रलः यकारिणस्तवै तादशरणसामग्रीसज्जीकरण माडम्बरविधान मेवेति यावत् । अथाक्षेपं परिहरति । (खलु) इति निश्चयेन (विधेयैः) स्वायत्तपदार्थः सेवकजनै वां (क्रीडन्त्यः) खेळां कुर्वन्त्यः (प्रभु-धियः) प्रभूणां महतां बुद्धयः सङ्कल्पविशेषाः (परतन्त्राः) परा-धीनाः (न) कदापि न भवन्ति । अर्थात् क्रीडाकाले प्रयोजना-द्यपेक्षा न सम्भवति । इयं त्रिपुरदाहकथा शिवपुराणादिषु प्रसि द्वेवास्ति तथा प्यत्र महिमवर्णनार्थ मेव संक्षिप्तरूपेणा पन्यस्ते-ति । स्कन्दपु० माहेदवरकौमारिकाख० ३३ अ० क्षाणी रथा विधिर्यन्ता शरोऽहं मन्दरी धनुः। रथाङ्गे चापि चन्द्रार्की युद्धे यस्य च त्रेपुरे ॥२५'। भावः स्पष्टः ॥१८॥ 🏂 संस्कृतपद्याऽनुवादः 🤻

पृथ्वी रथः सारार्थे रात्मयोनिः, शरासनं यत्र सुमेरु रासीत्। [मन्दरपर्वतो ऽभृत्]

बभूवतुः सोमरवी च चके, वाणो ऽभव चकथरो ऽरिभेत्ता ॥ किं दग्धु मिच्छन् त्रिपुरातितुच्छ, माडम्बरं तत्र भवान कार्षीत्। विधेयलीलानिपुणाः प्रभूणां, धियः स्वतन्त्रा ननु (खलु) सर्वधैव ॥१८॥

🏰 भाषा टीका 🦂

हे प्रभो ! (त्रिपुरतृणं) त्रिपुरा-सुर नामक एक तृण को (दि-धक्षोः) जराडालने की इच्छा करने वाले (तव) आपको (अयं कः आडम्बरविधिः ?) यह कै।नसा आडंबर फैलानेका प्रयोजन था. जो आपने (क्षोणीरथः) भूमीको रथ, (शतधृतिः) ब्रह्माको (य-न्ता) साराथ (अगेन्द्रः) सुमेरु पर्वतेन्द्रको (धनुः) धनुष (चन्द्रा-कीं) चन्द्रमा और सूर्यको (रथाक्ने) रथके पहिये (अथो) इसी भांति (रथचरणपाणिः) चक्रधर, विष्णुको (शरः) बाणके रुपमें परिणत किया (इति)-यहां प्रकारार्थ वाची अव्यय है। (खलु) निश्चय करके (प्रभुधियः) स्वामीकी बुद्धियां (बिधेयैः) स्वाधीन पदार्थों से अर्थात् अपने आर्थान लोगोंके साथ (क्रीडन्सः)[स-त्यः विल करतीं हुई (परतन्त्राः न) पराधीन नहीं होतीं। अभि-प्राय यह है कि -जब आप अशेष ब्रह्माण्ड का प्रख्य करने लगते हैं तो उस समय पर किसी वस्तुके जुटानेकी आवश्यकता नहीं प-डती तो फिर एक तृणके समान महान् तुच्छ त्रिपुरको दग्धकरनेके लिए जो इतना बखेडा वढ़ाया कि भूमीको रथबनाकर उसमें च-न्द्र-सूर्यकी पहिया लगाई फिर ब्रह्माको सारिथ बनाकर सुमेर प-र्बतको धनुष एवं साक्षात् विष्णुको बाण बनाया-भलायह सब आ-डंबरनहीं है तो और क्या है ?-इस से यही ज्ञात हो ताहै कि प्रभु लोगोंकी बुद्धि अपनोंके साथ खेलवाड में लगजाने परभी परा-धीन नहीं होती। यह त्रिपुरा—सुरकी कथा बहुत प्रसिद्ध है-उसे यह वरदान होचुका था कि जल थल सबको छोड़कर जब एकही बाणसे तीनों पुर भस्म हों तब वह असुर मरे-इस से अन्य किसी से असाध्य समझकर स्वयं महादेवजीने एकही बाणमें उन सबको ध्वस्त करिया-इस इलोक में यह दिखलाया है कि ब्रह्मा और विष्णु इत्यादि सबी आपके आधीनहैं, पर आप किसी के आधीन नहीं है-यथा-

> "परम स्वतंत्र न सिर पै कोई, भावै मनहि करहु तुम सोई। (तु॰ रा॰)॥ १८॥

हैं भाषाप्रवातुनादः है रथ भूमी सारिथ निची, धनुष सुमेर महान। रिव सिस दोऊ चक्र जहँ, चक्रपानि मे वान॥ कत आडंबर त्रिपुर तृन-जारन लगि यह कीन १। सेवक सन कीडा करित, प्रभु-मित निज आधीन॥१८॥

के भाषाविष्यम् है विधी सार्थी, भूमी रथ, हिमगिरी चाप वनहीं, हरी हैंगे बाने, रवि ससि मये चक्र जबहीं। तयारी पेसी क्यों त्रिपुर तृज जारे कर करें (री), स्वदासोंसे खेलें प्रभु-मित पराधीन नहि है (री)॥ १८॥

हिर स्ते साहस्रं कमलबलि माधाय पदयो-र्य देकोने तस्मि न्निज मुदहर नेत्रकमलम् । गतो भक्त्यु द्रेकः परिणित मसौ चक्रवपृषा त्रयाणां रक्षायै त्रिपुरहर जागति जगताम् ॥ १९॥

कृ मधुसूदनी टीका 😤

अथेन्द्रोपेन्द्रयोर्भिक्तं तत्फलं च दर्शयन्हरिहरी स्तौति—

हरिरिति हे त्रिपुरहर, हरिविंग्णुस्तव पदयोः साहस्रं सहस्रसंख्यापरिमाणं कमलानां पद्मानां चिलमुपहारं। सहस्रकमलात्मकं
बिलिमित्यर्थः। आधाय समर्प्यं तिस्मिन्कमलसहस्रबलावेकोने सितिएकेन कमलेन भिक्तपरिक्षार्थं त्वया गोपितेन हीने सित नियमभङ्गो

माभूदिति तत्पूरणार्थं तदा कमलान्तरमलभमानो निजमात्मीयं नेत्रकमलमेचोदहरदुत्पाटितवान्। यदैवं स्वनेत्रोत्पाटनरूपं भजनं, असौ भक्त्युद्देकः भक्तेः सेवाया अत्यन्तप्रकर्षः चक्रवपुषा सुदर्शनरू
पेण परिणतिं गतः त्रयाणां जगतां रक्षाये जागितं। परिपालनार्थं

सावधान पव वर्तते इत्यर्थः। पवमाख्यायिका च पुराणप्रसिद्धा।

तथा चैवंविधाचिन्त्यमहात्म्यस्त्वमसीति भावः॥ हरिपक्षे तु। त्रि-

पुरहरेति प्राग्व्याख्यातम्। हरिरिन्द्रस्तव पदयोः साहस्रं कमलबलिमाधाय। कीटरां नेत्रकमलं नेत्राण्येव कमलानि यस्मिन्स तथा
नेत्रसहस्रात्मकं कमलसहस्रबलिमित्यर्थः। युगपन्नेत्रसहस्रव्यापारेण त्वचरणयेर्दर्शनरूपमाराधनं कृत्वेत्यर्थः। आराधनप्रयोजनमाह। निजमात्मानमकः सहायान्तरश्रन्यः। अनेतिसमन्नेतल्लोकवि
लक्षणे स्वगेलोके उदहरदुद्धृतवान्। स्वलेकिधिपतिमात्मानं कृतधानित्यर्थः। निजमुद्धतुं युगपन्नेत्रसहस्रेण त्वच्चरणावलोकने यत्यधणत्वं असौ भक्त्युद्रकः चक्रवपुषा चक्रं सैन्यं ऐरावतोच्चेःश्रवः
प्रभृति तद्रूपेण परिणतिं गतः परिणतः समुद्रमथनेन लक्ष्मिपीयुषादिवादुर्भावात्। त्रयाणां लोकानां रक्षाये जागर्तीत्यादि पूर्ववत्॥१९॥

🏂 संस्कृत टीका 🔧

(त्रिपुरहर !) हेत्रिपुरदाहक ! पूर्वकथितविधिनैव त्रिपुरविध्वं-सके त्यर्थः। (हरिः) विष्णुः (तव) भवतः (पदयोः) चर-णाम्बुजयोः (साहस्रं) सहस्रसंख्यापरिमितं (कमलबलिं) पद्मी-पहारं (आधाय) निवेद्य (तस्मिन्) सहस्र-कमलात्मकवली (ए-कोने) एकेन कमलेन हीने सति, भ्रष्टसङ्कल्पत्वभया त्र्रातिश्वातसं ख्यापूरणार्थ मेव (निजं) आत्मीयं (नेत्रकमलं) चक्षुरूपं कमलं, पुण्डरीकाक्षाभिधानत्वात् (उदहरत्) उद्पाटयत् (असौ) स्व नेत्रकमलोत्पाटनरूपः (भक्त्युद्रेकः) सेवनप्रकर्षः (चक्रवपुषा) सु-दर्शनचकस्वरूपेण (परिणार्ते) परिणामं, फलपरिपाकावस्था मि-त्यर्थः (गतः) प्राप्तः सन् (त्रयाणां) स्वर्गमर्त्यपातालाख्यानां (ज-गतां) लोकानां (रक्षाये) परित्राणार्थ मेव (जागतिं) जागरूकः सावधानो वा वर्तते । अत्र स्वनेत्रपद्मो पहारदाना देव हरिणा हरसः काशाल् लब्धं सुदर्शनचक्र मित्याख्यायिका सुप्रसिद्धापि बोधयति, यत् विश्वम्भरस्या प्यनुत्राहको भगवान् विश्वेश्वर एवे त्यचिन्तनी यता विशदीकृता प्रभो मेहिस इति । तथा चोक्तमपि स्कन्दपुराणे म्राहेदवरखण्डारुणाचलमाहात्म्ये अ०१६—

> एकोने पद्मसाहस्रे स्वनेत्रेण कृतार्चनम्। श्रुलिन् ! सुदर्शनं दत्त्वा दैत्यद्विष मतृतुषः॥ १९॥

अस्मदुक्ताख्यपितृव्यचरणै निंजनिर्मितपूजापुष्करिणीय्रन्थोपान्ते विद्वनाथस्तुतौ—तद्यथोक्तं,

"यत्पादपद्मपरिकाल्पित मुत्रक्षपं, चक्रं ज्वलज्ज्वलनदीप्ति सुद्द्शनल्पम् । विष्णुप्रियं निखिलदैत्यविनाशदक्षं, तं विश्वनाथ मुमया साहितं नतोऽस्मि"॥ १९॥

संस्कृतपद्यानुवादः ३

साहस्र मम्भोजबर्लि विधाय, त्वदीयपादाम्बुजयो रमेशः । यदेकपद्मोनबलौ च तस्मिन, स्वनेत्रपाथोज मुदाजहार ॥ उद्देक एष भगवन् !भवतः सुभक्ते,-र्यातोऽथ चक्रवपुषा परिणामरूपम् त्रैलोक्यरक्षणविधौ प्रथितः पटीया, आगर्त्ति दुष्टदलनोत्कसुदर्शनाख्यः

🏂 भाषाटीका 🥳

(त्रिपुरहर !)हे त्रिपुरविदारक, ! अर्थात् पूर्वोक्तप्रकारसे त्रिपुरा सुरके दाहक! (हरिः) भगवान् विष्णुने (तव) आपके (पदयोः) चरणों पर (साहस्रं) पूर्ण सहस्र संख्यक (कमलवर्लि) कमलके फूर्लोका उपहार (आधाय) रखकर, अथवा निवेदन करके (तस्मिन्) उस सहस्र कमलकी पूजामें (एकोने) [सति] एक [फूल] के घटजाने पर, निजसंकल्पके भ्रष्ट होजानेके डरसे (निजं) अपने (नेत्र कमलं) नयन रुपी कमलको (उदहरत्) निकालकर धरिदया (असौ भक्त्युद्रेकः) यही भक्तिकी प्रकर्षता [ज्यायसी] (चक्रबः पुषा) सुदर्शन चक्रके स्वरूपसे (परिणतिं) परिणामको (गतः) प्राप्त होने पर (त्रयाणांजगतां) स्वर्ग-मर्ख-पातालादि तीनेंही लोकें। के (रक्षाये) पालनके लिये (जागत्ति) जागती रहती है अर्थात् साव धान बनी रहती है। अभिप्राय यह है कि-जिस सुदर्शन चक्रके द्वारा भगवान् विष्णुने त्रैलोक्य मात्रका पालन करके विश्वंभरका नाम प्राप्त किया है उसके भी आपही कारण है-आपहीं अनुप्रहसे उनको सुदर्शन चक्र मिला है-यह कथा ऐसेही पुराणोंमें प्रसिद्ध है - एकवार भगवान् विष्णु, सहस्र संख्यक कमलोंसे देवाधिदेव-के सहस्र नामके अनुसार एक एक कमल चढ़ाने लगे अंतमें परी-

क्षा लेने के लिये श्रीशङ्करजीने एक पुष्प गुप्त करिया जब विष्णुको एक पूलका घटजाना ज्ञात हुआ तो उहोंने विचार किया कि मेरा नाम पुंडरीकाक्ष प्रसिद्ध है सो अब फूल नहीं है तो उसके वदलेमें अपनी एक आंख निकाल कर चढ़ावें और ऐसाही कि या इस अपूर्व महाभक्तिको देखकर भगवान् आगुतोषने परम प्रसिद्ध होकर उनको सुदर्शन चक दिया जिससे वे त्रेलोक्य भरके पालनकर्ता होगये-इससे यह बात मली भांतिप्रकट होती है कि औरोंको कीन कहे साक्षात् विष्णु भगवानके भी अनुप्राहक स्वयं महादेव स्वामी ही हैं ॥ १९ ॥

🐐 भाषापद्यानुवादः 🦂

हिर सहस्र अरविंद बलि, तुव पद पूजन लाय। एक घटे पर निज नयन-कमलिहें दियो चढाय॥ चक्र सुदर्शन रूपते, भयो भक्ति परिनाम। त्रिभुवन रच्छा लागिजो, ज गत आठहु जाम १९॥

र्भ भाषाबिम्बम् 🔏

हरी पूजा कीही सहस-कमलोंसे तुमीर ही, घटे ये एके के कमलसम आँखी निज दयी (ई)। वही भक्ती वाढी सफलित भई चक्र-तजुतै, जगत्-रच्छा लागी त्रिपुरहर! सो जागत रहे॥ १९॥

कतौ सुप्ते जाग्रस्व मिस फलयोगे कतुमतां क कर्म प्रध्वस्तं फलित पुरुषाराधन मृते । अत स्त्वां संप्रेक्ष्य कतुषु फलदानप्रतिभुवं श्रुतौ श्रद्धां बद्धा कृत(१)परिकरः कर्मसु जनः ॥२०॥

दवं पूर्वदलोकेषु । परमेर्वराराधनादेव सर्वपुरुषार्थप्राप्तिरन्वः यव्यतिरेकाभ्यामुक्ता । तत्र केचिन्मीमांसकंमन्याः परमेर्वरनिरपे श्लान्कर्मजनितादपूर्वादेव शुभाशुभप्राप्तिरित्याहुस्तान्निराकुर्वन्हरिः

⁽१) दढ-इत्यपि पाठः।

हरो स्तीति--

 *कताविति * । हे त्रिपुरहरेति सम्बोधनं पूर्वश्लोकादनुषज्ज्यते । कतौ यागादिकर्मणि आद्युतरविनाशिस्वमावत्वातसुप्ते लीने स्वकारणे सूक्ष्मरूपतां प्राप्ते ध्वस्ते सति । क्रतुमतां यागादिकर्मकारिणां कालाः न्तरदेशान्तरभाषितत्तत्फलसम्बन्धे तन्निमित्तं त्वं जात्रदासि प्रबुद्ध एव वर्तसे । घर्तमाने विहितेन शत्रा जागरणस्य सर्वदास्तित्वमुच्यः ते तेन सर्वदैयावहितोऽसीत्यर्थः। ननु लिङ्गादिपद्वाच्यक्रियायाः स्वर्गादिसाधनत्वान्यथानुपपस्या कल्प्यमपूर्वमेव फलयोगाय जाग ति किमी इवरेणेत्यत आह । केत्यादि । प्रध्वस्तं विनष्टं कर्म पुरुष-<mark>स्य चेतनस्य फलदातुराराधनं विना क फलति । न कापीत्यर्थः ।</mark> निह लोके कुत्रापि विनष्टस्य कर्मणोऽपूर्वद्वाराफलजनकत्वं द्वष्टम्। लोकानुसारिणी च वेदेऽपि कल्पना लोकवेदाधिकरणन्यायात्। चे-तनस्य तु राजादेराराधितस्य विनैवापूर्वे सेवादेः फलजनकत्वं हृश्य-ते। तत्र लोकरप्रमकारेणैव वैदिककर्मणामपि फलजनकत्वसम्भवे न लोकविरुद्धापूर्वफलदातृत्वकल्पनावकाद्यः। अपूर्वे हि लोकसिद्धः कारणान्तरनिरपेक्षं वा स्वर्गादिफलं जनयेत्तत्सापेक्षं या । आद्ये त-त्फलोपभोंगयोग्यदेहोन्द्रियादिकमाप नापेक्षेत । न चैतदिष्टं, सर्वस्या-पि सुखदुःखादेः शरीरसंयुक्तात्ममनोयोगादिदष्टकारणजन्यत्वाभ्यु-पगमात्। द्वितीये तु लोकसिद्धदेहेन्द्रियाद्यपेक्षावदीइवरापेक्षापि नि-यता, लोके तथादर्शनात्। तस्माच्च्छुतिन्यायासिखेश्वरपदार्थधर्मिः बाधकल्पनाद्वारमपूर्वपदार्थस्य नैरपेक्ष्यधर्ममात्रबाधकल्पनम् । 'कः लमत उपपत्तेः' इति न्यायात् । इदं चापूर्वमभ्युपेत्य तत्सापेक्षत्वमी-स्वरस्योक्तम् । वस्तुतस्तु नापूर्वे किंचित्प्रमाणमस्ति । लिङादीनाः मिष्टाभ्युपायतावाचकत्वात्।तद्वन्यथानुपपत्तेश्च श्रुतिन्याय सहस्रसिः द्भपरमेइवरेणैवोपक्षयात् नापूर्विलिद्धिः। अपूर्वे च तत्फलदातृत्वं च द्वयं भवाद्भः कल्प्यम्। अस्माभिस्तु केवलमीइवरः कल्प्यः। तस्य फंछदातृत्वादिकं तु चेतनत्वाद्राजादिवहोकसिद्धमेव। सर्वज्ञत्वेन च तत्तन्कर्मानुकपफलदातृत्वाच वैषम्यनैर्घृण्यादिदेषप्रसङ्गः। यत एवं त्वमेव सर्वकर्मफलदाताऽतस्त्वां कतुषु श्रीतस्मार्तकर्मसु कालान्तर फलसाघनेषु फलदानप्रतिभुवं फलदानाय लग्नकामिव सम्प्रेक्य सः म्यक् श्रुतिस्मृतिन्यायैः प्रकर्षेण निश्चित्य कर्मफङ्दातुस्तव सङ्गाः

व प्रतिपादिकायां हि श्रुतौ 'पतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि द्या-वाष्ट्रिया विभूते तिष्ठतः। एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि दः इतो मनुष्याः प्रशंसन्ति यजमानं देवा दवीं पितरोऽन्वायत्ताः' 'क-माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः ' 'एष उ ह्यव साधु कर्म कारयति तं यः मुन्निनीषते एष उ एव वाऽसाधुं इत्यादिकायां श्रुती श्रद्धां बङ्का अ-र्थवादत्वप्रयुक्तस्वार्थाप्रामाण्यराङ्कानिरासेन लोकसिद्धद्दतरन्यायाः नुगृ(१)हीततया देवताधिकरणन्यायेन स्वार्थे प्रामाण्यं निश्चित्य जः नः श्रुतिस्मृतिविहितकर्माधिकारी कर्मसु श्रौतस्मार्ठेषु कृतपरिकरः कतः परिकर उद्यमो येन स तथा । कृत। रम्भो भवतीत्यर्थः । प्रतिभू-साहर्यं च पतावनमात्रेणेच विवक्षितम्। यथा कश्चिदुत्तमणः प्रमाः णानिश्चितं दीर्घकालावस्थानं स्वधनापणसमर्थे कंचित्प्रतिसुवं निरू द्य अध्मर्णे पलायिते मृते वा एतस्मादेव कुशालिनः प्रतिभुवः स-काशात्स्वधनं प्राप्स्यामीत्यभिष्रायेण यस्मै कस्मैचिद्धमणीयणं प्रय-च्छुति तद्वद्धमर्णस्थानीये कर्मणि प्रलीनेऽपि परमेइवरादेव प्रति-भूस्थानीयात्तत्फलं प्राप्स्यामीत्यभिष्रायेणोत्तमर्णस्थानीयो यजमानो निःशङ्कमेव कर्मानुतिष्ठतीति भावः॥ #हरिपक्षेप्येवं *। शेषं पूर्वः वत्। यद्वा सुजनः साधुजनः कर्म श्रुतिस्मृतिविहितं कर्माकृत कृत-वान् । कीहराः सुजनः । परिकरः परि सर्वतः कं सुखं राति ददा-तीति तथा सर्वेषां सुखकरः। अहिंसक इत्यर्थः। 'दढपरिकरः' इति क्रिचित्पाठः। तस्य द्वारम्भ इत्यर्थः। अयं च न साम्प्रदायिकः॥२०॥

😤 संस्कृत टीका 🦂

हेजगदीदवर ! (कती) यहादिहत्ये (सुप्ते) विलीने ध्वस्ततां गते सित (क्रतुमतां) यागादिकर्मकारिणां यज्वनां (फलयोगे) स्वर्गादिफलसावने (त्वं जाप्रत् असि) भवानेव जागरूकः अप्रमच इति यावत् दातप्रत्ययः; तिष्ठसि । यतः (प्रध्वस्तं) विनष्टं (कर्म) कार्यं (पुरुषाराधनं) चेतनस्य फलदातु रीद्वरस्येत्यर्थः आराधनं सेवनं (क्रते) विना (क फलिते) न कापीति ध्वनिः । (अतः) अस्मादेव कारणात् (क्रतुषु) यहादिकर्मसु (फलदान प्रतिभुवं) फलप्रदानकाले प्रतिभूः लग्नकः उत्तमणीधमणयोर्मध्यस्थ स्तं (त्वां)

⁽१) 'गृहीतेन' पाठः।

मवन्तं (सम्प्रेक्ष्य) सम्यगवलोक्य निश्चित्यत्यसिप्रायः (जनः) लोकः, श्रुतिस्मृत्युदितकर्माधिकारी (श्रुतौ) वेदवाक्ये (श्रद्धां) श्रुद्धां सप्रमाणां स्पृद्धां (बद्धा) दृढीकृत्य, निश्चित्य वा (कर्म् श्रु) श्रीतस्मार्तविधिषु (दृढपरिकरः) स्थिरोद्यमो भवति। किवि त्कृतपरिकर इत्यपि पाठो लभ्यते, –तत्र कृतारम्भ इत्यर्थः कर्तव्यः। अत्रा चेतनस्य कर्मणः स्वयमेव फलदाने ऽक्षमतां निरूप्य प्रतिभूक्षपा चैतन्यमया दीश्वरादेव फलप्राप्ति श्रापयित्वा महामिहम-प्रदर्शनपूर्वकं कर्मवादिनां मीमांसकादीनां मतं यथावन् निरस्त मिति॥ २०॥

कि संस्कृतपयानुवादः कि यद्भात् । यहे विनष्टे फलदानहेताः, त्वं सावधानां भवसि प्रयत्नात् । फलत्य नाराध्य भवन्त भीश ! क यज्वनां कर्म कदापि नष्टम् ॥ अतो ऽवलोक्य कृतुषु प्रभो ! त्वां, फलप्रदानप्रतिभूस्वरूपम् । असां विधायाय जनः प्रयोगे, श्रुत्युक्तवाक्ये बहुलाद्रो ऽस्ति ॥२०॥

क्रैं। भाषा टीका 🚓

हे जगदीहबर! (कतौ) यह इत्यादि कर्मों के (सुप्ते) [सिति] सोजाने अर्थात् विनष्ट होजाने पर (क्रतुमतां) यहकर्ता लोगों के (फलयोगे) स्वर्गादिक फल साधनों में (त्वं जाप्रत् असि) आपही जागते रहते हैं -क्यों कि (प्रध्वस्तं) विनष्ट, अथवा विगड़ा हुआ (कर्म) यहादिक कार्य (पुरुषाराधनं) चेतनस्वरूप फलदाता ईश्वरकी आराधना किये (ऋते) विना (क्ष फलिति?) कहां फलिम्मूत होता है ! अर्थात् कहीं मी फल दायक नहीं होसकता। (अतः) इसी कारणसे (क्रतुषु) यहादिक कर्मों (फलदानप्रतिभुवं) फल देने के समय लग्न [जामिनदार] (त्वां) आपको (सम्प्रेक्ष्य) अच्छी रीतिसे देखकर (जनः) लोग, [अर्थात् जो श्रुति-स्मृतिके कहे हुए कर्मों के अधिकारी हैं] (श्रुतौः) वेदके वचनों में (श्रद्धां) आद्रयुक्त विशेष इच्छाकों (बद्धा) बांध कर अर्थात् दढ़ करके (कर्मसु) कर्मों के करने पे इंड्र परिकरः) स्थिर उद्यम होते हैं—अर्थात् कमर कस कर उस कर्मके करने पर इढ़ होजाते हैं। अभि-प्राय यह कि-यहादिक-सकल कर्म तो अचेतन हैं, अत एव वे सब

स्वयं फल नहीं देसकते, तब उनके फलोंका दाता एक मात्र ईर्व-रही है, क्योंकि वह सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् है, इस स्रोकमें यह बात दिखलाई गई है कि जैसे कोई महाजन जब किसी अधमर्ण [असामी] को कुछ देता है तो एक किसीको मध्यस्थ [जामि-नदार] बनालेता है, इसलिये कि यदि अधमर्ण कहीं मर गया, अथवा कहीं भगगया, तो जो मध्यस्थ रहता है उससे अपना द्वय लेसकता है—उसी प्रकारसे सब कर्म तो अधमर्णक्रप हैं, और कर्मोंका करने वाला पुरुषही उत्तमर्ण [महाजन] है-वही ईश्वर के लग्नक अथवा प्रतिभू [जामिनदार] रहनेसे निश्शंक होकर कर्मोंको करता है-क्योंकि यदि कर्म नष्टभी होजावे, तो उनके प्रतिभू स्वयं आप [ईश्वर] ही बने रहते हैं—इससे कर्ता—को किसी कर्मपर फल नहीं पानेका अथवा कर्मके निष्फल होजानेका संदेह नहीं रहजाता, अत एव श्रुति स्मृतिपुराणा दिकोंके कर्मी पर लोगोंका भरोसा बना रहता है-अर्थात यदि ईश्वरके विना आराधे कर्मही फल देसकते हैं, तो जब कर्म नष्ट हो जायँगें तो उनका फल कीन देसकता है ? अतएव समस्त फलोंके दाता ईश्वरहीको जाग-हक देखकर सब लोग कर्म करनेमें तत्पर होते हैं, यदि ऐसा नहीं होता तो संसारमें सब कर्मीका होनाही बन्द होजाता -यह बात सब प्रकारसे सिद्ध है।

💤 भाषापद्यानुवादः 🦂

क्रतु स्ते पै जागहू, तुम फल वितरन हेत। विज्ञ अवराधे पुरुषको, बिगरे को फल देत?॥ प्रतिभू तुमहि विलोकि जग, जग्यनके फल माँहि। करि स्नद्धा स्नृति कर्म पै, जन निज कमर कसाँहि॥ २०॥

भाषाविम्बम् दे कत्को स्ते पै फलद वनि आपै नित जगैं, विना तो आराधे करम विगरे क्यों फलि सकैं १। तुमीको जक्षोम फल—मिलनको जामिन लखैं श्रुती पै स्न (श्र) द्वासें कमर किस कमैं जन करें॥ २०॥ क्रियादक्षो दक्षः क्रतुपति रधीश स्तनुभृता-मृषीणा मार्तिवज्यं शरणद सदस्याः सुरगणाः । क्रतुभ्रेष(१) स्त्वत्तः क्रतुफलविधानव्यसनिनो(१) भ्रुवं कर्तुः श्रद्धाविधुर मिन्नाराय हि मखाः ॥२१॥

😽 मधुसूदनी टीका 🦂

प्वं भगवत्प्रसादेन कतुफलप्राप्तिमुक्तवा विहितानां शुभफलः जनकत्वानुपपत्या धर्माष्यमपूर्वं द्वारत्वेन कल्पनीयमिति पक्षो निराकृतः। संप्रति विहिताकरणनिषिद्धकरणयोरशुभफलस्य भगवः त्रसादासाध्यत्वात्तद्र्थमवश्यमधर्माष्यमपूर्वे कल्पनीयमितिशङ्कार्यां राजाशालङ्घनादेरिव भगवदाञ्चोलङ्घनाद्रिक्षलान्थफलत्वं दृष्टद्वारेणे व भविष्यतीत्यभिप्रायेण भगवतोऽप्रसादेन कतुफलाप्राप्तिमनर्थप्राप्तिं च दर्शयन्हरिहरौ। स्तौति—

*क्रियेति *। हे शरणद, दक्षी दक्षनामा प्रजापतिः स्वयं क्रियाः स्वनुष्टेयासु दक्षः प्रवीणः। यज्ञविधौ कुशल इत्यर्थः। प्रतेन विद्वत्य-मधिकारिविशेषणमुक्तम्। तथा तनुभृतां शरीरिणामधीशः स्वामी व्रजापितित्वात्। एतेन सामर्थ्यमधिकारिविशेषणमुक्तम् । एतादशः क्रतुपतिर्वजमानः। तथा ऋषीणां त्रिकालदर्शिनां भृगुप्रभृतीनामाः त्विज्यमृत्विकत्वमाध्वर्यादि रूपता । तथा सुरगणा ब्रह्माद्यो देवगः णाः सद्स्याः सभ्या उपद्रष्टारः । एतादशसर्वसामश्रीसंपत्ताविष त्वतः परमेश्वराद्यसन्नात्कतोयं इस्य भ्रेषः भ्रेशो जातः। की दशात्। क्रतुफलविधानव्यसनिनः क्रतोर्यज्ञस्य फलं स्वर्गादि तस्य विवानं निष्पादनं तेन व्यसनी तदेकानिष्टस्तस्मात् कतुफलदातृस्वभावोऽपि त्वमवज्ञाय ऋतुभ्रंशहेतुनां नीत इत्यर्थः। एतदेव द्रवयन्नाह । ध्रवमिः ति । भ्रवं निश्चितं ऋतुफ्छदातरि परमेश्वरे विषये श्रद्धाविधुरं भ-किरहितं यथा स्यात्तथानुष्टिता मला यद्याः कर्तुर्यजमानस्याभिचाः राय नाज्ञायैव भवन्तीत्यर्थः ॥ हरिएक्षे तु । तत्रुभृतामधीशः ऋतुः पतिः तनुं स्वरारीरमेव विभ्रति पुष्णन्तीति तनुभृतो दैत्या देववा-ह्यास्ते हि सुरनरिपत्भयो न प्रयच्छन्ति सर्विहिसया स्वशरीरमेव

⁽१) ऋतुश्रंशः। (१) ऋतुषु कलदानन्यसनिनः। पाठावापे।

पुष्णिन्त तेषामधीशो राजा बिलः क्रतुपितर्यजमानः, अथवा तन् न्सीणिन्विभ्रति पुष्णिन्त ते तनुभृतो वदान्यास्तेषामधीशो दातृ १) वीराग्रगण्यो बिलः। कीदृशः। क्रियादृक्षोदृक्षः उत्कृष्टान्याक्षीणीन्द्रियाणि यस्य स उद्क्षः क्रियादृक्षश्चासावुदृक्षश्चेति स तथा । सुरेषु देवेषु गण्यन्ते इति सुरगणा देवतुल्याः पुरुषाः सद्स्याः। श्रद्धाविध्युरत्वं च भगवदनुगृहीतेन्द्रादिदेवगणैः सह विरोधात्। स्वमक्तद्रोक्षां हि भगवतः स्वद्रोहाद्द्यधिकः। शेषं पूर्ववत्॥ २१॥

🔆 संस्कृत टीका 🦂

(शरणद् !) हेशरणार्तिहारिन् ! (क्रियाद्धः) सकलकर्मप्रवी-णः (तनुभृतां) शरीरधारिणां (अधीशः) स्वामी (दक्षः)दक्षप्रजाः पतिः (क्रतुपतिः) यश्चकर्ता,-यजमानः तथा (ऋषीणां) त्रिकालदर्शिः नां भृगुप्रभृतीनां (आर्त्विज्यं) ऋत्विजो भावः, ऋत्विक्रृत्य मित्य-र्थः। ६वं (सुरगणाः) ब्रह्मादयो देवा एव यत्र (सदस्याः) सः भ्या उपद्रष्टार इति यावत् । एताहराविशिष्टसामग्रीसम्पत्ताविप (क्रतुषु) यक्षेषु (फलदानव्यसनिनः) फलं स्वर्गादिकं तद्दाने व्यर सनी, तदेकनिष्ठ स्तस्मात् (त्वत्तः) भवतः सकाशा देव (कतुर्स्रे-वाः) यज्ञविद्धंसः । अभूदितिशेषः (हि) यतः (श्रद्धाविधुरं) सकः लकर्मफलदायक ईश्वरे भक्तिविराहितं यथा स्यात्तथा नुष्ठिताः (म खाः) यज्ञाः (कर्तुः) यागकारिणो यजमानस्य (अभिचाराय)वि-नाशायैव भवन्ती ति (भ्रुवं) विनिश्चित मेव । कचित् 'कतुभ्रंश' इत्य-त्र क्रतुभ्रेष इत्यपि पाठ स्तत्रा प्यर्थः स एव। तथाच 'क्रतुषु फल-हानव्यसनिन-' इत्यत्रापि कतुफलविधानव्यसानिन-इति लभ्यतेऽर्थ-स्तु स्पष्ट एव । अत्राखिलपुराणप्रसिद्धां दक्षयव्वविद्धंसकथा मवल-म्ब्या नीश्वरवादिनां मतं निराकुर्वता स्तोत्रा भगवतो महिमेव स्पष्टी-कृत इत्यवधेयम् उक्तमपि स्कन्दपुराण-माहेश्वर-कौमारिका खण्डे-३३ अ० २४ स्हो० "यज्ञादिकाश्च ये धर्मा विना यस्या र्चनं वृथा। दक्षीत्र सत्यद्दष्टान्तः क स्तस्मा त्परमो भवेत्''॥

क्रियासु दक्षो यजमानक्षो,-ऽप्यधीश्वरो देहसृता अ दक्षः। प्रजापति देवगणा न्सदस्यान , क्रत्वत्विजः श्रेष्ठतमा नृषीश्च॥

⁽१) 'दानवामगण्या' इति पाठः।

त्वत्तः कृतुर्भ्रशः मवाप् यञ्च-फलप्रदानव्यसनातुरा स्तः। श्रद्धावि(विश्वास हीना हि मखा भवन्ति,कर्तु विनाशार्थं मवद्य मेव२१

🏂 भाषा टीका 🥳

(शरणद !) हे शरणागतरक्षक ! (क्रियादक्षः) समस्त क्रिया-स्रोक अभिन्न, तथा (तनुभृतां अधीशः) शरीरघारियोंके अधिना यक, अर्थात् कर्म-प्रवीण एवं सामर्थ्यवान् अधिकारी (दक्षः) दक्ष नामा प्रजापति (क्रतुपतिः) स्वयं यक्षकर्ता, अथवा यजमान हुए, तथा (ऋषीणां आर्तिवज्यं) [त्रिकालदर्शीभृगु-इत्यादि] ऋषिलो-ग जहांपर ऋत्विक्-अर्थात् होम करानेवाले थे, और (सदस्याः सुरगणाः) सबी देवतालोग सभासद थे, [ऐसा भारी यज्ञ] (क्र-तुष फलदानव्यसानिनः) यज्ञोंमें फलदेनेके व्यसनी [आदती] (त्व तः) आपही द्वारा (कतुभूराः) यज्ञकाविष्यस हुआ। (हि)क्यों-कि (अद्वाविधुरं) अद्वाले रहित (यज्ञाः) समस्त यज्ञ (कर्तुः) यम्भतांके (अभिचाराय) उलटे फल अर्थात् लिए होतेहैं (धुवं) यह बात निश्चित है। भाव यह जब स्वयं यजमान का ईश्वर पर श्रद्धा नहीं होती तो उसके यहा-दिक कर्मों के अनुष्ठान करनेसे उलटे [विपरीत] ही फल मिलते हैं. जैसे स्वयं बडे कर्मनिष्ठ तथा प्रजामात्रके स्वामी दक्षप्रजापति बड़े बड़े महार्षियोंको ऋत्विक् और समस्त देवताओं को सभासद बनाकर यज्ञ करने लगे पर आपकी आकिसे वीचत होनेके कारण समस्त यहाँके फलदाता आपहीके द्वारा उनका यह विध्वस्त हो गया जिससे आपका 'क्रतुद्धंसी' नाम ही पड़ गया-यह कथा प्रायः सभी पुराणोंमें पाई जाती है तथापि काशीखंडके ८७। ८८। ८९ अध्यायों में विरादकपसे वर्णित है और तुलसी कृत रामायण में भी मिलती है जिसके अन्तमें ऐसा लिखा है।

> "समाचार जब संकर पाये, बीरभद्र करि कोप पठाये। यह विध्यस जाइ तिन कीहा, सकल सुरह्न विधिवत फल दीहा। भइ जग विदित दच्छ गति सोई, जस कछु संभु-विमुख कर होई।

यह इतिहास सकल जग जाना ताते में संछेप बसाना ॥''

भाषापवानुनादः द्वि दीच्छित दच्छ प्रजापती, किया-कांडमें दच्छ । ऋषी लोग ऋत्विज (ग)जहाँ, सभ्य देव परतच्छ ॥ क्रतु फल दाता तुमहिंसो, ज्ञक्ष भयो सो भ्रष्ट । विन्रु स्नद्धाके जञ्ज सब, कर्तहि कराहैं विनष्ट ॥ २१॥

भाषाविम्बम् 😤
क्रिया-क्षाता दच्छै प्रभु सवाहिके दीच्छित बने,
ऋषी लोगे ऋत्विक् सुरगन सभे सभ्य जहँ भे।
भयो जज्ञै सोऊ विहत, फलदानी (ता) तुमहिसो,
विना स्नद्धा कीहे लहत मखकर्ता नहि फ(म)लो॥ २१॥

प्रजानाथं नाथ प्रसम मिकं स्वां दुहितरं गतं रोहिद्भूतां रिरमयिषु मृष्यस्य वपुषा । धनुःपाणे र्यातं दिव मिप सपत्राकृत ममुं त्रसन्तं तेऽचापि त्यजित न मृगव्याधरभसः ॥२२॥

अथ ब्रह्ममारीचैयोर्मृगरूपयोर्वधं दर्शयन्हरिहरी स्तौति--

*प्रजानाथमिति । हे नाथ नियामक, तब परमेश्वरस्य धनुः
पाणेः धृतिपनाकस्य मृगव्याधरभसः मृगान्विध्यतीति मृगव्याधो
छुव्धकः तस्येव रभस उत्साहातिरेको मृगव्याधरभसः शर एव
तथा आरोपितः स चार्द्रानक्षत्रक्रपेण परिणत इति पुराणप्रासिद्धः!
अमुं प्रजानाथं ब्रह्माणं दिवं स्वर्गं यातं प्राप्तमिप नक्षत्रमध्ये मृगः
शिरोक्षपेण परिणतमिप तथा सपत्राकृतं सह पत्रेण शरं शरीरे
प्रवेश्यातिव्यथां नीतः सपत्राकृतस्ताहशामिवात्मानं मन्यमानं। कपकमेतत । शरस्यार्द्रानक्षत्रक्षपेण संनिधानमात्रं नतु ताडनिमिति
द्रष्टव्यम्। अथवा शरेण ताडित एव ब्रह्मा रुद्रस्य क्रोधोत्साहिषशेष पद्मार्द्रानक्षत्रक्षपेण परिणत इति पुराणान्तरप्रसिद्धवा द्रष्टस्यम्।

अत एव त्रसन्तं विभ्यन्तमद्यापि न त्यज्ञति । इदानीमपि धनुष्पा-णिमेव त्वां सर्वदा दर्शयतीत्यर्थः। तस्यैतादशदण्डाईतामाह । स्वाः मात्मीयां दुहितरं पुत्रीं रोहिद्भूतां लज्जया मृगीभूतां ऋष्यस्य मृगस्य वपुषा शरीरेण रिरमयिषुं रमयितुमिच्छुम्। इयं चेल्लज्जया मुगीभूता तर्ह्यहमाप मृगरूपेणैनां भजिष्यामीति बुश्चया मृगरूपेण प्रसमं हुठेनानिच्छन्तीमपि तां गतं रत्यर्थे प्राप्तम् । तस्य परमवाशि-नाऽपि स्वमयादातिक्रमे कारणं वदन्विशिनिध । अभिकं कामुः कम् । कामेनाभिभृतत्वारस्वमर्यादोल्लाङ्घर्नामत्यर्थः । एवंहि पुरा-णेषु प्रसिद्धम्-'ब्रह्मा स्वदुद्दितरं संध्यामतिह्यपिणीमालोक्य काम-वशो भूत्वा तामुपगन्तुमुद्यतः। सा चायं पिता भूत्वा मामुपगच्छ-तीति लज्जया सृगीरा बभूव ततस्तां तथा दृष्ट्वा ब्रह्मापि सृगरूपं द्धार । तच दृष्टा त्रिजगन्नियन्त्रा श्रीमहादेवेनायं प्रजानाथो धर्मः प्रवर्तको पुत्वाप्यतादशं जुगुप्सितमाचरतीति महतापराधेन दण्ड-नीयो मरेति विनाकमारूष्य शरः प्रक्षिप्तः ततः स ब्रह्मा बीडितः पीडितश्च सन् मृगशिरोनक्षत्ररूपो वभूव। ततः श्रीरुद्रस्य शरीscयार्द्रानक्षत्ररूपो भूत्वा तस्य पश्चाद्वागे स्थितः। तथा चार्द्रामृगशि-रसोः सर्वदा संनिहितत्वादद्यापि न त्यजति' इत्युक्तम् । हरिपक्षे तु । हे नाथ, रोहिद्भूतां गतं प्रजानाथं दिवं यातमपि धनुष्पाणेस्तव मृगव्याधरमसोऽद्यापि न त्यजति । रोहिता हरिण्याः सकाशाद्भः वतीति रोहिद्भृर्हीरणशावकः तस्य भावो रोहिद्भृता तां गतम्। हरिणशावकत्वं प्राप्तमित्यर्थः । प्रजाः प्राणिनो नाथति उपतापयतीति प्रजानाथो राक्षसः स च प्रकृते मारीचाख्यस्तम्। किमर्थ तस्य मृगक्षपधारणमित्यत आह । प्रसभमिकं रिरमयिषुं प्रकृष्टा शौर्याः दियुक्ता सभा यस्य स प्रसभस्तं ताइशं, अभितः कानि शिरांसि यस्य सोऽभिको दशग्रीवस्तम् । सीतापहरणोपायेन कीडियतु-मिच्छुम् । तथा स्वां दुहितरमयोनिजां कन्यां सीतां ऋष्यस्य वपुषा विचित्रमृगद्यरीरेण रिरमयिषुं प्रमोदयितुमिच्छुम्। विचित्रः मृगरूपं मां दृष्टा सीता म्ब्रीस्वभावादतिमुग्धा मच्चमेत्रहणार्थे श्री-रामं प्रेरियप्यति । ततो रामे वहुदूरं मयाऽपसारिते लक्ष्मणे च तदुद्देशार्थं गते पकाकिनीं सीतां रावणः सुखेन हरिष्यतीत्यभि प्रायेण धतविचित्रमृगदारीरामित्यर्थः । अत एव बाणेन सपत्रा- कृतत्वाद्दिबं परलोकं यातम्। सृतमित्यर्थः। अमुं सृतमपि असन्तः मद्यापि तव सृगव्याधरभसो न त्यजंतीत्युत्पेक्षारूपो ध्वनिः। शेषं पूर्ववत् ॥ २२॥

🙀 संस्कृत टीका 🦂

(नाथ !) हे स्वामिन् ? नाथतीति अन्प्रत्ययः । (धनुष्पाणेः) पिनाक पाणेः महाधनुर्धरस्य (ते) तव (मृगव्याधरमसः) मृग-ब्धाधयोः रभसो वेगः। अथवा मृगान् विध्यतीति मृगव्याधः-"इया-ह्यधास्तु"-३।१।१४१-इत्यादिना णः। छुन्धकः। तस्येव रमस उन त्साहातिरेक इत्यर्थः । "रभसो वेग हर्षयो"-रिति विश्वप्रकाशः । "अत्यविचिमतिम"-३। ११७-उणा० इत्यादिना असच्। आखेटी-त्साह इति यायत् । सृगानुसर्णतत्परव्याधलीलानुकर्णहर्ष इत्य-भित्रायः। (अद्यापि) अद्यतनाद्वसावधि (प्रजानार्थं) ब्रह्माणं, "स्र-ष्टा प्रजापति वेधाः"-इत्यमरः। (न त्यजति) नैव विजहाति। इदा-नी मपि भवन्तं धनुः पाणि मेवावलोकयतीति भावः। अन्यत् सर्व विशेषण मेव-कथं भूतं प्रजानाथ मिति सर्वत्र योजनीयं (रोहिद्भू-तां स्वां दुहितरं ऋष्यस्य वपुषा रिरमयिषुं) लज्जावशा दधर्माचर-णभया द्वा रोहिद्भूतां मृगीभूतां स्वा मात्मीयां दुहितरं पुत्री ऋष्य स्य मृगस्यैव वपुषा शरीरेण रिरमियषुं रमायितु मिच्छुम्। इयं मृगी जाता चे दह मिप मृगो भूत्वे नां भाजिष्यामी ति बुद्धा मृगरूपेण (प्रसमं) बलपूर्वकं हठाद्वा, अनिच्छन्ती मपीत्यर्थः । (गतं) रत्यर्थ मेव प्रयातम्। तस्यापि मर्यादातिक्रमणे कारणं विशिनष्टि। (अ॰ भिकं) कामुकं, "अनुकाभिकामीकः कमिता"-५।२। ७४-इति साधुः। पुनः (दिवं यातमपि) स्वर्गपर्य्यन्तं पलायित मपि अर्था म्मृगशिरो नक्षत्ररूपतां गत मिप (सपत्राकृतं) सह पत्रेण शरं दारीरे प्रवेदया तिव्यथितमिवा त्मानं मन्यमानं (असुं) प्रत्यक्षक्रपेण वर्तमानं । अत एव (त्रसन्तं) अत्यन्तभयप्रस्त मित्यर्थः । अत्र कु-पथगामिनो विश्वस्जोऽपि परमनियामको भगवान् विश्वेश्वर एवे ति तस्य माहिमातिशय एव द्योतितः स्तोत्रकविनेति॥ २२॥

र्ह्मः संस्कृतपद्यानुवादः र्ह्यः नाथ ! स्वपुत्रीं हरिणीत्व मेतां, मृगस्वरूपेण विहर्तुं मिच्छुम् । बला त्प्रजानाथ ममुं पुराणं, वाणाभिघातव्यथितान्तरालम् ॥ कामातुरं देव ! दिवं प्रयातं, त्रसन्त मद्यापि पिनाकिन स्ते । जहाति नैवा तिधनुर्धरस्य, आखेटकोत्साह उमाविहारिन् ॥ २२ ॥

🦫 भाषा टीका 🦂

(नाथ!) हे सर्वनियामक! (धनुष्पाणेः ते) पिनाक नामक महाधनुषको हाथमें धारण करने वाले आपका (मृगन्याधरभसः) मृगोंके अहेरीका उत्साह अर्थात् मृगोंकी मृगया [शिकार] करने में लगे हुए व्याधका उत्साह [हौसिला]। (अद्यापि) आजतक भी (अमुं प्रजानाथं) इस वर्तमान समस्तजगतके सृष्टिकर्ताको (न त्यजिति) नहीं छोडता है। और सब विशेषण हैं अर्थात् कैसा है प्रजानाथ कि-, (रोहिद्भूतां स्वां दुहितरं ऋष्यस्य वपुषा रिरमः यिषुं) लाजमें पडकर अथवा पापके डरसे हरिणीवनीहुई अपनी कन्याके साथ हरिणका शरीर धरकर रमण करनेकी इच्छा करने वाला। फिर कैसा है-(प्रसभं गतं) उसकी इच्छा नहीं होने परभी बलपूर्वक गमन करने वाला । मृगी जब नहीं चाहतीथी तो बलपूर्वक [जबरद्स्ती] गमन करनेमें कारण दिखाते हैं कि-(अभिकं) कामातुर। फिर-(दिवं यात मिप सपत्राकृतं) स्वर्ग पर्यन्त भागकर जाने परभी अपनेको बाणसे विधाहुआ समझने वाला-अतएव (त्रसन्तं) भयसे ग्रस्त । येसव (प्रजानाथं) के विशेषण हैं। अभिप्राय यह है कि जब प्रजापितभी कामातुर होकर अपनी कन्याके रूप पर मोहित हो गये तो वह अपने रूपके कारण पिताको कामातुर समझ तुरत मृगी [रोहिणी-नक्षत्र] हो गई जिसमें पशुका रूप देखकर पिताका काम वेग शान्त हो जावे-पर उसे मृगी होते ही प्रजापित भी मृगका शरीर धरकर बल पूर्वक उसके साथ रमण करनेको उद्यत हो गये-यह देखकर भगवान इंकरजीने धनुष हाथमें लेकर उनके पीछे धावा किया जिसपर वह स्वर्ग तक दोडे पर आजतक उनका पिंड नहीं छूटा-क्योंकि संध्या तो मृगी-अर्थात् रोहिणी नक्षत्र है, और उसके पीछे पीछ चलने वाला प्रजापित मृगशिरा नक्षत्र है-फिर उसका आखेट करनेको प्रतिक्षण उद्यत रहने वाला श्रीमहादेवजीका बाण [रीद्र] आर्द्रानक्षत्र बनकर उसके पीछे लगा रहता है-माव यह कि मूर्गीके

लिये जब प्रजापति मृग बने तो आप भी तुरत मृगयु [शिकारी] बन कर उनके पीछे पडे जिस भयसे वह अपनेको तीरसे विधा इआ समझकर नक्षत्रकपसे स्वर्ग में भागते फिरते हैं-इस स्ठोककी कथा स्कन्द प्राणादिकोमें विस्तृतकृप से वर्णित है-इसका भाव यह है कि ऑराको कौन कहे जब स्वयं प्रजापतिभी कामके वशमें पडकर कुपथ पर आरूढ़ होगये तो आपहीने उनकाभी शासन किया-अत एव आपकी महिमा सर्वथा अतुलनीय और अचिन्तनीय है!

"सुभ अरु असुभ कर्म अनुहारी, र्धश देश फल दश्य विचारी।" (तु० रा०)॥ 🏰 भाषा पद्यानुवादः 🛂

निज तनुजा अभिलाषते, कामुक परजानाथ। हरिन रूप धरि जात भे, विहरन हरिनी साथ॥ कर है धनु वेध्यो तिहै, गये स्वर्गहों भाग। तजत सिकारि अजहुँ नहिं, छच्छ पेक्षि करि लाग ॥ २२ ॥

🏂 भाषा विम्बम् 🤧 अपानी कन्याते रमन करिवेको मृगबने, प्रजास्वामी कामी सरग तललों दौरत थके। तवै आपौ व्याधा बनि तिहि लखेद्यो डरत सो, लिये ह थे चापी फिरहु अजहूं नांहि तजतो॥ २२॥

स्वलावण्याशंस धृतधनुष मह्नाय तृणव-त्पुरः प्लुष्ट दृष्ट्वा पुरमथन पुष्पायुध मपि । यदि स्त्रेणं देवी यमनिरत देहार्धघटना-द्वैति त्वा मद्धा बत वरद मुग्धा युवतयः ॥ २३ ॥ 🏰 मधुसूदनी टीका 😽

परमविशानां वराविष श्रीराममहादेवी लक्ष्मीपार्वत्यनुकम्पया क्रेणिमवात्मानं द्दीयेत इति प्रतिपादयन्स्तौति—

#स्वलावण्येति #। हे पुरमथन, हे यमनिरत, यमनियमासनाद्य-ष्टाक्रयोगपरायण । पतेन जितेन्द्रयत्वमुक्तम् । पुष्पायुधं कामं त्वया

रुणवन्तृणमिव अहाय शीघं प्छतं दग्धं पुरः साक्षादेवाव्यवधानेन रष्ट्रा चाक्षुषञ्चानविषयीकृत्य । कीट्यां पुष्पायुष्यम् । स्वलावण्यादांसा-भृतधनुषं स्वस्याः पार्वत्याः यह्नावण्यं सौन्दर्यातिशयस्तद्विषया आ रांसा परमयोगिनमपि श्रीरुद्रमस्याः सौन्दर्यातिदायेन वशीकरिष्याः मीति या प्रत्याशा तया निमित्तभूतया धृतं धनुर्येनेति तथा तम्। पतेन स्वलावण्यातिदायस्यापि श्रीरुद्रविषयेऽकिंजित्करत्वमुक्तम्। तथा चैव स्वलावण्यवैयर्थ्य पुष्पायुधस्य तृणवदाहं च स्वयं साक्षा-त्हत्यापि देवी गार्वती इयं चिरकालं मासुद्दिश्य तपः कृतवती चिर-दुःसं मा प्राप्नोति करुणामात्रेण देहाधघटनात् त्वया स्वरारीरार्घेऽवः स्थापनाद्वेतोश्रमबीजात् यदि त्वां सर्वयोगिनां वरं ह्मणं यद्ययं मद्-धीनो म भवेत्कथं मां स्वदारीरार्धं स्थापयेदिति भ्रान्त्या स्त्रीसकं यद्यवैति विशेषादर्शनाःकलप्यति तर्हि तद्दा युक्तमेव तस्याः। अयुक्तस्यापि युक्तत्वे हेतुमाह । वतेत्यादि । हे वरद, अतिदुर्लभमपि स्वदेहार्धे दत्तमिति वरदेति योग्यं संबोधनम् बत अहो, युवतयस्त-रुण्यः मुग्धा अतत्वद्धाः। स्वभावत एवेति शेषः। तथा च सहजान युवतिविभूषणानां प्रधानं भौग्ध्यमनुकुर्वन्त्याः स्वरूपतिश्चितिरूपाया अपि देव्या मिथ्याज्ञानं युक्तमित्यर्थः॥ हरिपक्षे तु । हे अर्धघटनाः दव, घटनाया अर्थमित्यर्थघटना अर्थापेष्पलीवत् । तस्या दवो वन-विहः। दाहक इति यावत्। सीतारूपाया लक्ष्म्याः रामरूपेणोचिताः रसंयोगात्स्वेच्छयाऽर्धसंभोगं दत्त्वाऽर्धविप्रसम्भं दत्तवानसीत्यर्थः। सा पूर्वऋोकोका देवी सीतारूपा लक्ष्मीः। की हशी। यमनिरतदेहा अत्यन्तपतिवता। तथा पुरमथनपुष्पा पुरस्य रारीरस्य मथनानि पीडकर्मने पुष्पाणि यस्याः सा तथा। पुष्पाणामपि (१)स्पर्शासहा। अतिसुकुमाराङ्गी इत्यर्थः त्यां श्रीरामरूपं यदि स्त्रैणमवै(२)त्यवगच्छति तद्केत्यादिपूर्ववत्। त्वां कीदशम् स्वकीयं लावण्यमत्रशौर्यादिगुण-कृतं सीन्दर्यं तस्मिन्नाशा यस्य स स्वलावण्याशस्तम् । सीताया अनुद्धरणाःस्वस्य शौर्यादिप्रसिद्धिर्गच्छेदिति स्वकीर्तिरक्षार्थिनमिः त्यर्थः। अत एव धृतधनुषं सज्जीकृतकोदण्डम्। इदमेकं म्रमबीजः मुक्तम् । भ्रमबीजान्तरमाह । अह्वाय तृणवत्पुरः व्लुष्टं दृष्ट्वा शीव्रमेष

⁽१) 'स्पर्भात्वीडोत्यनेरातिसुकु०' इति पाठ:। (२) 'मोति प्रत्येति' इति पाठः।

तृणस्येय पुरो लङ्कायाः प्लुष्टं दाहम् । भावे कः । तथायुधं युद्धमिष दृष्टा । आयुधशब्दस्य शस्त्रे युद्धे चानुशासनात् । तथा च स्वकी-तिरक्षार्थमत्यर्थमत्यन्तपतिवतायाश्च देव्याः कारुण्येन क्रेशिवमोच-नार्थं सज्जीकृतकोदण्डं त्वामर्धघटनादेवमप्ययं यदि मद्धीनो न भवेत्तः दा कथमेतादशदुष्करकर्माणि मामुद्दिश्य कुर्यादिति भ्रमेण स्त्रीसक-मिव कल्पयतीत्यर्थः । शेषं पूर्ववत् ॥ २३ ॥

र्हें। संस्कृत टीका । ≰

(षुरम्रथन !) हे त्रिपुरान्तक ! (स्वलावण्याशंसाधृतधनुषं) स्वस्याः पार्वत्याः पव यल्लावण्यं सौन्दर्ग्यातिशयो रूपशोभाविशेष स्तलक्षणं— यथा—

> "मुक्ताफलेषु छायाया, स्तरलत्व मिवा न्तरा। प्रतिभाति यद्क्षेषु तहावण्य मिहो च्यते॥"—

> > इत्युज्ज्वलनीलमणिः।

तस्य आशंसा प्रत्याशा-अर्था जितेन्द्रिय मि शिव मेतस्या लावण्येनैव जेष्याम्ये ताहशी धारणा, तथा चोक्त मि कुमारसम्भवे "कुर्या हरस्यापि पिनाकपाणे, धैर्यच्युति के मम धन्विनो उन्ये।" एवं रुप्या धारणया निमित्तकप्या धृतं धनु येन तं। "स्वलावण्या शंसे"ति पदं पृथक्कतंचेत् देवी-पदस्यापि विशेषणत्वं प्रयाति, तन्ना तमसीन्दर्यकार्तनशीला, रुपगविते त्यर्थः। (पुष्पायुधं) कामं (अहाय) झिटिति-अध्ययपद मेतत्। (पुरः) अप्रे (तृणवत्) शुष्कतृण सहशं (प्लुष्टं) दग्धं, प्रुषु-प्लुषु-दाहे-इत्यस्मा द्वातोः कप्रत्ययः,-तथाच, "यस्य विभाषा"-७।२।१५-इत्यत इट्न। (द्युष्टं अपि) साक्षा दवलोक्यापि (देवी) पार्वती (यमनिरतदेहार्द्वघटनात्) यमनियमा-सनाद्यष्टाक्रयोगतत्परशरीरार्द्वयोजनकारणात्, किंवा हेयमनिरतेति सम्बुद्धिपदं, तदमे स्वशरीरार्द्वे ऽवस्थापना देव (त्वां) परमजितेन्द्रियं (यदि) कदाचित् (स्त्रणं) स्त्रीसक्तं स्वाधीनं लम्पटमिति वा (अवैति)। तिर्धं तत् (अद्धा) युक्तमेव-"त-धीनं लम्पटमिति वा (अवैति)। तिर्धं तत् (अद्धा) युक्तमेव-"त-

स्वे त्वद्धाञ्चसा ह्रय"-मित्यमरः। हे (वरद!) देव्या अत्युत्कृष्टतपो विद्य स्वदेहार्द्धक्रपवरदातः! परमयोग्य मिदं सम्बोधनम् (वत) अहो! खेदे वा (युवतयः) तरुण्यः (मुग्धाः) मृद्धा अतस्वज्ञा इत्यर्थः "मुग्धः सुन्दरमृद्धयो"-रत्राप्यमरः। भवन्तीति शेषः। अत्राप्यर्थाः "मुग्धः सुन्दरमृद्धयो"-रत्राप्यमरः। भवन्तीति शेषः। अत्राप्यर्थाः स्वास पव। अर्द्धनारीश्वरक्षपवर्णनन्तु स्कन्दपुराणस्य माहेश्वरखण्डारुणाचलमाहात्मये २१अ० १९ श्लोकादारम्य २४पर्य्यन्तं तथा शिवपुराणस्थवायुसंहितापूर्वभागे १३अध्याये चार्द्धनारीश्वरस्तात्रं वह्मणोक्तं प्रेक्षणीयमेवेति विस्तरभया स्नह लिखितं अस्मिन् पद्ये कामदाहको भृत्वापि स्वय मर्द्धनारीश्वरक्षपधरो योगन्तस्वक्रो भगवा नेवेति परमाद्भुतमहिमप्रकाशनं स्पष्टीकृत मिति ॥२३॥

🧩 संस्कृतपद्यानुवादः 🦂

धनुर्धरं वीक्ष्य पुरः प्रदग्धं, पुष्पायुधं तुच्छतृणोपमानम् । देहार्द्धसंयोजनकारणा च्वे,-दवैति देवी (गौरी) त्रिपुरान्तक! त्वाम्॥ स्त्रीलम्पटं स्वीयवशंवदं वा, स्वकीयसौन्दर्ध्यं मिवो द्विरन्ती । तहीं श!मुग्धा वत सम्भवन्ति, स्त्रियो विदग्धा अपि निश्चयेन॥२३॥

🏂 भाषाटीका 🥳

पूर्व कथित क्लोकमें कामुक प्रजापतिके शासनकी बात कही गई-इससे एक शंका यह होती है कि महादेवजीने दुसरेको तो अन्याध देखकर दंड दिया पर स्वयं तो पार्वती देवीको अपने आधे अगमें लिये रहते हैं-अतएव वेभी तो कामुक हैं !-इस ! सन्देहकी निवृत्ति इसीक्लोकमें करते हैं—(पुरमथन) हे त्रिपुरासुरदाहक !-इस विशेषणका भाव यह है कि अकेले कामको कौन कहे आपने तो तीनठो पूरे पूरे पुरों | नगरों] होकी जलाकर भस्म कर डाला है- यह बहुत ही योग्य पिशेषण है ! (स्वलावण्याशंसाधृतधनुषं) अपनी लुनाईकी आशासे अर्थात् पार्वती देवीकी सुन्दरताके भरोसे धारण किया है धनुष जिसने ऐसे-(पुष्पायुधं) फूलही हैं आयुध जिसके-अर्थात् कामदेवको (अहाय) झटपट, उसीघड़ी (पुरः)

अपने सामने (तृणवत्) [सुखेहुए] तिनगाँके समान (प्लुष्टं) जलकर राख हुआ (रृष्ट्वा अपि) देखकर भी (देवी) स्वयं भग-वती पार्वती जी (यमनिरतदेहाईघटनात्) यम-नियम-आसन-इत्यादिमें तत्पर रहनेवाले शरीरमें आधा मिलालेनेसे (त्वां) आप पेसे परम जितेन्द्रिय पुरुषको (यदि) जो कि '(स्त्रैणं) स्त्रीजित, अथवा स्त्रीमें आसक (अवैति) समझती हैं तो (अद्धा) ठीक ही है। (वरद!) हे पार्बतीजीके बड़े कठोर तपोंको देखकर अपनी आधीरारीर देदेने वाले ! (वत !)बड़े खेदकी बातहें !! कि, (युवः तयः) जुवतीलोग (मुग्धाः) मुख्य तत्त्वको नहीं समझतीं-अतः मूढ़ही होती हैं। भाव यह है कि चाहे पार्वती देवीन त्रिपुरासुरका दाह न देखा हो पर कामदेवको-जिसने उहींके भरोसे आपको जीतलेनेकी इच्छासे धनुष उठाया था अपनेही सामने जल भुनकर राख हुआ देखकरभी अटल समाधिलगानेवाले आपको अपनी आधी शरीरके देडालनेसे यदि स्त्रीमक समझतीं हैं तो यह बड़े खेदकी बात है, कि तरुणीलोग मुढ़ही बनी रहती हैं। चेतनस्वरूः पा भगवती का मायारूपा होनेहीसे मुग्धा होना सिद्ध है। फिर, यथा-"सत्य कहाई कवि नारि सुभाउ,

सब विधि अगम अगाध दुराऊ। निज प्रतिविंब मुकुर गहि जाई जानि न जाइ नारि गति भाई।" (तु०रा०)

योंही पार्वतीजीको आधी शरीर देडालनेकी बातमी दूसरे प्रकारसे रामायणमें कहीगई है जैसे कि—

> "हरखे हेतु हेरि हर हीको, किय भूषन तिय-भूषन तीको।" (तु० रा०)

> > किंबा-

"अजा अनादि शक्ति अविनासिनि, सदा संभु-अरधंग-निवासिनि।" इत्यादि (तु० रा०)

🙀 भाषापद्यानुवादः 🦂

जासु छुनाई आस वस, परम धनुर्धर मार। देखत देवी सामुँहे, तृन-सम भो जरि छार॥ अर्थ देहके घटन (दान) ते, स्त्रीजित समुझहि तोहि। अहह ! जोगिवर ! वरद ! ध्रुव, ज्ञुवती मुगधा होंहि॥ २३॥

कि भाषाविम्बम् कि स्वसींदर्जे भाषी घनुषधर पुष्पा-युध सज्यो, भयो छारै देखी तृन-सिरस आगे मदनको। भवानी जी स्वीजित् अरध-तनु पाके समुझती, प्रभो! भोळी भाळी निपट मित होती जुबतिकी॥ २३॥

स्मशानेष्त्रा क्रीडा स्मरहर पिशाचाः सहचरा-श्रिताभस्मालेपः स्नगपि नृकरोटीपरिकरः । अमङ्गल्यं शीलं तव भत्रतु नामैव मिखलं तथापि स्मर्तॄणां वरद परमं मङ्गलमिस ॥ २४॥

दें। मधुसूदनी टीका 🚓

अथ स्वयममङ्गलशीलतया क्रीडन्निप भक्तानां मङ्गलमेव द्दाः सि, स्वयममङ्गलशीलानामिप भक्तानां त्वमेव मङ्गलमसीति च वदः न् शंकरनारायणी स्तौति—

* स्मशानेति । * हे स्मरहर, हे वरद, तवाखिलमि शिलं स-वैमिप चिरतं प्वंप्रकारेणामङ्गल्यं मङ्गलविपरीतं भवतु नाम । किं नस्तेन निक्षितंनेत्यर्थः । तथापि स्वयममङ्गलशीलोऽपि स्मर्तृणां त वस्मरणकर्तृणां त्वं परमं मङ्गलमेवासि निरितश्यं कल्याणमेव भ-वसि तेनामङ्गलशीलो ऽयं रुद्रो न मङ्गलकामैः सेवनीय इति भ्रमं पः रिद्दृत्य मनोवाङ्गायप्रणिधानैः सर्वदा सर्वैः सेवनीयोऽसीत्यर्थः । प्वंपद्स्चितममङ्गल्यं शीलमेव दर्शयति । स्मशानेषिव त्यादि । स्म-शानेषु शवशयनेष्वासमन्तात्केलिः, पिशाचाः प्रेताः सहायाः, चिताः मस्म शवदाहस्यं भस्माङ्गरागसाधनम्, नृकरोटी मनुष्यशिरोस्थिः समृहस्रद्धाला । अपिशब्दाद्नयद्प्यार्द्रचर्मादि ॥ * हरिपक्षे तु । *

हे वरद, तव स्मतृंणाममङ्गल्यं शीलं भवतु नाम, तथापि तेषां त्व-मेव परमं मङ्गलमसीत्यर्थः । तथाच गीतासु-'अपि चेत्सुदुराचारो अजते मामनन्यभाक् । साधुरेव समन्तव्यः सम्यव्यवसितो हिसः' इति । अथवा तव नाम स्मर्नृणामिति योज्यम्।नामन्नात्रं स्मरतां परमं . मङ्गळमासि त्वां स्मरतां तु किमु वाच्यमित्यर्थः। कीहवां नाम। अखिळं न खिलं फलरहितमखिलं सर्वदा सर्वत्र सफलमिलार्थः। अत्यन्तपापित्<mark>येन</mark> प्रसिद्धानामजामिलादीनामपि त्वन्नाममात्रस्य पुत्रनामत्वेन मरणव्य-थया शिथिलकरणत्वेन च मन्दमुच्चारणेऽपि सर्चपापश्चयद्वारा पः रमपुरुषार्थमातिश्रवणात्। अमङ्गल्यं शीलमेव दशयति। स्मशाने-हिम्त्यादि रूपकेण । अत्यन्तितरस्कृतिवाच्यो ध्वनिरयं लक्षणामुलः । द्यावद्ययनतुल्येषु सर्वदा रोदनप्रधानगृहेण्वा-ईषत् क्रीडा । अल्पका-लं वैषायिकतुच्छसुखप्राः प्रिरित्यर्थः । तथाच स्मरहरपिशाचाः सह-चराः स्मरणं स्मरः शास्त्रीयो विवेकस्तं हरन्तीति स्मरहराः पिशा-चत्रत्याः, पुत्रभायादयः पिशाचाः, समरहराश्च ते पिशाचाश्च समर-हरपिशाचाः। यथा पिशाचाः स्वावेशेन ज्ञानलोपं कृत्वा पुरुषमन्थे योजयन्ति तथा पुत्रभायीदयोऽपि । ताहराश्च वस्तुगत्या वैरिणोः ऽपि सहैव चरन्ति न क्षणमपि त्यजन्तीति सहचराः। तथा चिता-भस्मतुरुव आलेगः। देहस्य विष्मुत्रपूरादिपूर्णत्वेनातिजुगुप्सितः त्वात्तदालेपनस्याप्यतिज्ञगुप्सितत्वम् । तथा मनुष्यशिरोस्थिसमुः हतुल्या माला पिशाचतुल्यं भार्यादि विनोदहेतुत्वात् । अपिशब्दाः दन्यदपि सर्वे चरितं विषयसिङ्गनाममङ्गलमेव। एताहशा अपि चे-स्वां त्वन्नाम वा समरान्ति तदा त्वमेव तेषां मङ्गल्य रूपेणाविर्भवसी-खहोऽतिभक्तवात्सव्यमित्यर्थः। *हरपक्षेण्येवं योजनीयम् ॥ २४॥

🛊 संस्कृत टीका 😤

(स्मरहर!) हेकामनाशक! (श्मशानेषु) शवदहनस्थलेषु (आक्रीडा) समन्तादिहरणं, तथा (पिशाचाः) भूतवेतालादयः (सहचराः) सहचारिणः सहाया वा (चितामस्म) मृतदेहदाहा-र्थनिचितदग्धकाष्ठक्षारं-"चितं छन्ने त्रिषु चिता चित्यायां संहतौ स्त्रियाम्।" (आलेपः) समन्ताद्विलेपनमङ्गराग इत्यर्थः। अथ च (नृकरोटीपरिकरः) नृणां मनुष्याणां करोट्यः शिरोऽस्थीनि-''शि- रोस्थीनि करोटिः स्त्री"-स्प्रमरः। गौरादित्वात् डीष्। तासां परिकरः समृद्दः "भवेत्परिकरो वाते"-इति विश्वप्रकाशः। अर्थाकरः
कपालवृन्दं (अपि स्नक्) माला (एवं) अनेन प्रकारेण (तव)
भवतः (अखिलं) समस्तं (शीलं) स्वभावः-"शीलं स्वभावे
सक्त्रे-"इत्यमरः। (अमङ्गल्यं) कल्याणरिहतं अभव्यमितियाः
वत्-"तत्र साधुः"-४।४।९८ इति यत् प्रत्ययः। (भवतु) तिष्ठतु
(तथापि) हेतुनिर्देशस्चनं। हे (वरद!) ईिस्तिकामनाप्रक!
(नाम) तवाभिधानमपि अथवा नामेति सम्बुद्धिस्चकं (स्मर्तृः
णां) चिन्तकानां (परमं) सर्वेतिकृष्टं (मङ्गलं) मङ्गल-स्वरूपं भद्रे
वा (असि) भवसि। अत्र स्वयममङ्गलमयस्वरूपेण विहरण्णि
स्वचिन्तकेम्यो भवान् परमं मङ्गलं ददातीति महन्नक्तवात्सल्यं
विश्वरीकृत्य इमशानाद्यपकरणवर्णनयाच महामहिमा प्रदर्शित इति।
यथा चोक्तं शिवपुराणस्थ-ज्ञानसंहितायाश्चतुर्दशाध्याये—

"यद्यप्यमङ्गलानीह सेवते शङ्करः सदा। तथापि मङ्गलं तस्य स्मरणादेव जायते॥ ५६॥ शिवेति मङ्गलं नाम मुखे यस्य निरन्तरम। तस्यैव दर्शनादन्ये पवित्राः सन्ति नित्यशः॥ ५०॥"

द्रै संस्कृतपद्यानुवादः 😤

प्रभो ! इमशानेषु सदा निवासः, प्रेतैः पिशाचैश्च समं विहारः । तथा चिताभस्मावेलेपनं ते, विभूषणं मानवमुण्डमाला ॥ एवंविधो भवतु यद्यपि ते स्वभावो, नित्यं समस्तशुभकमेविविज्ञितो वा । शम्भो ! तथापि नितरां निजचिन्तकानाः मुत्रुष्टमङ्गलमयोऽसि शिवस्वक्षपः ॥ २४ ॥

😤 भाषा टीका 🦂

(स्मरहर!) हे कामनाशक ! [इससे पूर्वश्लोकमे कामदेवके दह-नकी चर्चा होनेसे यहां पर यह संबोधन बहुतही उचितरीतिसे प्र-रोग किया गया है] (इमशानेषु आक्रीडा) मरघट या मसानों प

र चारो ओर खेळवाड करना, तथा (विशाचाः सहचराः) भृत पिशाचोंको अपना सहचर (साथी) बनाना। एवं (चिताभस्माः लेपः) चिताकी राखको अपने शरीरमें लेपन करना । और फिर-(अपि नृकरोटीस्रक्) मनुष्योंकी मूडी [खीपड़ी] हीकी माला भी पहिरना (परिकरः) आपकी यही पूँजी अथवा शृंगारकी सा-मग्री है। (पवं) इस प्रकारसे (तव) आपका (अखिलं शीलं) समुचा स्वभाव [सारा बाना] (अमङ्गरूपं) मंगलसे रहित (भः वतु) होवे, (तथापि) तोभी (नाम स्मर्तृणां) केवल नामही को स्मरण करनेवालीं के लिये (परमँ) बहुत भारी (मङ्गलं असि) मः कुल-स्वरूप आप होते हैं। भाव यह कि -आप मरघटें।पर विहार, भूत प्रेतों का संग, चिताकी राखका अंगराग, और मनुष्योंके मुं-इकी माला--इत्यादि समस्त अग्रुभ पदार्थीहीसे सजे रहते हैं, पर जो लोग केवल आपका नाम स्मरण करते हैं, उनको मंगल्रही। देते हैं-यह अद्भुत महिमा है। यहां पर आप-स्मरहर हैं और आ-पका अमङ्गल शील है-यह कहकर फिर-स्मरण करने वालोंके आ-पहीं परम मंगल दाता हैं — ऐसी उक्तिके कारण विरोधालंकारके सहित विचित्रालंकारभी-अर्थान्तरन्यासमें मिला हुआ है। नामके स्मरणका फल समस्त पुराणादिकोंमें सविस्तर वर्णित है, और तुलसीकृत रामायणमेंभी नाममहिमाका एक प्रकरणही है अत एव उसे वहीं देखलेना चाहिए-और एक प्रथमी-"नामायन" नामका छपा है जिसमें केवल नामहीकी महिमाका सङ्ग्रह किया गया है। किरभी इतना कहदेना आवश्यक हैं कि,-

"भव अंग भूति मसानकी — सुमिरत सुहावनि पावनी।" (तु० रा०)

औरभी यथा—"भाय कुभाय अनख आलसहू, नाम जपत मंगल दिसि दसहू।" (तु० रा०)

र्भ भाषापद्यानुवादः 🎇

खेलहु आप मसान पै, साथी भूत पिसाच। लेपि चिता राखी धरहु-मुंडमाल करि नाच॥ जदपि अमङ्गल सील तुम, पै सुमिरै जी कीय। ताहि सुमंगल गँजत (देत) हो, वरदायक! शिव होय २४॥

र्भ भाषाविम्बम् 🆂

मसानों पे लीला सहचर पिसाचै संग करो, चिता-राखी लेपो नर-सिरिन माला पहिरतो। तिहारे कर्मो (सीलों) में जदपि नहि एकी सुभ अहैं, तबी नामे लेके सुमिरत जन मंगल लहैं॥ २४॥

मनः प्रसिविचेतं सिवध मवधाया त्तमरुतः प्रहृष्यद्रोताणः प्रमदसिललोत्सिङ्गितदशः । य दालोक्या ह्यादं हद इव निमज्ज्या मृतमये दथस्य नतस्तत्वं कि मिप यभिन स्त त्किल भवान् २५॥

🚰 मधुसूदनी टीका 🦂

अतीतः पन्थानमित्यत्र हि पदार्थत्रयमुपन्यस्तं, कतिविधगुण इत्यनेन सगुणमैरवर्य, कस्य विषय इत्यनेनाद्वितीयं ब्रह्मस्वरूपं, प-वे त्वर्वाचीन इत्येनन लीलाविष्रहविहारादि। तत्र अजन्मानी लो कः इत्यत्र सामान्यतः परमेश्वरसद्भावं दढीकृत्यः, तवैदवर्यं यत्नाद्यः दुपरीत्यादिना सगुणमैरवर्यं लीलाविष्रहविहारादिकं च वर्णितम्। संप्रत्यद्वितीयं ब्रह्मस्वरूपं वक्तव्यमविशिष्यते। तदनभिधाने पृथीं कस्य सर्वस्यापि तुषकण्डनवत्त्वप्रसङ्गान्निर्गुणब्रह्मस्वरूपस्येव सर्वः श्रुतिस्मृतितात्पर्यविषयत्वेन सत्यत्वात्, सर्वस्यापि प्रपञ्चस्य स्व-प्रवन्मिथ्यात्वात् । तस्मान्निर्गुणब्रह्मनिरूपणायोत्तरप्रन्थारम्भः । तः त्र पूर्वप्रलोके त्वं परमं मङ्गलमसीत्युक्तम्। तत्रैवमाराङ्क्यते। मङ्गलं हि सुखम्। न चेश्वरस्य सुखस्वरूपत्वं सम्भवति, सुखस्य जन्य-स्याहुणत्वाश्च, ईइवरस्य नित्यत्वादद्रव्यत्वाच्च । नित्यज्ञानेच्छाप्रयः त्ववानीइवरो न सुखरूपो नापि सुखाश्रय इति तार्किकाः। क्रेशकर्भे॰ विपाकाशयरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरश्चिति हपो न सुखरूप इति पातअलाः। तदेवं नाद्वितीय ईश्वरो नापि सुखस्वरूप इलाशङ्का तस्याद्वितीयपरमानन्दरूपत्वे विद्वदनुभवरूपं प्रत्यक्षं प्रमाणं वदः न्स्तौति-

#मन इति * । हे वरद, यत्किमपि तस्वं इदंतया वक्तुमशक्यं सत्यज्ञानानन्तानन्दात्मकं वस्त्वालोक्य वेदान्तवाक्यजन्ययाऽख-ण्डाकारवृत्त्याऽपरोक्षीकृत्य यमिनः शमादिसाधनसंपन्नाः परमहंसाः अन्तराह्यादं बाह्यसुकाविलक्षणं निरतिशयसुक्तं द्वित पूर्वे विद्यमान-मेव धारयान्ति न तूरपादयन्ति नित्यत्वात् । तत्तर्वं किल भवानिति । किलेति प्रसिद्धौ। सत्यज्ञानानन्तानन्दात्मकत्वेनेच श्रुतिषु प्रसिः द्धी भवान्न तार्किकाद्यक्तप्रकारः। अतस्त्वं कथं परमं मङ्गलं न भवः सीति वाक्यशेषः। तत्राह्वादस्य निरातशयःवं दर्शयितं द्वान्तमा-ह अमृतमये हदे निमज्ज्येव यस्य खलु लेशमात्रमपि स्पृष्ट्वा सकः लसंतापोपरामेन सुखिनो भवन्ति, किमुत वक्तव्यं तस्य निमज्जनकः पसर्वाङ्गसंयोगेनेति कारणातिशयात्कार्यस्याप्यतिशयः सुचितः । य-द्यपि ब्रह्मानन्दस्य सर्वातिशयिनो न कोऽपि इष्टान्तोऽस्ति तथापी-षत्साम्येनापि लोकानां बुद्धिदार्ह्यायैवमुक्तम्। एतादृशब्रह्मानन्दानुः भवस्यासाधारणं कारणमाह मन इत्यादिना। चित्ते-हृदयाम्बुजे मनः संक पविकल्पात्मकमवधाय-निरुध्य । वृत्तिशून्यं कृत्वेत्यर्थः । कीं हरा मनः। प्रत्यक् चक्षुरादीन्द्रियाद्वारा बहिर्विषयप्रवृत्तिप्रति-कूलतया अन्तर्भुखतयेवाश्चतीति प्रत्यक्। की हशा यमिनः। सवि-धं-सप्रकारं यथा स्यात्तथा आत्तमरुतः, शास्त्रोपदिष्टमार्गेणैव कु-तप्राणायामा इत्यर्थः । अत्र सविधमित्यनेन यमनियमादिसाधनानि स्चयन्ते । आत्तमरुत इत्यनेन चतुर्थः कुम्भकः । विषयेभ्य इन्द्रियाः णां निवर्तनरूपः प्रत्याहारः प्रत्यक्पदेन सुचितः। चित्त इत्यनेन हृद्याम्बुजाख्यदेशसं(१)बन्धात्समूहावलम्बनाख्या धारणोक्ता । अ-वधायेत्यनंन ध्यानसमाधी। तदुक्तं भगवता पतञ्जलिना-'देशसम्ब-स्थित्रित्तस्य धारणा । तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् । तदेवार्थमात्र-निर्भासं स्वरूपशृन्यमिव समाधिः' इति । चित्तस्य वशीकरणार्थ मुलाधारस्वाधिष्ठानमणिपूरकानाहतविशुद्धाञ्चाव्यचकाणामन्यतमे देशेऽवस्थापनं धारणेत्युच्यते । प्रत्ययस्य एकतानता (एकविषयप्र-वणता(२)) विषयः प्रवाहः। स च द्विविधः। विच्छिद्यविच्छिद्य जाः यमानः संततश्चेति । ताबुभौ क्रमेण ध्यानसमाधी भवतः। पतेनाः

⁽१) 'सम्बन्धद्वारेण धारणोक्ता' इति पाठः।

⁽२) 'एकतः नतेकविषयः' इति पाठः ।

ष्टाङ्गयोगपरिपाको ब्रह्मसाक्षात्कारहेतुर्निदिध्यासनरूपत्वेनोकः। एवं ब्रह्मानन्दानुभवस्य कारणमुक्का कार्यमाह । प्रहृष्यद्रोमाणः प्रकर्षेण पुलकिताङ्काः । तथा प्रमद्सलिलोत्सङ्कितदशः हर्षाश्चपूर्णनेत्राः । एतः दुभयं च यमिनामानन्दानुभवानुमाने लिङ्गमुक्तम् । अत्र प्रशब्देनोत्स- ङ्कितशब्देन च लौकिकसुखापेक्षयाऽतिशयविशेषो व्यज्यते । यस्य च तत्त्वस्यालोकनमात्रेणाध्यन्ये परमाह्वादं विभ्रति, तत्स्वयं परमाह्वादरूपं भवतीति किमु वक्तव्यमित्युक्तम् । 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' 'आन्तद्दो ब्रह्मोति व्यजानात्' 'एष एव परम आनन्दः' 'योवै भूमा तत्सुखं' कोह्यवान्यात् कः प्राण्याद्यदेष आकाश आनन्दो न स्यात् ' इत्याच्याश्चतयश्चास्मिन्नर्थे प्रमाणत्वेन द्रष्टव्याः ॥ शहरिपक्षेऽप्येवम् शार्थ॥

🚼 संस्कृत टीका 🦂

हे प्रभो ! (प्रत्यक्) चक्षुरुश्रोत्रादीन्द्रियद्वारा प्रत्यञ्चतीति प्रत्यक् (मनः) सङ्कुल्पविकल्पात्मकं प्रधानेन्द्रियं (चित्ते) हृद्याकाशे (सविधं) सप्रकारं यथा स्यात्तथा (अवधाय) संस्थाप्य निरु द्वयेति यावत् (आत्तमरुतः) गृहीतवायवः, योगशास्रोक्तविधिना कृतप्राणायामा इत्यर्थः। अत एव (प्रहृष्यद्रोमाणः) प्रकर्षेण पुल-किततन्रू रुहाः। तथाच (प्रमदसिललोत्सिङ्गितदशः) हर्षाश्चपूरितः लोचनाः । अर्थात् एतादृशीं दशामापन्नाः (यमिनः) यम-नियम-शम-दमान्विता योगिनः (यत्) इयत्तया वक्तुमशक्यं सिच्चदाः नन्दमयं (किमपि) अविज्ञातविषयं वस्तु (अन्तः) अन्तःकरण-मध्ये, स्वीयान्तरात्मनि इति वा (आलोक्य) ज्ञानचक्षुषा समीक्ष्य (अमृतमये) परानन्दपूर्णे, अथवा जलप्रपूरिते-"पयः कीलालः मसृत-"मित्यमरः । (हदे) अगाधजलाशये (निमज्येव) अवः गाहनं कृत्वेव (आह्रादं) अनिर्वचनीयं सुखं (द्धति) धारयन्ति (तत्) तदेव प्रसिद्धं (तत्त्वं) परमात्मा-"तत्त्वं परात्मिनि। वाद्यमेदे स्वरूपे च-"इति हमचन्द्रः। (भवान्) त्वमेव (किल) इति निश्चयेन। अस्तीति शेषः। अत्र ध्यानधारणासमाधिनिष्ठै-र्योगिभि यंत्तस्वं हृद्याकाशेऽवलोक्यते तत्स्वरूप एव भवानिति परमात्मरूपवर्णनपुर्ण परममहिमानं विश्वदीकुर्वता कविना स्वस्याः वि योगाचार्य्यत्वं स्फुटीकृत मितिक्षेयम्॥ २५॥

रूसंस्कृतपद्यानुवादः दूर्भे यत्नान्निष्ट्रते विषयेभ्य आत्मिनि, चित्तं समाधाय विधानपूर्वकम् । रोमाञ्चिता एव गृहीतवायवो, हर्षाश्चसम्पूरितमीलितेक्षणाः ॥ यद्योगिनो वीक्ष्य सुधामये हुदे, सुखं निमज्येव भवन्ति मोदिताः । त त्सचिद्रानन्द्धनस्वक्रपकं, त खं किमण्यस्ति भवान् किल प्रभो !॥ २५ ॥

🧩 भाषाटीका । 🛠

हेप्रभो! (प्रत्यक् मनः) नेत्रादिक इन्द्रियोंसे, बाह्यविषयोंकी प्र-बृत्तिकी प्रतिकूलनासे भीतरकी ओर खींचने वाला, संकल्प बिक-ल्पात्मक इन्द्रियोंमें प्रधान मनको (चित्ते)ह्रस्या-काशमें (स-विद्यं) विधिपूर्वक (अवधाय) लगाकर अथवा रोककर (आत्तमः हतः) योग शास्त्रकी रीतिसे स्वासको रोकरखने वाल, अर्थात् कुं-अक नामक प्राणायामकी विधिसे स्वासको रोके रहने वाले (प्रहृष्य-द्वोमाणः) इसी कारणसे विशेष रोमांचित हुए । और (प्रमदसाल-लोत्सङ्गितद्दाः) बड़ हर्षके मारे अश्रुजलसे परिपूर्ण हैं नेत्र जिनके वेसे (यमिनः) यमानियम-शम-दम इत्यादिसे युक्त योगीलोग (यत्) जिस, अर्थात् इतनाही-भर कहनेको अशक्य सचिदानन्द मय (कि-मीप) कोई भी अविज्ञातविषय वस्तुको (अन्तः) अपने अन्तः करणमें अथवा अपने अन्तरात्मामें (आलोक्य) ज्ञानचक्षुसे देखकर (अमृतमये) परमानन्दसे पूर्ण, किंवा जलसे भरे हुए (हरे) अगाध जलाशयमें (निमज्य इव) मानों गोंता लगाकर, डूबकर (आल्हादं) अनिर्वाच्य सुखको (दधति) धारण करते अथवा प्राप्त होते हैं (तत् तन्वं) वह प्रसिद्ध तत्त्व अर्थात् परमात्मा (भवान्) आपही हैं (किल) नि श्चय करके। आभिप्राय यह है कि - बाह्य विषयों से मनको मोडकर और विधिपूर्वक अपने हृदयरूपी आकाशमें बैठाकर योगीलोग जिस अकथनीय वस्तुको देखकर प्राणायामके द्वारा द्वासवायुको रोके दुए वरमानन्दसे नेत्रोमें हर्षाश्चको भरे पुलकित होते हैं, जैसे कोई उष्ण-

तासे तापित होकर निर्मल जलसे परिपूर्ण अगाध सरोवरमें गैंति लगाकर वडा अल्हादित होताहै—वही परमतस्व आप हैं अर्थात् योगी लोग जो अटल समाधि लगाकर परमानन्दका अनुभव कर-ते हैं वह आपही हैं--इस कथन से यह सिद्ध होताहै कि आपको कोई मी किसी प्रकारसे बता नहीं सकता क्योंकि आप ज्ञानगम्य हैं अत एव वाणी द्वारा आपका प्रतिपादन करना सर्वथा असंभव है--जैसा कि "अतीतः पन्थानं (२)" में कह आये हैं-उस इलोक में तीन बातें कही गई हैं। अर्थात् "कतिविधगुणः"-इस वाक्यसे सगुण ऐइवर्थ जनाया है। "कस्य विषयः"इस पदसे अद्वितीय ब्रह्म स्वरूपका प्रतिपादन किया है। और "पदे त्वर्वाचीने"--इस कथनः से लीला विष्रह तथा विहारादिकका बोधन किया है। इनमें पहिले "अजन्मानी लोकाः" (६)--यहां पर सामान्यरूपसे परमेद बरकी सत्ताको दढ़ करके - "महोक्षः खट्वाङ्गं (८)" तथा--तवैश्वर्यय-रना च दुपरि (१०) इत्यादि पद्योंसे सगुणरूपकी महिमा और लीला शरीर तथा विहारादिकींका वर्णन किया है। अब अद्वितीय ब्रह्मस्व रूपका वर्णन करना अवशिष्ट (बाकी) रहा जाता है, अत एव यहां पर निर्गुण ब्रह्मका निरूपण आरम्भ करते हैं, क्योंकि निर्गुण ब्रह्मके निरूपण किये विना पहिलेका कहा हुआ सब कुछ भूसी कूटनेके समान व्यर्थही हुआ जाता है - कारण यह कि समस्त वेद और दाास्त्रोंका तात्पर्य्य एकमात्र निर्गुण ब्रह्म स्वरूपहीके निरूपण करनेमें सत्य विषय होता है--क्योंकि जितने प्रपश्च हैं वे सव स्वप्नके समान मिथ्या हैं। इसी लिये यहां पर निर्गुण ब्रह्मका निरूपण करदेना आ-इयक समझकर प्रथकार उत्तरप्रथका आरम करते हैं। यहांपर यह शंका होती है कि पूर्वदलोकमें कह आये हैं कि आपही परम मंगल स्वरूप हैं--तो मंगलका अर्थ सुख है--इसलिये ईर्वर सुखका स्वरूप नहीं हो सकता, क्योंकि सुख तो जन्य वस्तु है अर्थात् उत्प-न्न होता है और नष्ट होता है, फिर सुखमें गुणत्वभी वर्तमान रहता है, और ईइवर नित्य है, फिर वह कोइ द्रव्यभी नहीं है। नित्य शाः न इच्छा-और प्रयत्न वाला ईश्वर सुखरूप नहीं है और न सुखों-का आश्रयही है," यह तार्किकलोगों का मत है। 'क्लेश-कर्म-विपाक-आशय इत्यादिसे दूर रहनेवाला चैतन्यमय पुरुष-वि-

शेषही इंश्वर है जोिक सुबह्म नहीं होता-"यह पातंजल मत हैं। अत एव अद्वेत ईश्वर कदापि सुबमय नहीं हो सकता-इसी शंका का समाधानकरते हुए ईश्वरिके अद्वितीय-परमानन्द-ह्मपतामें विद्वाः नोंके अनुभव सिद्ध प्रत्यक्ष प्रमाणको दिखलाया है-भाव यह कि यदि योगी लोगोंको कोई आनन्दही नहीं मिलता तो इतनी बड़ी बड़ी समाधि लगाकर वे लोग कैसे पड़े रहते? क्योंकि आनन्दका लक्षण नेत्रोंमे अश्रुका भरजाना तथा शरीरका पुलकित होना स्पष्ट है-इससे उन योगियोंको जो परम आनन्द प्राप्त होता है वही आप हैं, अतः ब्रह्म का सत्-चित्-आनन्दमय होना प्रत्यक्ष सिद्ध है। जैसाकि—"आनन्दो ब्रह्मोति व्यजानात्-" इत्यादि श्रुति वाक्योंसे प्रमाणित है। अतएव निर्मुण ब्रह्मही आनन्दमय है यह बात सर्वथा सिद्ध है। क्योंकि जिसके लिये प्रत्यक्ष प्रमाण मिल रहा है उसपर किसी प्रकारका तर्क नहीं चल सकता।

रामायणमें भी नारदमुनिके व्यामोह प्रकरणमें यों कहा गया है—

"सुमिरत हरिहि स्वांस गति बांधी, सहज विमल मन लागि समाधी।"

और योगियोंको जो तत्त्व दिखलाई पड़ता है उसका भी आभा-स सीतास्वयंरमें झलकाया है, यथा —

"जोगिन परम तत्त्वमय भासा,

सन्त सुद्ध मन सहज प्रकासा ।" इत्यादि (तु० रा०)

हृदय-कमल मँह राखि मन, प्रान वायुको खींचि। पुलकित तनु हरषास्तुते, नयन-कमल जुग सींचि॥ बूडि अमृतमय तालम, पावहिं जिमि सुखरासि। लहिं जोगिगन तत्त्व जो, सो तुम अंतस-भासि॥ २५॥

🔆 भाषाबिम्बम् 🦂

लगाके आत्मामें सविध मनको रोकि पवने, भरे रोमांचीसे हरष-जल-पूरे नयन है। लखें जोगी जाको अमृत सरमें स्नान करिधीं लढें जो आनंदे अकथ शिव! सो तत्त्व तुम है।॥ २५॥ त्व मके स्त्वं सोम स्त्व मिस पवन स्त्वं हुतवह-स्त्व माप स्त्वं व्योम त्व मु धरणि रात्मा त्व मिति च। परिच्छिन्ना मेवं त्विय परिणता विश्वतु गिरं न विद्यस्त त्तत्वं वय मिहतु य त्वं न भवसि ॥२६॥

😤 मधुसृदनी टीका 🦂

प्यमद्वितीये ब्रह्मणि परमानन्दरूपे सर्वात्मके विद्वद् नुभवरूपं प्रत्यः क्षं प्रमाणमुक्तम्। अधुना तस्यैवाद्वितीयत्वं तर्केणापि साधयन्स्तौति-त्वमर्क रति । हे वरद, परिणताः परिपक्क बुद्ध यस्विये विषये पर्व परिच्छिन्नामेवंप्रकारेण परिच्छिन्नत्वेन त्वां प्रतिपादयन्तीं गिरं वाचं विभ्रत धारयन्तु नाम । केन रूपेण परिच्छिन्नामित्यत आह—त्वमर्क इत्यादिना । अत्र सर्वत्र त्वंशब्दो वाक्यालंकारार्थः । उशब्दोऽवधार-णे त्वमित्यनेन सम्बध्यते । चशब्दः समुच्चये । इतिशब्दः समाप्तौ । अर्काद्यः प्रसिद्धाः । आत्मा क्षेत्रक्षो यजमानरूपः। एते चाष्टी श्रीरुद्रमूर्तित्वेनागमप्रसिद्धा वश्यवाणभवादिनामाष्ट्रकसहिताश्च-तुर्ध्यन्ता नमोन्ता अष्टी मन्त्रा भवन्ति ते गुरूपदेशेन झातव्याः। पतद्षमृतित्वं चान्यत्राप्युक्तम्—'क्षितिद्वतवहक्षेत्रशाम्भः प्रभञ्जनः चन्द्रमस्तपनवियदादित्याष्टौ मूर्तीनमो भव विभ्रते' इति । तेन सर्वाः त्मकमि त्वा मकी द्यष्टमात्रमृति वदन्तीत्यर्थः। अत्रापरिणता इ त्यस्मिन्नर्थे परिणता इति सोपहासं विभ्रत्विति लोटाननुमता-षप्यनुमितप्रकाशनात्। तेन सर्वथानुचितमेवैतिदित्यर्थः। तिर्हे किमुचितं ज्ञात्वा त्वयेदमनुचितमुच्यत इत्यत आह—नेत्यादिना। हि यस्मात् इह जगित तत्तस्वं वस्तु वयं न जानीमा यद्वस्तु त्वं न भवसि । त्वद्भिन्नमिति यावत् । अत्र स्वस्य प्रमाणकौरालेनोत्कर्ष ख्यापियतुं विद्य इति वहुवचनम्। वयं तु त्वद्भिन्नत्वेनैव युक्त्या सः र्वे जानीम इत्यर्थः। एवं च तव सर्वात्मकत्वाद्कादिविशेषक्षाभिः धानं व्यथमेव । तथा च श्रुति:-धन्द्रं मित्रं वरुणमिमाहुरथो दि-व्यः स सुपर्णी गरुत्मान् । एकं सद्विपा बहुवावदन्त्यिम यमं मा-तरिश्वानमाहुः' 'एप उ होव सर्वे देवाः' इति च सर्वदेवभेदं वारयः

ति । निह सदतिरिक्तं किचिद्रपलभ्यते सद्रुपश्चात्मा त्वमेवेति तर्के-णापि सिद्धमद्वेतम् । नच सर्वस्य ब्रह्मरूपत्वे घटादिशानस्थापि ब्रह्म-ज्ञानस्वरूपत्वात्ततोऽपि मोक्षप्रसङ्ग इति वाच्यम् । अन्यानुपरक्तचै-तन्यभावस्येव मोक्षहेतुत्वात् । घटाद्याकारज्ञानस्य चाविद्यापरिक. हिरतान्योपरकचेतन्याविषयत्वात् । अन्योपरकचेतन्यस्य च सद्द-पेण चशुरादिविषयत्वेऽप्यन्यानुपरक्तस्येतस्य न वेदान्तवाक्यमात्रेः विषयत्वव्याघातः। ननु सर्वस्य सन्मात्रत्वेऽपि नाद्वेतसिद्धिः। भि-मानामपि सत्ताजातियोगेन सदाकारबुद्धिविषयत्वसम्भवात्। अ न्यथा द्रव्यगुणकर्मादिभद्व्यवहारोऽपि न स्यादिति चेन्न। द्रव्यं स-दु गुणः सन्नित्यादिप्रतीतेर्द्रव्यत्वादिधर्मविशिष्टेकसन्मात्रविषयत्वमेव न त द्रव्यादिधर्मिषु भिन्नेषु सत्ताख्यधर्मविषयत्वम्, धर्मिकल्पनातो धर्मकल्पनाया लघुत्वात्। एकस्मिन्नसति च सर्वाभिन्ने मायिकनाः नात्वप्रतीत्युपपत्तेः। हो चन्द्रावित्यत्रेव न पारमार्थिकभेदकल्पनावः काशः तथा चायं प्रयोगः। अयं द्रव्यगुणादिभेद्व्यवहारः सर्वभेदानु गतजात्यात्मककवस्तुमात्रावलम्बनः । भेद्रव्यवहारत्वाद्विचन्द्रभेद्रव्य-वहारवादिति । तस्मान्नाचेतनं सचेतनं वा किचिदपि परमात्मनो भिन्नमुपपद्यते । 'स एष इहं प्रविष्टः' 'अनेनः जीवेनात्मनानुप्रविदय नामक्रपे व्याकवाणि' इत्यादिश्रत्या प्रवेष्ट्ररविकृतस्यैव जीवक्रपेण प्रवेशप्रतिपादनात् । तथा 'इदं सर्वे यदयमात्मा' इत्यादिश्रत्या ब्रह्मैं। क्रोन्डवत्वब्रह्मसामान्यब्रह्मैकप्रलयत्वादिहेत्सिक्षर्णनाभ्यादिदृष्टान्तेनाः काज्ञादिप्रपञ्चश्य ब्रह्मात्वकत्वप्रातिपादनात् 'सदेव सोम्येदमग्र आ-सीदेकमेवाबितीयम्' इति च कण्ठत एवाबितीयत्वोक्तेः। एवं च सदा-कारप्रत्यक्षमभेद्व्यवहारत्वलिङ्गं सार्वोत्म्यश्रुत्यन्यथानुपपत्तिश्चेति प्र-माणत्रयमुक्तम् । विस्तरेण चात्र युक्तयो वेदान्तकल्पलतिकायामनुः संघेयाः । तस्मान्न विद्य इत्यादिना साध्वेवोक्तमद्वितीयत्वम् ॥ हरि-पक्षे तु । अर्कादिशब्देन तत्तदविछिन्ना देवतात्मान उच्यन्ते । 'य पः वासादित्ये पुरुष एत देवाहं ब्रह्मोपासे' इत्यादिनाऽजातशत्रवे दस-बालाकिनोपदिष्टाः बृहदारण्यके कौषीतिक ब्राह्मणे च प्रसिद्धाः। पः रिच्छिन्नत्वादिदांषेणाब्रह्मत्वं चैषां तत्रैवाजात शतुणा प्रतिपादितम्। 'सहोवाचाजातशत्रुरेतावल्यून इत्येतावह तिनैतावता ताषहि दितं भः विति' इत्यादिना । अन्यत्सर्चे समानम् ॥ २६ ॥

🏰 संस्कृत टीका 🦂

हे विसो ! (त्वं अर्कः) भवनिव स्टर्यः (त्वं सोमः) त्वमेव चन्द्रोऽसि (त्वमिस पवनः) त्वमेव वायुरिस (त्वं द्वुतवहः) त्वमेव अग्निरप्यसि (त्वं आपः) भवानेव जलं (त्वं व्योम) आकाशमपि भवानेव (त्वं उ धरिणः) उ-इति वितर्के त्वमेव पृथिव्यासि (आत्मा त्वं) त्वमेव परमात्मा, क्षेत्रज्ञो, यजमानरूपो वासि। (इति च) इति-पदं समाप्तौ, चकारः समुच्चये (परि णताः) परिपक्कबुद्धयः (त्विय) भवतो विषये (एवं) अनेन प्रकाः रेण (परिच्छिन्नां) इयत्ताकिलतां (गिरं) वाचं (विभ्रतु) धार-यन्तु, वदन्तिव त्यर्थः । अननुमताविप अनुमति-प्रकाशने लोट्। क्षचित् लट्लकारस्यापि प्रयोगो लभ्यते तत्रापि न काचि त्क्षातिरिति। वस्तुतस्तु सर्वथैतद्गुचितमेवेति भावः । तर्हि त्वं किमुचितं। वेत्सीत्याराङ्क्याह-(वयं) अस्मत्समानबुद्धयोऽन्येऽपीतिबहुवचः नम् (तु) इति हेन्ववधारणे (इह) विश्वस्मिन् (तत्) त्वद्भिन्न-मन्यत् (तत्त्वं) किंचिदिपि वस्तु (न विद्यः) नैय जानीमः (यत्) तत्त्वं (त्वं) भवान् (न भवसि) नासि। परिपक्कबुद्धिमन्तस्तु त्वाः मष्टमूर्तिरूपेणैव स्तुवन्तु, परं वयं भवन्तं सर्वात्मकरूपेणैव विद्या, अस्माकं मते त्विद्धिन्नमन्यिति श्रिवाचे नास्तीति भावः स्पष्ट एव। अष्टमृर्त्युहेखनञ्च रघुवंशरीकायां कृतं मिलनाथसूरिणा-"अवेहि मां किङ्करमष्टमूर्त्ते-''रित्यत्र, तद्यथा-

"पृथिवी सिळिलं तेजो, वायुराकाशमेवच । सूर्याचन्द्रमसौ सोम-याजी चत्यष्टमूर्त्तयः-इति याद्वः । "

अत्राष्टमृत्तिवर्णनप्रसङ्गेन भगवतः सर्वस्वरूपत्व-सर्वात्मकत्वाः दिविशिष्टगुणानां वर्णनयेव तत्तद्रूपगतमहामाहिमसूचनयापि वि-शिष्टाद्वेतरूपता मापादितवन्त आचार्या इति । एवमेव स्कन्दपुराणे माहेश्वरखण्डारुणाचलमाहात्म्येण्युक्तं २४अ०यथा-

"स्रवायुरनलोवारिभूः सूर्यशशिनौ पुमान् । इति मन्मूर्तिभि विंदवं भासते सचराचरम्" ॥ २६॥

🗱 संस्कृतपद्यानुवादः 🦂

त्वमेवस्योऽसि शशी त्वमेव, त्वमेव वायुईतभुक् त्वमेव।
त्वमेव पानीयमथासि भूमि-रात्मा त्वमेवासि न कोऽपि चान्यः॥
एताभियत्ताकितां गिरं त्विय, वृदन्तु सर्वे परिपक्षबुद्धयः।
परम्न विद्यो वयमस्ति तत्कचि, त्तर्वं भवे त्वद्यतिरिक्तमत्र यत्॥२६॥

र्ट्रें। भाषा टीका 🖂

हे भवगन् ! (त्यं अर्कः) आपही सूर्य हैं (त्वं सोमः) आपही चन्द्रमा हैं (त्वं असि पवनः) आपही वायु हैं (त्वं हुतवहः) आपही अग्नि हैं (त्वं अपः) आपही जल हैं (त्वं व्योम) आपही आपही आग्नि हैं (त्वं उपाणः) आपही पृथिवी हैं (च त्वं आत्मा) और आपही आत्मा अर्थात् क्षेत्रक्ष परमात्मा अथवा यजमान रूप हैं (इति) यह अव्यय पद समाप्ति सचक है-अर्थात् इतनाहि भर (परिणताः) पक्षी बुद्धिवाले (त्विय) आपके विषयमे (एवं) इस प्रकारसे (परिणताः) पक्षी बुद्धिवाले (त्विय) आपके विषयमे (एवं) इस प्रकारसे (परिणताः) धारणकरें, अर्थात् कहाकरें-परंतु (वयं तु) हमलोग तो (इह्) इस सचराचर संसारमं (तत् तत्वं) उस तत्त्वको (न विद्यः) नहीं जानते हैं (यत् त्वं न भवसि) जो तत्त्व आप नहीं हैं। भावार्थ यह है कि, जिनकी बुद्धि बड़ी पक्षी है वे लोग आपको अष्टमूर्ति-रूपसे कहते हैं पर हम लोगोंके ऐसे कच्ची बुद्धिवालोंकी समझमें तो आपसे भिन्न कुछ दूसरा दांखताही नहीं हैं सब कुछ आपहीं हैं-जेसाकि दुर्गा सप्तश्तीमें कहाभी हैं कि—

"यच्च किञ्चित्कचिद्रस्तु, सदसद्वाखिलात्मिके! तस्य सर्वस्य या शक्तिः, सा त्वं किं स्तृयसे सदा।"

अर्थात् कहीं परभी जो कुछ सच्चा अथवा झूठा वस्तु है उन सबकी शक्ति तुसी हो अत एव तुमारी स्तुति कैसे की जा सकती है ? यही अभिप्राय यहां पर भी है कि हमलोगोंकी समझमें तो स् ब कुछ आपही हैं, आपसे भिन्न तो कुछ हई नहीं है।

> "करि विचार देखहु मन मांही । तुमते विलग कतहुं कछु नांही ॥"(तु॰ रा०)

पूर्वश्रोकमें विद्वानोंके अनुमव सिद्ध प्रत्यक्ष प्रमाणसे ब्रह्मकी अद्वेतिसिद्धि और परमानन्त्रक्ष्यता प्रतिपादन की गई है-अत एव इस स्टांकमें तर्कद्वारा भी उसी ब्रह्मकी सर्वात्मकता और अद्वेतता सिद्ध की है-यहां पर यह शंका होती है कि यदि-"सर्व खिट्व ब्रह्म-" यह वेदवाक्य सही है तो फिर-घड़ा लोटा छाता कपड़ा-इत्यादि के ज्ञान हो जानेसे भी ब्रह्मज्ञान हो जावेगा और इस ब्रह्म ब्राम्य होजाने परभी मुक्ति का पाना सिद्ध होना चाहिए-तो उसका समाधान यह है कि, जब तक इन सब अचेतन अथवा सचेतनमें तुमको भेद दीखता रहेगा तब तक तुम निर्वाण पदके अधिकारी नहीं होसकते-हां जब तुमारे हृदयसे भेदबुद्धि निकल जावेगी और तुमको-"सर्व ब्रह्ममयं जगत्-" दिखलाने लगेगा तो तुम घड़ा-क पढ़ा उसे नहीं कहोगे-बरन ब्रह्मही समझने लगोगे-तब तुम केवल मुक्तिक अधिकारी ही नहीं तुरत जीवन्मुक्त हो जावोगे। बस ॥२६॥

🚰 आणपद्यानुवादः 🦂

रिव सिस वायु आगिनि जल, धरिन शतमा व्योम । अष्ट मूर्ति धरि तुमिह हो, व्यापक जरा प्रति रोम॥ बुद्धिमन्त इमि कहत हैं, तुमको सबिह बुझाय। मो जानत (हम जानै) अस तस्व नहि, जो तुमसो बिलगाय ॥२६॥

क्र भाषाविम्बम् ।

तुह्मी सुर्जें सोमो पवन तुमही आगि (अग्नि) तुमहो, तुह्मी पानी भूमी गगन तुम आत्मा तुमहि हो। यही भाषें पक्षे चतुर मतिवाले तुमहिको, हमारे जानैमें अस कछु नहीं जो तुम न हो॥ २६॥ त्रयीं तिस्रो वृत्ती स्त्रिभुवन मथी त्रीनिष सुरा-नकाराचै वर्णे स्त्रिभि रिभदधत्तीर्णिवकृति । तुरीयं ते धाम ध्वनिभि रवरुन्धान मणुभिः समस्तं व्यस्तं त्वां शरणद गृणात्यो भिति पदम्॥२७॥

🐉 मधुसूदनी टीका 🦂

यवं प्रत्यक्षानुमानाथीपत्तिभिराद्वितीयत्वं परमेश्वरस्य सर्वात्म-कत्वेन प्रसाध्य तद्वागमेनापि साध्यन्स्तौति-अथवा क्रमेण पूर्व-श्लोकद्वये त्वंपदार्थं तत्पदार्थं च परिशोध्यानेन श्लोकेनाखण्डं वा-क्यार्थं वदन्स्तौति--

*त्रयीमिति *। हे शरणद् आर्ताभयप्रद्, ओमिति पदं त्वां सर्वाः त्मानमद्वितीयं गृणाति अवयवशक्त्या समुदायशक्त्या च प्रतिपादः यति । अत पर्वोकारस्यावयवशत्या वाक्यत्वेऽपि समुदायशक्त्या पद्भुजादेशिव पदःवमुपपन्नं योगरूढिस्वीकारात् । तदस्वीकारेऽपि 'सुप्तिङन्तं पदम्' इति वैयाकरणपरिभाषया पदत्वं 'कृत्तिद्धितसमा साश्च' इत्यनेन समासस्यापि प्रातिपादिकसंज्ञाविधानात्सुवन्तत्वमुग पश्चमेव। कीदरामोमिति पदम्। सेमस्तं अकारोकारमकाराख्यपद्त्रय-कर्मवारयसमासनिष्पन्नम्। एतेन समुदायशक्तिरुका। तथा व्यस्त भिन्नम् । अकार-उकार-मकाराख्यस्वतन्त्रपदत्रयात्मकमित्यर्थः । ए-तेनावयवदाक्तिरुक्ता। इदं च पद्वयमभिधेयेऽपि योज्यम्। त्वां की॰ हशम् । समस्तं सर्वात्मकं, तथा व्यस्तमध्यात्माधिदैवाविभेदेन भि-न्नतया प्रतीयमानम् । तथाच व्यस्तमोमिति पदं व्यस्तं त्वां गृणाति, समस्तमोमिति पदं समस्तं त्वां गृणातीत्युक्तं भवति। एतदेव दः श्चर्यति-त्रयीमित्यादिना । त्रयीं देवत्रयं, तिस्रो वृत्तयो जाप्रत्स्वप्रसु-षुप्तयाख्या अन्तः करणस्यावस्थाः। एतच्च विद्वतेजसप्राज्ञानामः -ट्यूपलक्षणम् । त्रिभुवनं भूभुंवःस्वः । एतद्ि विराडि्टरण्यगर्भाज्या-कृतानाभुपलक्षणम् । त्रयः सुराः ब्रह्मविष्णुमहेरवराः । एतच्च सु-ष्टिस्थितिप्रलयानामप्युपलक्षणम् । एतच्च सर्वमकाराद्यैक्सिभिर्धर्णैः रभिद्रभद्दभिधावृर्गा प्रतिपाद्यवृष्यस्तमित्यर्थः । प्रवस्त्र प्रकारः ।

ऋग्वेदो जाप्रदवस्था भूर्लीको ब्रह्मा चेति चतुष्टयमकारार्थः । तथा यजुर्नेदः स्वप्नावस्था भुवर्लोको विष्णुश्चेति चतुष्टयमुकारार्थः। तः था सामवेदः सुषुप्यवस्था स्वर्होको महेरवरश्चेति चतुष्टयं मकाराः र्थः। इदं माण्डूक्यनृसिंहतापनीयाथर्वशिखादावन्यद्प्युक्तं गुरूपदे-<mark>दााज्क्षातव्यम् । अतिरहस्यत्वान्नेह सविशेषमुच्यते । तस्माद्ध्यात्मा-</mark> धिदेवाधिवदाधियञ्चादियावदन्यत्रोक्तमस्ति तत्सर्वमत्रोपसंहर्तव्यं न्यूनतापरिहाय । तथाच सर्वप्रपञ्चाकारेण व्यस्तं त्वां अकारोकारः मकारैर्व्यस्तमोमिति पदमभिद्धस्वां गृणातीति सम्बन्धः। तथा ती-र्<mark>णविकृति सर्वविकारातीतं तुरीयं अवस्थात्रयाभिमानिविलक्षणं तव</mark> धाम स्वरूपं अखण्डचैतन्यात्मकम् । तवेति राहोः शिर इतिदङ्गदोपः चारेण पष्ठी । अणुभिर्ध्वनिभिरवरुन्धानं स्वत उच्चारियतुमराक्ये-र्धमात्रायाः प्छतोच्चारणवरोन निष्पाद्यमानैः सूक्ष्मराब्देरववोधं कुः वंत्प्रापयत् । समुदायशक्त्या बोधयदिति यावत् । अर्धमात्राया एकः त्वेऽपि ध्यनिभिरिति बहुवचनं प्छतोच्चारणे चिरकालमनुवृत्ताया-स्तस्या अनेकध्वनिरूपत्वान्न विरुद्धम् । ध्वनीनां चाणुत्व णुतरत्वाः णुतमत्वादिकं गुरूपदेशाद्धिगन्तव्यम् । तथाचार्धमात्रारूपेण समः स्तमोमिति पदं समुदायशक्त्या सर्वविकारातीतं तुरीयं स्वरूपम-भिद्धत् समस्तं त्वां गुणातीति सम्बन्धः । एवं च पदार्थाभिधान-मुखेनाखण्डवाक्यार्थासिद्धिरर्थादुका । तथाहि स्थुलप्रपञ्चोपहितचै-तन्यमकारार्थः, तत्र स्थूलप्रपञ्चां शत्यागेन केवलचेतन्यमकारेण ल-क्ष्यते । तथा सुक्ष्मप्रपञ्चोपहितचैतन्यमुकारार्थः, तत्र स्क्ष्मप्रपञ्चांशः त्यागेनोकारेणोपलक्ष्यते । तथा स्थृलसूक्ष्मप्रपञ्चद्वयकारणीभूतमायोः पहितचैतन्यं मकारार्थः, तादशमायांशपरित्यागेनं मकारेण चैतन्य-मात्रं लक्ष्यते । एवं तुरीयत्वसर्वानुगतत्वोपहितचैतन्यमर्धमात्रार्थः, तदुपाधिपरित्यागेनार्धमात्रया चैतन्यमात्रं छक्ष्यते । एवं चतुर्णी सा-मानाधिकरण्याद्मेद्वोधे परिपूर्णमद्वितीयचैतन्यमात्रमेव सर्वद्वैतोपः मर्देन सिद्धं भवति । लक्षणया परित्यक्तानां चोपाधीनां मायातत्का-र्थत्वेन मिथ्यात्वात् , स्वरूपबोधेन च स्वरूपाश्चानात्मकमायातत्कार्य-निवृत्तेर्न पृथगवस्थानप्रसङ्गः । नह्यधिष्ठानसाक्षात्कारानन्तरमापतः दध्यस्तमुपलभ्यते त्रय्यादीनां वाक्यार्थबोधानुपर्यागेष्युपासनायामु-पयोगात्पृथगभिधानं द्रष्टव्यम् । तस्मात्सर्वे द्वितीयशून्यं प्रत्यगभिन्नं

ब्रह्म प्रणववाष्यार्थं इति सिद्धम्। एतच्च सर्वेषां तस्वमस्यादिमहा-वाष्ट्यानामुपलक्षणम्। तेषामिष प्रत्यगभिन्नपरिपूर्णाद्वितीयब्रह्मप्रति-पादकत्वात्। यथा च शब्दादपरोक्षानिर्विकल्पकवोधोत्पत्तिस्तथा प्रपञ्चितमस्माभिर्वेदान्तकल्पलातिकायामित्युपरम्यते॥ क्षहिरपक्षे-प्रयोवम् ॥ २७॥

🏂 संस्कृत टीका 😤

(तीणंविकति) सर्वविधविकारातीतं निर्विकारमितियावत्। (तुरीयं) अवस्थात्रितयपरं चतुर्थं (तव धाम) भवतो ऽखण्डचैतन्यात्मकं ज्योतिः स्वरूपं। भेदोपचारेणात्र षष्ठी। (अणुभिः) परमसूक्ष्मैः
(ध्वनिंभिः) शब्दैः (अवरुन्धानं) व्याप्नुवत्। अर्थात् स्वत उच्चारियतुमशक्यतया अर्द्धमात्रायाः प्लुतोच्चारणतां गतैः सूक्ष्मध्वनिः
भिरवबोधं कुर्वत्। (समस्तं) सर्वात्मकतया समुदायशक्त्या वा
समासयुक्तं। तथा च (व्यस्तं) भिन्नतया अवयवशक्त्या वा प्रतीयमानं (ओमिति पदं) ओङ्करः प्रणवो वा (त्वां) भवन्तमेव। अः
त्रापि समस्तं व्यस्तञ्चति योजनीयं (गृणाति) कथयति, प्रतिपादयतीत्यर्थः। अत्र सर्ववेदादितत्वस्योङ्कारस्यापि वाच्यो भवन्वेति
महिमसूचनं प्रकटितमिति। माङ्क्ष्मयोपनिषदि च ऑकारमाहात्स्यं
द्रष्टव्यमिति। शिवपुराणस्य वायवीयसंहितोत्तरभागस्थसप्तमाध्याये२३ इलो० ३१ स्पष्टमुक्तं॥ २७॥

र्कृ संस्कृतपद्यानुवादः रू वेदत्रयीं त्रिभुवनं त्रितयं सुराणां, द्यृत्तीरुदात्त−शयनप्रमुखाश्च तिस्नः। वर्णेस्त्रिभिः-अ-उ म-रूपधरैः सुवाच्यैः, कर्णाप्रये रभिद्धन्मुड! निर्विकारम्॥

अत्यन्तस्हमै ध्वैनिमिः समस्तै,र्यद्व्याप्नुयद्धाम तुरीयसंज्ञम् । तद्व्यापकं सर्वत एव खण्ड, रूपेण य द्व्याय्यमपि प्रसिद्धम् । आद्यन्तहीनं (शून्य) स्वयमेव जात, मशेषवाग्जालाविधानस्त्रम् । तदेतदोङ्कारपदं भवन्तं, स्तौतीश ! नित्यं प्रणतार्तिहारिन् ॥ २७ ॥

कु भाषा टीका 😤

(दारणद !) हे आर्तलोगोंको अभय देनेवाले ! (अकाराद्यैः) अकार, उकार. सकार नामक (त्रिभिः) तीन (वर्णैः) अक्षरीसे (अर्थी) तीनों वेद अर्थात् ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेदकी, तथाः (तिस्रोष्ट्रतीः) जाग्रदवस्था, स्वप्नावस्था, और सुषुप्ति-अवस्था भोंको, अथवा उदात्त, अनुदात्त, और स्वरितोंको, एवं (त्रिभुवन) तीनोंही लोक-भूलोक, भुवलींक और स्वलींक, अथवा स्वर्ग-मर्त्य भार पाताल को (अथो) तदनन्तर (त्रीन् सुरान् अपि) तीनो दे-षतोंको अर्थात् ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वरको (अभिद्धत्) कहता-हुआ (तीर्णविकृति) सब प्रकारके विकारीसे रहित, अर्थात् निर्विः कार (तुरीयं) तीनों अवस्थाओं से परे रहनेवाला-चै।था (तव धाम) आपका अखंड तेज (अणुभिः) अत्यंतछोटी (ध्वनिभिः)ध्वनि-योंसे (अवरुम्धानं) व्याप्तहुआ (समस्तं) सर्वात्मक होनेसे थो-बा वा छोटा। तथा (व्यस्तं) भिन्नभिन्नहोनेसे विस्तार युक्त अथः वा बद्दा (स्रों इति पदं) ओंकार (त्वां) आपहीको (गुणाति) कहता है अर्थात प्रतिपादन करता है। अभिप्राय यह कि ओंकार-में अकार, उकार और मकार तीन अक्षर मिले हैं येही तीनों अक्ष-र संसारके समस्त तीन वस्तुओं के कारण है-यथा

तीन	गुण	सत्व,	रज,	तम।
91	देव	耳唇	विष्णु,	महेश।
"	शक्ति	सरस्वती,	लक्ष्मी,	काली।
,,,	लेक	स्वर्ग,	मर्त्य,	पाताल।
33	वेद	ऋक्,	यजुर्,	साम ।
"	ब्रिज	ब्राह्मण,	क्षत्रिय,	वैश्य।
17	अवस्था	जाप्रत्,	स्वप्न,	सुषुप्ति ।
93	वयः क्रम	बाल्य,	यीवन,	वार्धक्य।
39	श्रेणी	उत्तम,	मध्यम,	अधम।
29	परमात्मा	विराद्,	हिरण्यगर्भ,	अव्याकृत) वेदातं
59	जीवात्मा	विइव,	तैजस,	प्राञ्च। र्शस्त्र।
73	प्रकरण	सुबन्त,	तिङन्त,	श्रदन्त ।
				[व्याकरणमें]

	20			स्वरित।
"	वैदिकस्बर	उदात्त,	अनुदात्त,	
"	वायु	शीतल,	मंद,	सुगंघ।
"	ऋतुकाल	शीत,	उदण,	वर्षा ।
"	वैदिककांड	ज्ञान,	कर्म,	उपासना।
99	पुण्यनदी	गंगा,	यमुना,	सरस्वती।
"	ऋण	देवऋण,	ऋषिऋण,	पितृऋण।
99	ताप	आध्यात्मिक,	आधिदैविक,	आधिमौतिक।
"	वर्ग	धर्म,	अर्थ,	काम।
99	राजशाकि	प्रभाव,	उत्साह,	मंत्र।
				[मीतिशास्त्र]
,9	अहारूप	सत्,	चित्,	आनंद् ।
99	नाडी	रहा,	पिंगलां,	सुबुम्णा ।
				[योगशास्त्र]
37	धातु	कफ,	वात,	पित्त ।
				[वैद्यकशास्त्र]
75	तौर्य	नृत्य,	गान,	बाद्य।
		in the said.		गांधवेवेदशास्त्र]
93	नायिका	स्वकीया,	परकीया,	सामान्या।
"				[साहित्यशास्त्र]
99	बृहत्काव्य	नेषधचरित,	शिशुपालवध,	किरातार्ज्जुनीय।
99	लंघुकाव्य	मेधदूत,	कुमारसम्भव,	रघुवंदा ।
	लोकदशा	सृष्टि,	स्थिति,	विनाश।
"	प्रधानतीर्थ	काशी,	प्रयाग,	गया।
39	प्राणायाम	कुम्भक,	पूरक,	रेचक।
99	समय	दिन,	रात्रि,	संध्या।
"	जीववर्ग	स्त्री,	वृरुष,	नवंसक।
99	कर्म	कायिक,	षाचिक,	मानसिक।
11	मुक्तिसाधन	भक्ति,	श्रान,	वैराग्य।
"	मोक्षप्राप्ति	ब्रह्मज्ञान,	योगाभ्यास,	काशी।
33		सूर्य,	चन्द्र,	अग्नि ।
22	प्रकाशक	4.1		

शिवमहिझस्तोत्रम् ।

;; ;; ;; ;;	अक्षर- उच्चारण काल वचन पुरुष प्रस्थान	स्वर, इस्व, भूत, एकवचन, प्रथमपुरुष, सभाष्यगीता,	व्यंजन, दीर्घ, भविष्य, द्विचचन, मध्यमपु० पंचदशी,	संयुक्त । श्री प्लुत । श्री वर्तमान । श्री बहुवचन । श्री उत्तमपु० । श्री ब्रह्मसूत्र । विदान्तशास्त्रे]
----------------------	--	--	---	--

सर्वादिसिद्धशब्द —

ओम्। तत्। सत् इतिनिर्देशोष्ठह्मणिस्त्रविधो मतः। गीता। स्कन्दपुराणनागरसंड-हाटकेश्वरमाहात्म्य अ०१९९।

1 43	1.11.1(412-612)	त्रवरमाहात्म्य अ	० १९९ ।
तीन क्षेत्र	कुरुक्षेत्र,	हाटकेश्वर,	प्रभास ।
,, अरण्य	पुष्करारण्य,	नैमिषारण्य,	धर्मारण्य।
,, पुरी	वाराणसी,	द्वारका,	अवन्ती ।
			(उजीन)।
,, वन	वृन्दावन,	खांडववन,	द्वैतवन ।
,, त्राम	कल्पन्नाम,	शालिश्राम,	नंदियाम।
,, तीर्थ	अग्नितीर्थ,	गुक्रतीर्थ,	पितृतीर्थ।
" पर्वत	શ્રીરૌસ,	अवुर्द (आबू)	
,, नदी	गंगा	नर्मदा	रैवतक ।
		ગમવા	स्रस्वती।
A STATE OF THE STA			(ब्पक्षोद्भवा)।
त्रिफला		हरी	बहेरा।
त्रिकटुक	99	,,	ATTENDED IN
तीन उपवेद	धनुर्बेद	गान्धवंवेव.	आयुर्वेद,
तीन प्रधानमत	हिन्दू,	मुसलमान,	
तीनसेग		फीजदारी,	क्रस्तान,
		गाजासारा,	माल
0 00			(गवन्मेंटकोर्ट)
,, दीवानीकेषहरे		जज,	हाईकोर्टकेजज
" फौजदारिके,		নজ,	हाईकोर्ट,
🥠 मालके 💮		कामिइनर,	वार्ड
,, प्रधानभाषा	हिन्दी,	पारसी,	अंगरेजी
			20.1/411

,, परमपूज्य		पिता,	गुरु।
,, तर्पणीय	पिता,	पितामह,	प्रिपतामह
	माता,	पितामही,	प्रियतामही,
	मातामह,	प्रमातामह,	बुद्धप्रमातामह
,, मौसिम	गर्मी	जाडा	वरसात
,, परीक्षा	प्रथम,	मध्यम,	अाचार्य
परीक्षा	इन्ट्रंन्स, इन्टर (प०फे) व्याच्	बुलर (बी० ए०)
,, प्रेमास्पद	पुत्र,	मित्र,	कलत्र,
,, महावीर	हनुमान्,	भीष्म,	अर्जुन ।
,, अग्नि	गाईपत्य,	आहवनीय,	दक्षिण।
तिनदेह	स्थूल,	स्धम,	कारण
मुनित्रय	पाणिनि,	कात्यायन,	पंतंजिं
			(व्याकरणाचार्य)
,, वाक्ययोज	क, कर्ता,	कर्म,	किया।
,, वृत्ति	अभिधा,	लक्षणा	व्यञ्जना
			(साहित्यशास्त्र)
" वंशकर्ता	सूर्य,	चन्द्र,	अग्नि
mire or viv			(क्षत्रियवंशकारक)
,, राम	परशुराम,	रामचन्द्र,	बलराम,।
,, प्रबलसुरार्ग	रे हिरण्यकशिषु	रावण	शिशुपाल ।
,, चमत्कार		अग्नि,	बिजुली।
,, जप	मानसिक,	उपांशु,	शाद्विक।
	दीन (दरिद्र)	अनाथ,	विद्यार्थी।
,, महादान		जल,	विद्या ।
,, महावाक्य	A STATE OF THE PARTY OF THE PAR	ब्रह्म	अस्मि,
अथवा	तत्	त्वं	असि
,,अवश्यकर्तव	य यज्ञ,	दान,	तप,।
,, कर्मफल		अनिष्ट,	मिश्र,।
,,समस्तविषः		श्चेय,	श्वता ।
,,	कर्मः	करण,	कर्ता।
, समस्तविष	व प्रमाण,	प्रमेय,	प्रमाता ।
CONTRACTOR AND ADDRESS OF THE PARTY OF THE P	The state of the s		

दर्शन, द्रष्टा । (इत्यादि) रइय, मनुष्यभेद परमार्था, स्वार्थी. राक्षस (व्यथी) 9, उपदेश लक्षण. परीक्षा 99 (न्यायदास्त्र) ., प्रधान-आश्रम ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, सन्यास प्राणिव्यवस्था जलचर, स्थलचर. नभश्रर। ,, अभिनकेशुण, रूप, €पर्श. शब्द । ,, मुख्यसंस्कार यशोपवीत, विवाह, मरण ,, शास्त्रार्थ वाद, जल्प, वितण्डा। ,, प्रधानपूज्य ऋात्वक, प्रोहित, आचार्य। प्रचालितपुज्य जल, अग्नि. पृथिवो (मृतिका) ,, हिन्दुधर्मचिन्ह शिखा, सूत्र, तिलका ,, प्रधानसंत्राम देवासुर रामरावण महाभारत। निघण्ड निदान चिकित्सा।

इसी मांति यदि विचार पूर्वक देखाजावे तो सब कुछ त्रयान्तर्गतही सिद्ध होता है-अत पव समन्न तीन-अकार उकार मकारात्मक एक ओंकारहीके हुए हिए-गोचर होते हैं-इन समस्त तीनोंसे परे तुरी थ (चौथा) धामही परमेश्वरका है-। सृष्टिकं आदिमें जब परं ज्योक्ति प्रकट हुई तो उसीकी महाध्वनिका नाम ओंकार पड़ा है-यह कथा काशीखंडके ७३। ७४ वें अध्यायोंमें ऑकारेश्वरके वर्णनमें विस्तर पूर्वक पायी जाती है। भाव यह है कि-ओंकार पदके वाच्य आपही हैं-क्योंकि वहीं ओंकार समासयुक्त होकर आपको समस्त कहता है, और व्यासयुक्त होने पर आपहीको व्यस्त बतला ताहै-अत पव आपकी सर्वात्मकता और अदितीयतां प्रत्यक्ष-अनुमान और अर्थापत्ति-इत्यादिसे सिद्ध रहने परभी आगमद्वारा प्रकट है॥ २७॥

🐉 भाषापद्यानुवादः 🦂

तीन वेद अरु वृत्तित्रयः, त्रिभुवन तीनहु देव। अकारादि अच्छर कहतः, तुर्दि विकार् नहि सेव॥ अनु ध्वनिते अवरुद्ध है, चौथा धाम तुह्यार। भाषत ब्यस्त समस्त नितः, सरनद! तुर्हि औकार॥ २७॥ श्रिवेदों के गाये त्रिभुवन पर तीन सुरसो।
अकारादी बर्ने कहत विकृतीहीन जिहिको॥
अहै चौथा धामै रहत अति सूच्छ्मै (१मै) ध्वनि मरो,
सदा गांवे तोरी स्तुति गिरिश! ओंकारपद सो॥ २७॥

भवः शर्वो रुद्रः पशुपति रथो ग्रः सहमहां स्तथाभीमे शाना विति यद भिधानाष्टकमिदम् । अमुिशा न्त्रत्येकं प्रविचरति देव श्रुति रिष प्रियाया समै धाम्ने प्रविहितनमस्यो ऽस्मि भवते २८

🐉 मधुसूदनी टीका 🦂

एवं तावदद्वितीयब्रह्मवाचकत्वेन प्रणव उपन्यस्तः एतस्य चाः थीं नुसंधानं जपश्च समाधिसाधनत्वेन पतञ्जलिना स्त्रितः 'समाधिः सिद्धिरीइवरप्रणिधानात्' इति । 'ईइवरप्रणिधानाद्वा' इति स्त्रान्तरं 'तस्य वाचकः प्रणवश्च' 'तज्जपस्तद्रथंभावनम्' इति स्त्राभ्यां प्रणवः जपस्य प्रणिधानशब्दार्थत्वेन व्याख्यानात् । श्रुतौ च 'एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम् । एतदालम्बनं शात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ॥' इत्यादिना तस्य सर्वपुमर्थहेतुत्वमुक्तम् । एतस्य चातिदुक्हाः थित्वेन स्त्रीशुद्धाद्यनहृत्वेन चासाधारणत्वातसर्वसाधारणानि प्रसिद्धाः भगवद्वाचकानि पदानि जपार्थत्वेन वदन् स्तौति—

#भव इत्यादि ॥ हे शरणद, हे देव, इदं यदिभिधानाष्टकं नामा-एकं अमुष्मिष्ठभिधानाष्टके विषये प्रत्येषभेकेकशः। प्रतिनामेति या-वत् ।श्रुतिवेंदः प्रविचरित प्रकर्षेण बोधकतया चरित । वर्तत इत्य-थैः। अपिशब्दात्स्मृतिपुराणागमादिकमिष । अथवा प्रणव इवामु-ष्मिष्ठिषि श्रुतिः प्रविचरतीति योज्यम्। यद्यप्यष्टाध्यायार्थकाण्डे ब-हिनामत्वेनैतानि समाम्नातानि तथापि वहेभैगविद्यभूतित्वात्तन्नाम-त्वेऽपि न भगवन्नामत्वव्याधातः। यद्वा अमुष्मिन्नामाष्टके देवानां बह्मादीनामिष श्रुतिः श्रवणेन्द्रियं प्रविचरित सावधानतया वर्तते। देवा अपि त्वन्नामश्रवणोत्स्रुकाः किं पुनरन्य इत्यर्थः। किं तन्नामाष्ट. कमित्यत आह -भव इत्यादि । महता महच्छ इदेन सह वर्तत इति सहमहानमहादेवः तथैवागमप्रसिद्धः । इतिशब्दः समाप्त्यर्थः । यस्य च नाममात्रमपि सर्वपुरुषार्थप्रद स पुनः स्वयं की दश इति भक्त्यु द्वेकेण प्रणमति । प्रियायेत्यादिना । अस्मै स्वप्रकाशचैतन्यरूपत्वेन सर्वदा परोक्षाय भवते महेइवराय । की हशाय । धास्ने सर्वेषां शरण-भृताय चिद्र्पायेति वा। योग्यमुपचारं किमपि कर्तुमशक्तुवन्नहं केवलं प्रविहितनमस्योऽस्मि प्रकर्षेण वाङ्मनःकायव्यापारातिरायेन विहिता नमस्या नमस्क्रिया येन स तथा (केवलं तुभ्यं कृतनमः स्कारो भवामीत्यर्थः ।) प्रणिहितोति पाठेऽप्येवमेवार्थः ॥ #हरिपः क्षेऽप्येवम् ॥ भवादीनां च हरिनामत्वं योगवृत्त्या संभवत्येव सहस्र नामस्तुतिषाठतत्वाच्चेति द्रष्टव्यम् । अथवा यदिद्मभिधानाष्टकं अमुष्मित्प्रत्येकं देवश्रुतिरिप देवशब्दोऽपि प्रविचरित संबद्धो भव-ति। तथा च भवदेव इत्यादिरूपं तव रहस्यनामाष्टकमित्यर्थः। तः थाच भवस्य रुद्रस्यापि वेव आराध्य इत्यर्थः। एवमन्येष्वपि बाममु द्रष्टच्यम् ॥ २८ ॥

🗲 संस्कृत टीका 🦂

(देव!)दीव्यतीति देवः—"पचाद्यच्"--३।१।१३४। हे लीलाक्प्रह्थारिन्! (भवः) भवतीति भवः। भवते वा सर्वं, भू-प्राप्ती
[चु० आ० से०] अत्रापि "पचाद्यच्"। (श्वंः) शृणातीति श्वंः
[क्रया० प० से०]—"हगुशृदृभ्यो वः" १।११५ उ०। (हदः) रीक्यतीति हदः। "रोदेणिलुक्च—" २।११ उ०--श्वि स्वप्रत्ययः
णेश्रलोपः। (पशुपतिः) पश्चमां स्थावरजङ्गमानां पतिः। अथवा—
"ब्रह्माद्याः पश्चः प्रोक्तास्तेषां पतिरसौ स्मृतः।" (अथ) ततः परं
(उथः) उच्यति कुश्चा सम्बध्यते श्वति उद्यः। उच—समबाये [दि०
प० से०] "ऋच्—" २।२८३०- श्व्यादिना रन् गश्चान्तादेशः।
(सहमहान्) महता शब्देन सह वर्तते श्वति सहमहान्, अर्थान्मः
हादेवः। महान् देवो वस्नादिकं खलनं यस्य स महादेवः। अथवा
पिवयुग्वणोक्तेवास्य ब्रमुप्तिनः, कार्या-यथा,—

"पूज्यते य त्सुरैस्सर्वे महाँ ख्रैव प्रमाणतः। धातु महेति पूजायां, महादेवस्ततः स्मृतः।"

देवशब्दस्तु सम्बुद्धिपद् एव ब्याख्यातः। (तथा) तद्वत् (भी-मेशानौ) विभेत्यस्मात् भीमः-"भीमादयो ऽपादाने-" ३ । ४ ७४ । पुनः-"भियः पुक्वा-" १। १४८उ०-इति मक्। "भीमोऽम्भवेतसे घोरे शम्भौ मध्यमपाण्डवे-''इति च कोशः। एवं-ईप्टे-इति ईशानः-"ताच्छीत्यवयोवचनशक्तिषु चानश्—" ३।२।१२९ इति चान· जाप्रत्ययः । (इति)-समाप्ति सुचनायां (इदं) कथ्यमानं (यत्) प्र-सिद्धं (अभिधानाष्टकं) नामाष्टकं, अष्टौ नामानि सन्तीति वा। (अमुष्मिन्) अभिधानाष्टके (श्रुतिरिप) वेदपुरुषो ऽपि (प्रत्ये-कं) एकं एकं नाम प्रति (प्रविचरित) प्रकर्षण बोधकतया वि-चरति वर्तते इत्यर्थः । अत एव (प्रियाय) स्वमनोनुकूलाय (अ-स्मे) पूर्वोक्तप्रणवर्षितिपाद्याय तुरीयतेजसे (धाम्ने) ज्योतीरूपाः य (भवते) तुभ्यं (प्रणिहितनमस्यः) उचितोपचारं कर्तुमश-क्तवन्नहं विहितनमस्कारः (अस्मि) भवामि । कचित् प्रणिहितेत्य-त्र प्रविहितेति पाठो ऽपि दृश्यते तत्राप्यर्थः स्पष्ट एव । अत्रोक्त-श्लोकत्रितयान्तर्गतप्रकारविशेषो द्रष्टव्यः —क्षितिमूर्तिः शर्वः १ जः लमुर्तिर्भवः २ अग्निमृर्ती रुद्रः ३ वायुम्।र्तिरुद्रः ४ आकाराम् ति-र्भीमः ५ यजमानमूर्तिः पशुपतिः ६ चन्द्रमूर्तिमहाक्वः ७ सूर्यमूर्ति-रीशानः ८-एवं प्रणवाद्या नमोन्ता अष्टी मूर्तयो मनत्ररूपेण जप्या इति विशापितं-"त्वमर्कः"-"त्रयी"-मिति पूर्वोक्तपद्यद्वयेन सदामु-ना श्लोकेनेति सुधीभिरवधेयम् । अत्र यस्य नाममात्रमपि परमपुः रुषार्थप्रदं वेदप्रतिपादितं च वरीवर्तिं स स्वयं की हग् ? इति म-हामहिमाध्वबोधितः यतम् स्पष्टमुक्तं शिवपुराणे वायवीयसंहितो-त्तराई चतुर्थाध्याये श्रीकृष्णं प्रत्युपमन्युमहार्षणिति ॥२८॥

🔆 संस्कृतपद्यानुवादः 😽

शर्वो भवः पशुपितः पुन रुम्ररूप ईशानभीमयुतरुद्रमहादिदेवाः । नामाप्टकं प्रथितमेतदतीव शम्भो ! देवा धृमृत्तिंधर! शङ्कर! दीनबन्धो !॥ प्रत्येक मस्मिन्तव नाम विस्तराः इस्त्या परिस्तौ त्यपि वेदपुरुषः । धाम्नेऽध तस्मै भवते भवे ऋव! नित्यं नमस्याः शतशो हि मत्कृताः ॥२८॥

🐉 भाषा टीका 🦂

(देव!) हे देवाधिदेव! (भवः शर्वः रुद्धः पशुपतिः श्रथो उत्रः सहसहान् तथा भीमेशानो इति) भव, शर्व, रुद्र, पशुपति, उग्र, महादेव, भीम, और ईशान-(यत् इदं अभिधानाष्टकं) यह जो आपके आठ नाम हैं (असुध्मिन्) इन आड़ो नामोंमें (प्रत्येकं) प्रत्येक नाम को (श्रुतिः अपि) स्वयं वेदभी-यहां पर 'अपि" कहनेसे यह बोध होता है कि जब वेदही कहता है तो पुराण इतिहास इत्यादि की कौन गनती है। (प्रविचरति) बहुत बड़ी बोधकतासे चलता है-अर्थात् विशेष प्रचार करता है। (अस्मै प्रियाय धास्ने भवते प्रणि-हितनमस्यः आस्म) अत एव-इस अपने परम इष्ट तेजो रूप आपको केवल प्रणाम करने वाला हूं।—अभिप्राय यही है कि-ऊपर जो आठ नाम कहे गये हैं - इनमें प्रत्येक नामोंको लेकर वेद पुरुषभी आपका स्तुति गान करताहै, अर्थात् ये आठों नाम वेद-प्रतिपादित हैं और आप हमारे इष्टदेव ज्योतिरूप हैं,अत एव इन आठें। नामोंके मंत्र द्वारा में केवल आपको प्रणाम करता हूं क्योंकि और कोई पूजा अथवा सेवा मुझसे नहीं हो सकती है। विशेष द्रष्टव्य यह है कि इसके पूर्व श्रोकमें ओंकार का निरूपण किया है और उसकेभी पूर्व "त्वमर्कः" [२६] इत्यादि स्रोकमें भगवानकी अष्टमूर्तियोंका निरूपण हुआ है-अर्थात् पहिले अष्टमूर्तिका वर्णन करके तब ओंकार पदके वाच्य वाचक रूपको दरसाया है तदनन्तर परमेश्वरके नामाष्टकको कीर्तन करके प्रणाम किया है इससे यह बात पाई जाती है कि अष्टमुर्तिके कथित एक एक रूपोंके साथ ओंकारके सहित अ ठीं नामोंके एक एक नामोंमें चतुर्ध्यन्त नमः प्रयोग करनेसे आठ मंत्र वन जाते हैं-उनमें जो लोग ओंकारके अधिकारी नहीं हैं उन लोगोंको केवल इस स्लोकके कहे हुए आठों नामोंके मंत्रोको जो जिसके अनुकूल हों गुरुके उपदेशानुसार जप करना चाहिए-अत्यन्त रहस्य विषय होनेसे मन्त्रोंका प्रकार जना दिया गया है—विज्ञ भावुक लोग स्वयं उनका उद्धार बनाले सकते हैं। ये ही आठों नाम-मंत्र कहलाते हैं।

के भाषापयानुवादः के स्वित्त के भाषापयानुवादः के स्वान । सर्व कद्र भव पसुपती, महादेव ईसान । उप्र भीम-ये विदित हैं, तुव क्षाठहु अभिधान ॥ इनमें नित प्रति एकको, वरनत वेद महान । परम ज्योति चैतन्य तुर्हि, करहुँ प्रनाम बस्नान ॥ २८ ॥

भाषा विम्वम् है
भाषा विम्वम् है
भवो भीमो रुद्रो पसुपति महादेव सरवो,
इसानो उम्रो हैं कहत सब नामा-ष्टक यही।
यहीमें प्रत्येकें स्तुति करत वेदौ सुमहि की,
नमस्या है मोरी नित परम-ज्योती तनु लगी॥ २८॥

नमो नेदिष्ठाय प्रियदव दिविष्ठाय च नमो नमः क्षोदिष्ठाय स्मरहर महिष्ठाय च नमः । नमो वर्षिष्ठाय त्रिनयन यविष्ठाय च नमो नमः सर्वस्मै ने तदिदिमिति सर्वाय च नमः २९

र्मः मधुसूद्नी टीका क्ष्रे एवं जातभक्तयुद्रेको नमस्कारमेवानुवर्तयन्दुक्रहमहिमत्वेन भग-धन्तं स्तौति—

*नम इति *। हे प्रियद्व अभीष्टनिर्जनवनविहार, ते तुभ्यं नेदिष्ठायात्यन्तिकटवर्तिने, दिविष्ठायात्यन्तदृरवर्तिने च नमोनमः । हे समरहर कामान्तक, क्षोदिष्ठाय क्षुद्रतराय, मिहष्ठाय महस्तराय च तुभ्यं नमोनमः । तथा हे त्रिनयन त्रिनेत्र, वर्षिष्ठाय अतिवृद्धाय वृद्धतरायेति वा यविष्ठाय युवतमाय च तुभ्यं नमोनमः । प्वमत्य-न्तिविह्यस्वभावस्याल्पबुद्धिभिः कथमपि स्वरूपनिर्णयासंभवात्सर्वः दा नमस्कार प्व करणीय इति प्रदर्शनाय नमस्कारशब्दावृत्तिः । तथाच श्रुतिः-'दूरात्सुदूरे तदिहान्तिके च' 'अणोरणीयान्महतो महीयान्' 'त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी। त्वं जीणी दण्डेनाश्चिस त्वं जातो भवासि विश्वतोमुखः' इत्यदि । तथा किंबहु-ना सर्वस्मै सर्वक्षपाय तुभ्यं नमः 'इदं सर्वे यद्यमात्मा'इति श्रुतेः।

ननु तर्हि सर्वेविकाराभिक्षत्याद्विनाशित्वप्रसङ्ग इत्याशङ्का, सर्वस्या-ध्यस्तत्वेन वास्तवभेदाभावात्सर्ववाधाधिष्ठानत्वेन च श्रुतिषु सामा-नाधिकरण्येन व्यपदेशादद्वितीयस्य ब्रह्मणो न विकारगन्धोऽपि संभाव्यत इत्यभिप्रायेण नमस्कुर्वन्नाह—तदिदमितिसर्वाय च नम इति । तत्परोक्षमिदमपरोक्षमित्यनेन प्रकारेणानिर्वाच्यं सर्वे यत्र स तदिद्मितिसर्वस्तस्मे । बहुत्रीहावन्यपदार्थप्रधानत्वान्न सर्वनामता । तेन सर्वाधिष्ठानभूताय तुभ्यं नम इत्यर्थः ॥ कहिरपक्षेप्येयम् ॥ केवलं संबोधनत्रयमन्यथा व्याख्येयम् । प्रियाणि वैषियकसुखानि वैराग्यो-द्वोधेन दुनोति नाशयतीति प्रियद्वः । तथा च स्मरो वासना तं हरतीति स्वभक्त्युद्वेकेणेति स्मरहरः । तथा त्रयाणां लोकानां नयन-वत्सर्वार्थावभासकस्त्रिनयन इति प्रागिप व्याख्यातम् ॥ २९ ॥

🏂 संस्कृत टीका 🦂

(प्रियद्व !) हे निर्जनवनविहारिन् ! (नेदिष्ठाय) अतिदायेनाः न्तिकः नेदिष्ठः—"अतिशायने तमविष्ठनौ"—५ । ३ । ५५-इत्यत इ-ष्ठन्प्रत्ययः सर्वत्रैवामुध्मिन्पचे बोध्यः । अत्रतु-"अन्तिकवादयोर्ने दसाधौ-"५।३।६३ इति नेदादेशो विशेषः । अत्यन्तानिकटवर्तिः न इत्यर्थः (ते) तुम्यं (नमः) (तथैव दविष्ठाय) आतेशयदूरवर्तिन (च) ते (नमः) हे (समरहर!) कामान्तक !-"हरः समरहरो भगं-"इत्यमरः (क्षोदिष्ठाय) श्चद्रतराय-"स्थूलदूरयुवहस्वक्षिप्रश्च-द्राणां यणादि परं पूर्वस्य च गुणः,"-६। ४। १५६-इत्यत एवोभ-यत्रापि यणादिलोपगुणा । ते (नमः) एवं (महिष्ठाय च नमः) म-हत्तराय च भवते नमः। (त्रिनयन!) हे त्रिलोचन!(वर्षिष्ठाय) अतीव वृद्धाय । अत्र-"प्रियस्थिर"-६ । ४ । १५१-इत्यादिना वृद्धः स्थाने वर्षादेश एव विशेषः। ते (नमः) अथ (यविष्ठाय च न-मः) अतिशयेन युवा इति यविष्ठस्तस्मै-अत्रापि पूर्वोक्त-"स्थूलदू-र-" इत्यादिनैव यणादिलोपगुणै। (सर्वस्मै ते नमः) किम्बहुना सर्वस्वरूपाय सर्वात्मकाय वा भवते नमः (इति) अनेन प्रकारेण (तत्) मत्कृतं (इदं) कियमाणं सर्वं (नमः) नमस्कारः (शर्वाः य) शिवाय भवत्विति शेषः । क्राचिद्दन्त्यादिरपि लभ्यते यथा स-र्वायोति. तत्र "वर्व गतौ"-अथवा"पर्व हिंसायां भ्वा० प्र० से] इत्येताभ्यां घातुभ्यां बवयोरभेदात् "पचाद्यचि"—३।१।१३४-इ- त्यतः सर्वोऽपि भवति।तथा चात्र शिवपर्यायत्वात्र सर्वनामता। यथा चोक्तमपि नामनिधानकोशे – "सर्वस्तु शर्वो भगवान् शम्भुः कालस्र शिवः । " कचित् अतिसर्वायेत्यपि पाठः। पर्न्तु तत्-परोक्षमिद-मपरोक्षमिति—अनेन प्रकारेण अनिर्वाच्यं सर्व यत्र स-तदिदमिति सर्वः तस्मै-तदिदमितिसर्वायेत्यकं पदं। अत्र बहुत्रीहावन्यपदार्थप्रधानत्वात्र सर्वनामतेति सर्वं विवेचनीयं विचक्षणैरेवमेवोक्तं भगवद्गीतायामपि—

"नमः पुरस्तादथ पृष्ठत स्ते नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व। अनन्तवीर्ध्यामितविक्रमस्त्वं, सर्वे समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः" (४०अ०११) अमुत्र-"अणोरणीयान् महतों, महीयान्-"इत्यादि रूपां श्वतिमवलम्ब्यैव भगवतः सर्वात्मकत्वं सर्वाधिष्ठानभूतत्वादि च सम्यक् प्रतिपाद्य सर्वविधमहिमशालिनेऽष्टमूर्तयेऽष्ट्या नमः प्रयोगो-ऽतिशयभक्तिमत्तामेव द्रढयति कवरिति॥२९॥

र्मः संस्कृतपद्यानुवादः र्द्धः
नमो निकटवर्तिने प्रियवनाय तुभ्यं नमो,
नमः परमदुस्तराय च शिवाय देवाय ते।
लागे लघुतराय ते मदनमानविद्धंसिने,
महामिहमशालिने महिततेजसे ते नमः॥
नमोऽस्तु ते वृद्धतराय शम्भवे,
युवस्वरूपाय च वालकाय वा।
शर्वाय सर्वातिशयाय सर्वतः,
सर्वस्वरूपाय भवेश्वमो नमः॥२९॥

माषा दीका 😫 साम हो स्राप्त

(प्रियद्व) हे आनन्दकाननिवहारिन्! (नेदिष्ठाय नमः) अत्यंत निकर्टमें रहनेवाले आपको नमस्कार है, तथा-(दिष्ठाय च नमः) बहुतही दूरवर्त्ती आपको नमस्कार है। (स्मरहर) हे कामनाशक! अथवा स्मरण करते मात्र दुःखोंके हरण करने वाले! (क्षोदिष्ठाय नमः) अत्यन्त छोटे रूप आपको नमस्कार है (मिहष्ठाय च नमः) और बहुतही बड़े रूप आपको नमस्कार है। (त्रिनयन!) हे त्रिलोचन!-त्र्थिश चन्द्र-सूर्य-अग्नि हैं नेत्र जिसके-जैसाकि कहाभी है—'वन्दे विहराशाङ्कसूर्यनयनं"—अथवा तीनों ही लोकों में है नयन [नीति] जिसका- वर्षिष्ठाय नमः) अतिराय दृद्ध आपको नमस्कार है,तथा च (यिवष्ठाय च नमः) परम तरुण आपको नमस्कार है, एवं च (सर्वस्मै ते नमः) सर्व स्वरूप आपको नमस्कार है (तत् इद नमः शर्वाय च इति) यह सब मेरा किया हुआ नमस्कार शर्वस्वरूप आपको निवेदित है-अथवा सर्वाकसीके अतिक्रमण करनेवाले हा र्घ भगवानको नमस्कार है। अभिप्राय स्पष्ट है कि आपही सब कुछ हैं और आपही सबिकसीके रूप हैं अतएव आपहीको मैं प्र-णाम करता हूं-क्योंकि आप अत्यंतविरुद्ध स्वभाव होनेसे कदापि निणीत नहीं होसकते-अर्थात् हमलोग जैसे श्चद्रबुद्धिवालोंका कि यां हुआ यह निर्णय नहीं होसकता कि आप क्या हैं ? किंबा कैसे हैं ? तब और क्या करसकत हैं — केवल वारंवार प्रणामभर करते हें—विशेषता यह है कि पूर्व में अष्टमार्त्त और अष्टनामोंको कहकर इस स्रोकमें आठ वार नमस्कार करनेसे साष्टांग दण्डवत्प्रणाम लिखनेकी पूर्णविधि दिखलाई है—इसमें आठ बार "नमः" पदके प्रयोग होनेसे महायुनहकि दोष अध्यड़नेकी आशंका नहीं करनी चाहिए-क्योंकि परमेश्वरकी दुरू महिमाको सोचकर कविने अ पनी परम भिक्तिके उद्देकको प्रकट किया है-अतः यह देशि नहीं है वरन बहुत भारी गुण-अथवा अलंकार होगया हैं ईश्वरके सर्वशः किमान होनेसे उसके विरुद्ध स्वभाव को रामायणमें भी इस प्रकाः रसे कहा है -

"आदि अतं कोउ जासु न पावा, मित अनुमान निगम अस गावा। पद विनु चले सुनै विनु काना, कर विनु कर्म करें विधिनाना। आनन रहित सकल रस भोगी, विनु बानी वक्ता बड जोगी। तनु विनु परस नयन विनु देखा, गहै घान विनु बास असेषा। अस सब भांति अलैकिक करनी, महिमा जासु जाइ नहि वरनी।" इत्यादि (तु० रा०)

द्वी भाषापद्यानुवादः 🕰

नमो नगीची देव जो, दूरवर्ति पुनि होग्र । नमो कामरिषु ! छुद्र है , रहत (बनत) बहुत बड़ जोय ॥ नमो बूढ़ते बूढ़ जो, त्रिनयन ! महाजुआन । नमो सर्व-मय सर्वते, ऊप्र सर्व महान ॥ २९॥

के भाषाविष्यम् के नमा पासै-वासी प्रियवन ! महादूर वसहू, नमा छाटेरूपी वहुत-बड-भारी तुमहिंकौ । नमो बूढे बावा जुवक-तनु-धारी गिरिशजू, सबै रूप धारै तिनहि प्रभु सबै नमत हों॥ २९॥

बहलरजसे विश्वोत्पत्तौ भवाय नमोनमः प्रबलतमसे तत्संहारे हराय नमोनमः । जनसुखकृते सत्वोद्रिक्तौ मृडाय नमोनमः प्रमहिस पदे निस्त्रेगुण्ये शिवाय नमोनमः ॥३०॥ के मधुसूदनी टीका के

अधुना पूर्वोक्तसर्वार्थसंक्षेपेण नमस्कुर्वन्स्तुतिमुपसंहराति— *बह्छेति *। विश्वोत्पत्ती विश्वोत्पत्तिनिमित्तं बह्छं तमःसस्वा· भ्यामधिकं रजो यस्य तस्मै उद्विकरजसे भवत्यस्माज्जगदिति भवो ब्रह्ममुर्तिस्तसमे तुभ्यं नमोनमः। तथा तत्संहारे तस्य विश्वस्य सहाः रनिमित्तं प्रबलं सत्वरजोभ्यामनभिभूतमुद्रिकं तमो यस्य तस्मै ह तीति हरो रुद्रम् तिस्तस्मै नमोनमः। तथा जनानां सुखकृते सुखनिमित्तम्। कृतशब्दोऽव्ययो निमित्तवाची। सत्वस्योद्भिकावुः द्रेके रजस्तमोभ्यामाधिक्ये स्थितायेत्यर्थाह्नभ्यते । 'सत्वोद्रेके' इति वा पाठः । अथवा सत्वोद्रिकौ सत्यां जनानां सुखं करोतीति जर् उखकत्तरमे। यद्वा सुखस्य कृतं करणम्। भावे कः। तस्मिन् तिमित्तम्। एवं व्याख्याने प्रक्रमभङ्गदोषो न भवति पूर्वपर्याय-द्वयं उत्तरपर्यायं च सप्तम्यन्तनिमित्तनिर्देशात् मृडयति सुखयति मृडो विष्णुस्तस्मै । पालनस्यैवोद्देश्यत्वात् क्रमभङ्गेन पश्चान्निर्देशः । एवं गुणत्रयोपाधीन वान्निर्गुणं प्रणमाति । प्रमहसिपदे निस्त्रेगुण्ये शि-वाय नमोनमः इति निर्गतं त्रेगुण्यं यस्मात्तिस्त्रेगुण्यं तस्मिन्पदे पद-नीये तत्पद्वाप्तिनिमित्तम् । कीहरो । प्रमहसि प्रकृष्टं माययानिभमूतं

महो ज्योतिर्यिह्मिस्तत्तथा सर्वोत्तमप्रकाशक्षित्रगुणशुन्यमोक्षिति-मित्तमित्यर्थः । शिवाय निस्त्रगुण्यमङ्गलस्वरूपाय 'शिवमद्वतं च तुर्थं मन्यन्ते' इति श्रुतेः । प्रमद्दसिं पर्दे स्थितायेति वा । *हरिपक्षे-प्यवम् ॥ ३०॥

🏂 संस्कृत टीका 🦂 हे भगवन् ! (विद्वीत्पत्ती) संसारस्जनकर्माण (वहलरजसे) अतिरायरजोगुणपूर्णाय (भवाय) भवमूर्तये,विश्वसृद्धपाय (नमो-नमः) वीष्सायां द्वित्वं। (तत्संहारे) सर्वेषां भुवनानां प्रलयकाले (प्रबलतमसे) प्रकृष्टतरतमोगुणालङ्कृताय (हराय) हरः । — "पचाद्य — "३।१।१३४-" हरो नाशकरुद्यो – ''रिति. मेदिनी । रुद्र रूपायत्यर्थः । (नप्रोनमः) बहुशो नमस्कृतयः । (स-स्वोत्पत्तो) सत्वगुणे जायमाने सति (जनसुखकृते) समस्तप्राणि-सुखकर्त्रे यद्वा जनसुखस्य कृतं करणं तस्मिन्-भावे कः। अर्थाज जनसुखकरणनिमित्तमिति। अथवा कृते इति ताद्थ्यं ऽव्ययं तेन जनसुखार्थमित्यर्थः स्पष्टः। (मृडाय) मृडतीति मृडः-मृड सुखने, [तु० प० से०]-"इगुपधज्ञाप्रीकिरः"-३। १ १३५-इत्यतः कप्रत्ययः। तस्मे सुखप्रदाय सर्वजगत्परिपालकाय विश्वम्भरमूर्तये (नमोनमः) नमस्काराः सन्तु । (निस्त्रेगुण्ये) निर्गतं त्रेगुण्यं यस्मात् तत्, निस्त्रेगुण्यं-गुणत्रयातीतं तस्मिन् (प्रमहसि) प्रकृष्टं माययाऽनिभ-भृतं महः तेजो यस्मिन् तत्तथा, अत्युज्वलज्योतिर्मये-इत्यर्थः (पदे) परमपदे । वर्तमानायेति योजनीयम् । (शिवाय) परमानन्दस्वरूपाय मङ्गलमूर्त्तये वा (नमो नमः) अत्राप्यष्ट्या नमः प्रयोगप्रमाणाद्ष्टाः क्रप्रणामविधिदेशितो यतः स्तुत्युपसंहारो ऽत्र विवक्षित इति । कचित्-'सत्वोत्पत्तौ'-इत्यत्र उत्पत्तिशद्वस्य पुनरुक्तिदोषत्वात्-सत्वोः द्विक्ती, अथवा सत्वोद्रेके इत्यादिरूपः पाठो ऽपि लभ्यते, पवश्च केचि न्तीयपदस्य द्वितीयपदत्वमपीव्छन्ति, परन्तु भव-लययोः स्वरप-कालिकत्वात् स्थितेश्च तदपेक्षयातिस्थिरत्वाद्यथेःकमेव समीचीः नमाभाति । तद्वद्विपर्थयो ऽपि न साम्प्रदायिक इति विवेचनी यम् । प्रन्थसमाप्तौ छन्दः परिवर्तनस्याचारत्वादेवात्र-"हरिणीवृत्तम्" तल्लक्षणञ्च "वृत्तरत्नाकरे" पवमुक्तं-"रसयुगहवे न्सीं म्री म्ली गो यदा हरिणी तदा"-इति ॥ ३० ॥ र्म संस्कृतपद्यानुवादः र्मे विद्योत्पत्तौ बहुलरजसे स्यान्नमो मे भवाय, तत्संहारे प्रबलतमसे श्रीहराय प्रणामः। सत्वोद्रिकौ जनसुखकृते तप्रमस्ते मृडाय निस्त्रैगुण्ये प्रमहसि पदे श्रीशिवायोन्नमो ऽस्तु॥३०॥

र्हें भाषाटीका हि

हे देव! (विद्वोत्पत्तौ) संसारकी सृष्टिमें (वहलरजसे) बहुत विशेष रजोगुणी (भवाय) भवस्वरूप आपको (नमोनमः) बार-बार नमस्कार है। (तत्संहारे) फिर उसी संसारके प्रलय समय (प्रब-लतमसे) विशेष तर तमोगुणी (हराय) हरस्वरूप आपको (नमो नमः) अनेक प्रणाम है। (सत्वोत्पत्ती) सत्त्वगुण के प्रकट होने पर (जनसुखकृते) लोगोंके सुखकारी (मृडाय) मृडस्वरूप आ-पको (नमोनमः) पुनः पुनः नमस्कार है। एवं (निस्त्रीगुण्ये प्रमः इसि पदे) तीनों गुणोंसे परे स्वयं प्रकाशरूप परम पद पर वर्तमान रहनेवाल (शिवायनमोनमः) शिव स्वरूप आपको विशेष रूपसे प्रणाम है। अभिप्राय यह कि--सृष्टि करने के लिये आपही रजो-मूर्ति [ब्रह्मा] होते हैं और प्रलयके निमित्त तामस [रुद्र] बनते हैं एवं संसारके पालनार्थ आपही सातिकविश्वम्भर [विष्णु] हो जाते हैं-अतएव इन तीमों गुणों के धारण करने वाले होने परभी इन तीनों गुणों के पर स्वयं प्रकाश रूपसे स्थित रहनेवाले शिव मूर्ति आपको वारंवार प्रणाम है-इसी भावसे कुछ कुछ मिलता हुआ-बाणाभट्टकत-काद्मवरीका प्रथम मङ्गलाचरण इस प्रकारसे है यथा--

"रजोजुषे जन्मनि, सत्त्ववृत्तये-स्थितौ प्रजानां प्रलये तमःस्पृशे । अजाय सर्ग-स्थिति-नाश-हेतवे, त्रयीमयाय त्रिगुणात्मने नमः" [अर्थ स्पष्ट है]

इस मूल श्रोक में भी आठ वार "नमः" पदके प्रयोग से आ एांग प्रणामकी विधि दिखलाई है- यहां पर यह शक्का होती है कि, जो सगुण होगया वह निर्मुण कैसे रह सकता है ? इसका उत्तर रामायण की चौपाई देती है- "जो गुन रहित सगुन सो कैसे ? जल हिम-उपल विलग नहि जैसे"। योहीं ईश्वर के स्वयं प्रकाश होनेकी बार्ता भी उसी प्रन्थमें मिलती है।

> "सहज प्रकाश रूप भगवाना, निह तहँ पुनि विकान विहाना" इत्यादि (तु० रा०) के भाषापद्यातुवादः के

जगत सृष्टि लिंग बहुत रज, धरत नमो भव जोय।
तिहि सँहारत नमहु अति—तमोगुनी हर सोय (होय)॥
जन पालन हित सत्त्व गुन, लहत नमहु मृड रूप।
यस ज्योति त्रय गुन परे, प्रनवहुँ सिवहि अनूप॥३०॥

कू भाषाविष्वम् कृ नमहु भवको सृष्टी कर्ते रजोगुन-रुपतें, प्रनवहु मृडे रच्छा-लागी सतो-गुन है रहें। नमतहु हरें संहारें जो तमो-गुनते भरें, प्रयगुन-पर तेजो-क्पें शिवाय नमो नमै॥ ३०॥

कृशपरिणति चेतः क्लेशवश्यं क चेदं क च तव गुणसीमोछिङ्घिनी शश्वहादिः। इति चिकत ममन्दीकृत्य मां भक्ति राघा-द्वरद चरणयो स्ते वाक्यपुष्पोपहारम् ॥३१॥

💤 मधुसूदनी टीका 🦂

पवमस्तुत्यरूपेणेव भगवन्तं स्तुत्वा स्वस्यौद्धत्यपरिहारं 'मम त्वेतां वाणीम्' इत्यत्रोपकान्तमुपसंहरन्नाह्-

*हे वरद * सर्वाभी छदेत्युपसंहारे योग्यं संबोधनम्। तव पाद्-योमद्वाक्यपुष्पोपहारं भक्तिराधात् त्वद्विषया रितरिपतवती। यथा पुष्पाणि मधुकरेभ्यः स्वमकरन्दं प्रयच्छन्त्यन्येषामपि दूरात् गन्ध-मात्रेण प्रमोदमादधित तथैतानि स्तुतिह्नपाणि वाक्यानि भ-किरिसकेभ्यो भगवन्माहात्म्यवर्णनामृतरसं प्रबच्छन्त्यन्येषाम-

पि अवणमात्रेणापि वस्तुस्वाभाव्यात्सुखविशेषमाद्धतीति ध्वनः यितुं ज्ञापयितुं वाष्मुष्पत्वेन निरूपितम् । तथा च वाक्याः न्येव पुष्पाणि तैरुपहारः पुजार्थमञ्जलिस्तमित्यर्थः । कि कृत्वा आधादित्यनेन हेतुना चिकतं भीतं स्तुतेनिवर्तमानं माममन्दीः कृत्य न मन्दममन्दं कत्वा। बलात्स्तुतौ प्रवत्येत्यर्थः। तथा चान्यः मत्या प्रवृत्तस्य मम स्खलितेऽपि क्षन्तव्यमित्यभिप्रायः। इतिशब्देन सुचितं भयकारणमाह-कृशेत्यादिना । कृशा अल्पा परिणतिः परि-पाको यस्य तत्तथा। अल्पविषयमित्यर्थः। ताइशं मम चेतिश्चित्त द्भानं वा। तथा क्लेशानामविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशानां वश्यमाय-त्तम्। सर्वदा रागद्वेषादिदोषसहस्रकलुषितमित्यर्थः। क्रुरोनातिप्रयते-न वर्यमिति वा तेन त्वहुणवर्णनेऽत्यन्तायोग्यमित्यर्थः।गुणानां सीमा संख्यापरिमाणयोरियत्ता तामुल्लङ्घायितुं शीलं यस्याः सा गुणसीमो-ल्लाक्ष्मनी शदवहाद्धिः नित्या विभृतिः । तेनैताहरादुर्वासनासहस्रकलु वितमिस्यल्पविषयं मम मनः क, अनन्ता नित्या तव परमा विभूतिर्वा क इत्यत्यन्तासंभावना मम भयहेतुरित्यर्थः । एतद्वधारणे च तव भक्तिरेव कारणमिति भक्तेरत्यन्तासंभावितफलदानेऽपि सामध्ये हर्रायति । यस्मादेवं तस्मात्सर्वापराधानाविगणस्य परमकारुणिकेन त्वया त्वद्विषया भक्तिरेव ममोद्दीपनीयेति वाक्यतात्पर्यार्थः॥ ३१॥

🏂 संस्कृत टीका 🚓

(वरद!) हे वरदायक! (कृशपरिणति) अत्यन्पपरिपाकशीलं (क्रिशवर्य) दुःखाधीनं, अथवा पातञ्जलदर्शनोक्ताः पश्चक्रेशाः य-धा-"अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्रेशाः । [साधनपादेश्य-प्रम्]तत्र अविद्या-विद्याविरोधिनी, विपरीतक्षानमितियावत् १। अ-स्मिता—कर्ताहं, भोकाहमित्याद्यभिमानः २ । रागः सुखसाधनेषु तृष्णाक्षप इच्छाविशेषः ३ । द्वेषः-दुःखसाधनेषु निन्दात्मकः क्रोधो वैरभाव इत्यर्थः ४ । आभिनिवेशः-अनुभवसिद्धरिप मरणादिभिभ-यसञ्चारः ५ । तथा चोक्तमिप कूर्मपुराणे ब्राह्मीसंहिताया उत्तरभागे सप्तमे ऽध्याये—यथा

"अविद्यामिस्मितां रागं द्वेषश्चाभिनिवेशनम्। क्रेशाल्यांस्तान् स्वयं प्राह, पाशामात्मनिबन्धनात्" ॥२९॥ इति- पतेषां पश्चक्किशानामायतं (इदं) मदीयं (चेतः) अन्तः करणं (च क) पुनः कुत्रास्ति अतिश्लीणविषयमित्यर्थः। पवञ्च (गुणसी-मोल्लिक्ष्मी) गुणमर्थ्यादापारगामिनी (शश्चत्) अविनाशिनी नित्येति वा। (तव) भवतः (ऋदिः) विभृतिमिहिमा वा (क च) तथा च कुत्रास्ति। अर्था अवन्महिमा तु नित्यत्वानन्तत्वादिगुणावः चिल्लाः, मदन्तः करणञ्च षहुविधदुर्वासनादिकलुषितं क्रेशवशीभूत-मिति कथमुभयोस्तारतम्यं भवेत् ? (इति) अनेनैव हेतुना (चित्तं) अतीव भ्रान्तं, भीतिमत्यर्थः (मां, अमन्दीकृत्य) न मन्दम्मन्दं कृत्या, त्रासविहीनं विधाय, बलादेव स्तवनकर्मणि नियोज्येन्त्यभिप्रायः (ते चरणयोः) भवतः पादयोः (भक्तः) सेवा यथोकं गरू पुराणस्य २३१ अध्याये—

"भज इत्येष वै घातुः, सेवायां परिकीर्तितः। तस्मात्सेवा बुधैः प्रोका, भक्तिः साधनभूयसी"॥

पवश्च प्रयेषु अनुरागातिशय एव भक्तिर्थात्-"नहीष्ट्वेवात्परमिस्त किञ्चित्-" इति बुद्धिन्याप्ता चित्तवृत्तिरेव पराभाकिः। यथोक्तमस्मद्रोत्रप्रवक्तिकेस्तत्रभवद्भिमेहर्षिशाण्डिल्याचारयैः—"भक्तिसूत्रा—" ख्ये प्रन्थ आदावेष-"अथातो भक्तिजिक्तासा १। सा परानुरक्तिरीष्ट्वरे र-"इति। भक्तिमाहात्म्यवर्णनादिकं श्रीमञ्चगवद्गीः
ता—भागवतादिषु तथान्येष्विष पुराणादिषु सर्वत्रैव यथावदृहः
नीयं विस्तरभयाश्रेहोद्धिख्यते। सा भक्तिरेव (वाक्यपुष्पोपहारं)
वाक्यान्येव कथितस्तुतिपद्यान्येव पुष्पाणि तेषामुपहारः पूजोपायनं तं (आधात्) प्रत्यर्पयदित्यर्थः। तेनैतद्यधारणे भवतो भक्तिरेव कारणमित्याख्यातम्। अत्र भक्तिमहिम्नैव स्तोतृत्वमुरिहत्य
भक्तेरेव सर्वथाऽसम्भावितफलदातृत्वसामर्थ्यमस्तीति प्रकटितम्।
तथा च मदीयापराधपुञ्जमविगणय्य स्वीयपादभक्तिरेव मदर्थमुः
हीपनीयैति च ध्वनयित वाक्यतात्पर्थार्थः तस्मात्—

"या प्रीतिरविवेकानां, विषयेष्वनपायिमी। त्वामनुस्मरतः सा मे, दृदयान्मापसर्पतु"॥

[विष्णुपुराणे-अं० १ अ० २० इलो० १८ उक्ता] इति इपा भक्तिः प्रार्थना च स्फुटीकृता स्तोत्रोपसंहार इति । मालिनीवृत्तमेवेत्यतः श्वोकचतुष्ट्रप्यर्थन्तं-तल्लक्षणन्तु-"न-न-म-य-य-युतेयं मालिनी भोगि-ले।कै-''रिति वृत्तरसाकरोक्तमेवेति ॥ ३१॥ ﴿﴿ संस्कृतपद्यानुवादः ﴿

क मे चेतः शम्भो ! कृशपरिणति क्लेशवश्या, समृद्धिस्ते नित्या कचन गुणसीमान्तकरणी । इतीश ! त्रस्तं मां तव चरणयोर्भिक रकरो— दमन्दीकृत्येवं वचनकुसुमाभ्यर्चनविधिम् ॥ ३१ ॥

🔞 भाषा टीका 🦂 अर्था

(धरद!) हेवरदायक! (क्रेशवइयं) नानाप्रकारके क्लेशोंके आधीन (च) और (कुशपरिणति) अति क्षीण परिणाम वाला अ र्थात् स्वरुपविषयक (इदं) यह मेरा (चेतः क ?) चित्त कहाँ ? और (गुणसीमोलङ्किनी) गुणों के सिवानोंको नाघजानेवाली (शश्वत्) सदा वर्तमान रहने वाली अर्थात् अविनाशिनी (तव ऋाद्धिः च क ?) आपकी महिमा किंवा विभूति कहाँ ? (इति) इसी कारण से (चिकतं) घबराये हुए अथवा डरते हुए (मां) मु-झको (अमन्दीकृत्य) ढीठा बनाकर (ते चरणायोः भाक्तः) आप के चरणोंकी भक्ति ने (वाक्यपुष्योपहारं) वचन रूपी पुष्पों से पूर जनका उपहार (आधात्) रक्खा, वा समर्पण कराया । अभिप्राय यह कि आपकी अनुलनीय महिमा को देखता हुआ अनेक प्रकारकी दुर्वासनाओंसे कलावित और दुःखमय मेरा चित्त आपके गुणगान करने में बहुत डरता था पर आपहीके चरणों की भक्तिने ढाढस देकर यह वाक्यक्षी पुष्पोंका उपहार [नजर] आपके चरणों पर रखवाया है अर्थात् केवल आपकी भक्तिक भरोसे यह महिस्र-स्तोत्र रचा गया है-वास्तवमें इस स्तोत्र के प्रत्येक पदमें भक्तिः रसकी धारा वह रही है-क्योंकि जैसे फूल भवरों को अपना रस चलाते और दूसरे लोगोंकोभी दूरहीसे अपने सुगन्धसे आनन्दित करते हैं, वैसेही इस स्तोत्र के वाक्यभी भक्ति रसिक भक्त जनोंको तो भगवान की महिमाके वर्णन रूप अमृत रसको पिलाते ही हैं पर दूसरेभी सुननेवाले लोगों को कविताके प्रसाद-माधुर्यादिगुणों तथा अर्थोंकी गम्भीरता और विशेषतः श्रुतिमधुरतासे परम आ-इहादित कर देते हैं—अथवा अंजलिमें लेने से जैसे फूल दोनों हाथों

को एक समान सुगन्धित कर देता है जैसािक कहा है "अंजिल गत सुभ सुमन जिमि सम सुगन्ध कर दोय।" (तु० रा०) वैसे इस स्तोत्र के वाक्य भी पाठकरने वालों के मुख और हृदयको शुद्ध करदेते हैं—यहाँ रूपकालंकार है। भाव यह कि—भिक्तिहींने आप के चरणों पर वाक्य पुष्पोपहार चढ़ाया है—और आप वरदायक हैं अत पव वर देकर उस भिक्तिको अचला बनादीजिये। भिक्ति विषयमें प्रधान प्रन्थ भगवान् शांडिल्याचार्यका बनाया हुआ "भिक्ति सूत्र" है—इसके अतिरिक्त भगवद्गीता भागवत रामायण अथवा अठारहों पुराण और उपपुराणादिकों में केवल भिक्तिकों महिमा भरी हुई है अधिक उहाहरण इस छोटी सी पुस्तिकामें नहीं लिखे जा सकते क्योंकि विस्तार (वढ़जाने) का भय है तथापि दिग्दर्शन मात्र करादिया जाता है—यथा—

"जाते वेगि द्वीं में भाई, सो मम भक्ति भक्त सुखदाई। सो स्वतंत्र अवलंब न भाना, जेहि आधीन ज्ञान विज्ञाना—"

इत्यादि (तु० रा०)

इसके नवोंभेदभी स्वयं रामचन्द्रने शवरीसे कहे हैं यथा— "नवधा भक्ति कही तोहि पांही, सावधान सुनु धरु मन मांही। प्रथम भक्ति संतन कर संगा, दूसरि इति मम कथा प्रसंगा।

गुरु-पद पंकज सेवा, तीसरि भक्ति अमान।
चौथि भक्ति मम गुनकथन, करै कपट ताज गान॥
मंत्रजाप मम दृढ़ विस्वासा, पंचम भजन सो वेद प्रकासा।
पट दम सील विरत बहु कर्मा, निरत निरंतर सज्जन धर्मा।
सतई सब मुँहि मय जग देखें, मोते संत अधिक करि लेखे।
अठई यथा लाभ संतोषा,-सपनेहु नहि देखें पर दोषा।
नवम सरल सबसो छल्हीना, मम भरोस हिय हरख न दीना।
नव महं एकहु जिन्हके होई, नारि पुरुष सचराचर कोई।
सोई अतिसय धिय भामिनि मोरे, सकल प्रकार भक्ति दृढ़ तोरे॥"

🏂 भाषापद्यानुवादः 🦂

अल्प-विषय यह चित्त कहँ, महाक्केस आधीन। कहँ गुन-सीमा लाँघती, तुव महिमा अति पीन॥ इमि सोचत लखि (अति) चिकत मुहिं, करि प्रवृत्त तुव भिक्त। वाक्य पुष्प उपहार दिय, चरन चढ़ावन सिक्त ॥ ३१ ॥

भाषाविम्बम् क्ष्रिं दुरबल परिनामा है कहाँ चित्त दुःखी, कहाँ तुष गुन-सीमा नाँघंती है समृद्धी। इहि विधि डर खाते भक्ति दीन्ही सहारा, धरहुँ चरन तोरे बैन-फूलोंकि माला॥ ३१॥

असितगिरिसमं स्या त्कज्जलं सिन्धुपात्रे सुरत्रवरशाखा लेखनी पत्र मुर्वी । लिखति यदि गृहीत्वा शारदा सर्वकालं तद्पि तव गुणाना मीश पारं न याति ॥३२॥

😤 संस्कृत टीका 🦂

(ईश!) हे सर्वसमर्थ! भवतो गुणि छिलार्थ (सिन्धुपात्रे) सम्
मुद्रक्षपायां मिस्थान्यां (असितिगिरिसमं) नीलाचलतुरुयं (कज्जन्छं) मसी (स्यात्) भवेत्। तथाच (सुरतस्वरशाखा) करुपष्टुः सस्य महती शाखा (लेखनी) कलमः स्यात्-लिखधातो र्ह्युट्, तन्त्रश्च छीष्। एवं (उन्वीं) पृथिवी (पत्रं) लेख्यपत्रं भवेत्। एतबुक्तक्षं सर्वमुपकरणं (गृहीत्वा) धृत्वा सुसर्ज्ञीकृत्येत्यर्थः (शारदा) सरस्वती देवी-अस्या ब्युत्पित्तस्तु "तिथ्यादितस्वो" कैव

'शरत्काले पुरा यस्माञ्चवस्यां बोधिता सुरैः।
शारदा सा समाख्याता, लोके वेदे च नामतः॥" इति॥
(यदि) चेत् (सर्वकालं) अनुक्षणं (लिखति)-"लोडथंलक्षणे च" ३।३।८-इत्यतो लट्। (तदिष) तथाषि (तव) भवतः
(गुणानां) गुणगणगणनानां (पारं)अन्तं सीमानामिति यावत् नैव
गच्छतीति। अत्र सिन्धुरूपमसिधान्यां नीलगिरि कज्जलं कृत्वा कल्पवृक्षशाख्या लेखन्या समस्तभूमण्डलरूपे पत्रे स्वयं भगवती वाविदी यदि प्रतिक्षणमि भवते गणगणनालिखनप्रसङ्ग समुधुका-

प्यसमर्थेव भवति चेत्ति का कथास्मादृशां पामरपुक्रवानामिति स्तोत्रपूर्तिरुपदिष्टा । पतावदेव महिम्नस्तोत्रमेतद्ग्रं च स्तोत्रस्य कर्तृनाम-फलादिकं निगद्यते, वृत्तवार्ता तु पूर्वीकैवेति ॥ ३२ ॥ र्ह्स संस्कृतप्यानुवादः 🎉

शम्भा ! भवेद्णव एव पात्रं, मसी भवेत्रीलिगिरः समस्तः । स्यान्लेखनी कल्पतरोश्च शास्ता, पत्रं प्रकीर्णा पृथिवी समन्तात् ॥ विहाय वीणारटनादिकृत्य, मनुक्षणं स्याल्लिखने प्रवृत्ता । श्रीशारदा नैति तथापि पारं, भवज्जुणानां करुणाम्बुराहो !॥ ३२॥

क्षे भाषा टीका 🎉

(रैंश !) हे सर्वसमर्थ ! [आपके गुणोंके लिखने के लिये] (सिन्धुपात्रे) समुद्ररूप मसीदानी [दावात] में (असितगिरि-समं कञ्जलं स्यात्) नीलगिरिके समान कारिख [रोशनाई] हो-वे। और (सुरतस्वर शाखा) कल्पनृक्षकी भारी डार (लेखनी) कलम होवे, योंही (उर्वी पत्रं) पृथिवी मंडल पत्र [कागद] होवे (यदि) जौ [अगरचे] इन सबको (गृहीत्वा) लेकर (शारदा) स्वयं सरस्वती देवी (सर्वकालं) हरघडी (लिखति) लिखती रहें (तदपि) तौभी (तव गुणानां) आपके गुणोंके [महिमाके] (पारं न याति) पार नहीं जासकर्ती—भाव स्पष्टहै कि समुद्रको मसीदानी बनाकर उसमें नीलपर्वतको कज्जल बनाव, और कल्प-वृक्षकी शाखाको कलम वनाकर इस भूमंडल रूप पत्र पर स्वयं शारदा देवी प्रतिक्षण आपके गुणोंकी गणना लिखें तौभी पार न हीं पासकर्ती-तब हम ऐसे क्षुद्रलोगोंके साधारण सामग्री लेकर लिखनेसे आपकी महिमाका अन्त लगा देना कैसे साध्य होसकता-हैं ? येही बत्तीसो [दंत संख्यक] श्लोक पुष्यद्दताचार्यके बनाय हुए हैं- इन्हींको पूर्व पद्यमे "वाक्यपुष्पोपहार" कह आये हैं-इनके आगे वाले आठ श्लोक फलस्तुति कहलाते है। यहां पर शारदाका नाम इस लिये कहदिया है कि उहीं के कृपासे मैं इतना भीलिख सकाहूं-यही बात रामायण में इस भांतिसे कहीगई है-यथा-"भक्त हेतु विधि भवन विद्दाई, सुमिरत सारद आवत धाई। कींह्र प्राकृत जन गुन गाना, सिर धुनि गिरा लगति पछिताना।

हृदय सिंधु मित सीप समाना, स्वाती सारद कहाई सुजाना। जो वरषे घर वारि विचार, होहिं कवित मुकता मिन चारू।" इत्यादि (तु॰ रा०)

भाषापयानुवादः 🐇
मसिदानी अर्नव बने, मसी नील-गिरि होय।
मिसदानी अर्नव बने, मसी नील-गिरि होय।
करुपबृच्छकी सास्त्रके, बने लेखनी जोय॥
लिखे भूमितल पत्र ये, तुमरो गुन दिन-रात।
पावित पार न सारदा, ईश! अंत रहि जात॥ ३२॥

भाषाबिम्बम् दे जलिधि मसिदानी नील सेलै मसी हो, कलप दुरुम (विरिछ) साखा लखनी पत्र भूमी। लिखाह जदपि लेकै सारदा नित्य तासो, तदपि तुव गुनोंके नाथ! पारे न जाती॥ ३२॥

असुरसुरमुनीन्द्रै रिचतस्ये न्दुमौळे-प्रीथितगुणमहिम्नो निर्गुणस्ये स्वरस्य । सकलगुणवरिष्ठः पुष्पदन्ताभिधानो रुचिर मलघुवृत्तैः स्तोत्र मेत च्चकार ॥ ३३ ॥

(असुरसुरमुनीन्द्रैः) दानवदेवमुनिश्रेष्ठैः पातालस्वगंमर्त्यलोः किनवासिभि स्सर्वेदेवेत्यर्थः (अर्चितस्य) पूजितस्य । भगवतः (इन्दुमौलेः) चन्द्रदेशकरदेवस्य (प्रिधतगुणमिह्मनः) प्रिधिता गुम्पिता गुणाना मैद्दवर्यादीनां मिहमानो यस्य सप्रिधितगुणमिह्मा—तस्य (निर्गुणस्य) निर्गुणस्वरूपस्यव (ईद्दरस्य) विद्वेष्ट्यदेवस्य (पतत्) कथ्यमान कथितं वा परममनोहरं रम्यं वा (स्तोत्रं) नाम्ना मिहम्नस्तोत्रं (सकलगुणविरष्ठः) अदोषगुणकल्लाभिः श्रेष्ठताङ्गतः। कचित्—सकलगणविरष्ठ इत्यपि पाठो हद्दयते (पुष्पदन्ताभिधानः) पुष्पदन्तनामा कविः (अलघुवृत्तेः) अन्वप्राक्षरेः शिखारणी—हरिणी—मालिनीखन्दोभिः (चकार)

अकार्षीदिति । अत्रादी स्तुत्यनामोहेखनपुरस्सरं स्तोतृनामाति हिन् स्ननं दिष्टाचारानुमतं सर्वप्रसिद्धमेव । इत आरभ्य स्तेत्रसमाप्तिपर्य्यन् स्तं दिवरहस्योक्ता फलस्तुतिरेवति विद्वेयम् ॥ ३३ ॥

🦫 संस्कृतपद्यानुवादः 🦂

समस्तदेवासुरये।गिष्टुन्दै, रभ्यर्चितस्ये न्दुकलाघरस्य। महामहिम्ना गुणगुम्फितस्य, गुणै विंहीनस्य महिश्वरस्य॥ एतत्कृतं स्तात्र मन्दपृष्ट्ते, र्मनोहरं पुण्यवचः प्रवृत्तेः (युक्तेः)। गुणः प्रकृष्टे बंहुशस्स्तुतेन, श्रीपुष्पदन्ताभिधकोविदेन॥ ३३॥

😤 भाषा टीका 🏂

(असुरसुरमुनीन्द्रैः अर्चितस्य) असुर-दैत्यराक्षसादि जैसे षाणासुर रावण प्रभृति, सुर-ब्रह्मा विष्णु इत्यादि, एवं मुनीन्द्र-शि॰ वतत्त्वके ज्ञाता द्धीचि वसिष्ठ इत्यादिक महर्षियोंसे पूजित (इन्दु-मौंछेः) भगवान् चन्द्रमौछि (प्रथितगुणमहिस्नः) गुथी गई हैं गुणोंकी महिमायें जिसकी-ऐसे (निर्गुणस्य ईश्वरस्य) निर्गुण-स्व-कप परमेश्वरका (एतत् रुचिरं स्तोत्रं) यह बहुतही सुन्दर वा मनोहर स्तोत्र (सकलगुणवरिष्ठः) समस्तगुणोंसे [गणोंमें] श्रेष्ठ (पुष्पदन्ताभिधानः) पुष्पन्दन्त नामक कविने (अलघुवृत्तैः) बडे बडे छन्दों द्वारा (चकार) निर्माण किया। इस श्लोकमें पहिले ही असुरशब्दके रखनेसे यह सुचित किया कि सुरलोगींकी अपेक्षा असुरगण विशेषरूपसे महादेवके सेवक हुएहैं क्योंकि विचार पूर्वक देखनेसे विभीषणादि दो एकको छोडकर सभी दैत्यराक्षसादिक कट्टर शैव जान पडते हैं। इसमें असुर सुर मुनीन्द्र-इन तीनों पदांसे पाताल-स्वर्ग और मर्त्यलोकके रहनेवालोंका अभिप्राय प्रकट है अर्थात् त्रेलोक्यमात्रमें भगवान् चन्द्रशेखर पूजित हैं-इसीसे लिङ्क पुराणमें यह भी कहा है कि पातालमें चरण, मर्त्यलोकमें लिङ्ग और स्वर्गमें मस्तकही श्रीशिवजीका पूजाजाता है-इसी लिये मेरे पूज्य पूर्व पुरुष पण्डित रामानन्दित्रिपाठीजीने एक स्थल पर लिखा है कि -

"न चक्राङ्का न पर्माङ्का, न वज्राङ्का यतः प्रजा। छिङ्काङ्का च भगाङ्का च, तस्मान् माहेश्वरी प्रजा॥"

भर्थात् इस सृष्टिमें चक पद्म अथवा वक्रका कोई चिन्ह नहीं पाया जाता अतपव विष्णु ब्रह्मा किंवा इन्द्रकी यह सृष्टि नहीं है, इसमें लिक्न और भगहीं के चिन्ह विद्यमान होने से यह माहेइवरी सृष्टि है— इससे यह सिद्ध है कि सृष्टिमात्रके कारण होनेसे भगवान विश्वेश्वर सबी लोकवासियोंसे पूजित हैं उसमें भी मर्त्यलोक निवासियोंके तो एकमात्र आराध्य देव हैं, इलोकका और सब भाव अत्यन्त स्पष्ट है।

🚣 भाषा पद्यानुवादः 🦂

देव असुर मुनि-पूज्य पद, चन्द्रमौलि विस्वेस ।
गुन महिमाते प्रथित पै, निर्गुन ईस्वर वेस ॥
स्रेष्ठ सकल गुनमें भयो, पुष्पदन्त अस नाम ।
अलघु छन्दसे रुचिर यह, विरुच्यो स्तोत्र ललाम ॥ ३३॥

दूर भाषाबिम्बम् है असुर-सुर-मुनीके पूज्य जो (हैं) चन्द्रमौली, गुधि गुन महिमाको निर्भुनै ईश्वरै की। सब-गुन-गन-पूरो पुष्पदन्तै कहातो, रुचिर अलघु छन्दों-मे स्तुती को बनायो॥ ३३॥

अहरह रनवद्यं धूर्जटे: स्तोत्र मेत-त्पठिति परमभक्त्या शुद्धचित्तः पुमा न्यः । स भवित शिवलोके रुद्रतुल्य स्तथा ऽत्र, (सदात्मा) प्रचुरतरधनायुः पुत्रवा न्कीर्तिमां श्र ॥ ३४ ॥

🚼 संस्कृत टीका 😤

(यः) काश्चित् (पुमान्) नरः। तेन नारीणामनधिकारो महिमनस्तोत्रपाठे लोकप्रसिद्धः (शुद्धचित्तः) सन् एकाप्रमानसो भूस्वा (एतत्) पुष्पदन्तकथितं (अनवद्यं) उत्तमं निर्देषिमित्यर्थः।
(धूर्जटेः) महादेवस्य-धूर्भारभृता जटिर्जटा यस्य, तस्य। जटझट संघाते [भ्वा-प-से०]-"सर्वधातुभ्यः"-४। ११८ उणा०-इतीस्प्रत्ययः। "धूर्जटि नीललोहितः" इत्यमरः। (स्तोत्रं) स्तुर्ति (

दरहः) प्रांत दिनं नित्यनियमानुसारमित्यर्थः (पठति) पाठं करोति (सः) पाठकर्ता (सदातमा) सत्यातमा महातमेति यावत्। अथवा सदिति उपलक्षणमेतत् तेन सिश्चदानन्दमयत्व मृहनीयं
(दिवलोके) रुद्रावासे (रुद्रतुल्यः) शिवकगणसमानः (भवति)
तथात्र रत्येष पाठ पव प्राक्तनैः स्वीकृतः सदातमेत्यत्र। तद्वद्सिमछोके अपि (प्रचुरतरधनायुः) अत्यन्तधनशाली पवं परमायुष्मान्
तथा (पुत्रवान्, कीर्तिमाँख) वंशकर्ता, रुदकीर्तिख्य जायते। अर्था दिह सांसारिक मखिलं धनायुः पुत्रकीर्त्यादिसुल मनुभूयान्ते रुद्रक्रपण शिवलोके निवसतीति स्तोत्रपाठस्य फलमेव याथार्थ्यंन स्परिक्कतमिति। वृक्तमुक्तमेव॥ ३४॥

र्ह्म संस्कृत पदानुवादः है पठे त्परमभक्तिमान् य इह शुद्धचित्तः पुमान् , महेशगुणगुम्फितं स्तवन मुत्तमं प्रत्यहम् । भवे त्स शिवपत्तने (सिन्निधो) प्रमथरुद्रतुस्य स्तथा यशोधनसुतायुषां प्रचुरतां लभेता वनौ ॥ ३४ ॥

भाषाटीका 😽

(यः शुद्धिच्तः पुमान्) जो कोई मनुष्य शुद्ध हृदय होकर (पतत्) इस (अनवद्यं) दोषरिहत (धूर्जटेः स्तोत्रं) महादेवके स्तोः त्रको (परमभक्त्या अहरहः पठित) वडी भिक्तके साथ प्रतिदिन पढ़ता है (स सदात्मा) वह महात्मा (शिवलोके) महादेवके लोकमें अथवा केलासपर (रुद्रतुल्यः) रुद्रनामक मुख्य गणोंके समान (भवित) होता है, तथा च इस लोकमें (प्रचुरतरधनायुः पुत्रवान् कीतिमान् च) वड़ा धनी चिरंजीवी एवं पुत्रवान् तथा कीर्तिशाली होता है-इस स्रोकका भाव प्रकट है-इसमें स्रोत्रपाठका जो फल लिखा है अनुभव करनेसे बहुत ठीख उतरता है-उसमेंभी वंश चलनेके लिए इस स्तोत्रका पाठ विशेष फलदायक समझा बाता है-इस स्रोकमें 'सदात्मा'के स्थान पर 'तथात्र' पदका पाठ प्राचीन है।

भाषापद्यानुवादः 😤 प्रतिदिन पढ़त महेसको, जो असतोत्र अनूप। सुद्धित्त है मक्तिजुत, सो न परत भव-कूप ॥ होत संभुके लोकमें, सो नर रुद्र समान। लहत विपुल धन आयु जस-पुत्रादिक सुख मान॥ ३४॥

भाषाविम्बम् दे प्रतिदिन नर जोई धूर्जटी स्तोत्रही (या) को, पढ़त धरि सुभक्ती सुद्ध अन्तः करन्-सो यह शिवपुर मांही रुद्रके तुल्य होवे जग बहु धन आयू पुत्र कीर्त्यादि पावै॥ ३४॥

महेशा न्नापरो देवो महिम्नो नापरा स्तुतिः । अघोरा न्नापरो मन्त्रो नास्ति तत्त्वं गुरोः परम् ॥३५॥

🚁 संस्कृत टीका 😤

(महेशात्) महादेवात् (अपरः) भिन्नः कश्चित् (देवः) हुरः (म) नास्ति । तथाच (माहिम्नोऽपरा) माहिम्नस्तोत्रभिन्ना अन्या (स्तुतिः) अपि (न) नास्ति । एवं (अधोरात्) अधोरमार्गात्- यथा चोक्तमपि वेदे रुद्रपाठ- "या ते रुद्र! शिवा तनुरघोरा पाप- नाशिनी-" इति तथाचाघोरपूजाप्युक्ता क्वाचित्समृत्यादिषु-यथा—

"भाद्रे मास्यसिते पक्षे, अघोराख्या चतुईशी। तस्यामाराधितः स्थाणु,र्नयेच्छिवपुरं ध्रुवम्॥"

अघोरमन्त्रस्तु-"ॐअघोरेभ्योऽथघोरेभ्यो घोरघोरतरेभ्यः। सर्वेभ्यः सर्वेश्ये नमस्तेऽअस्तु रुद्गरूपेभ्यः।" अस्य मन्त्रस्य माहात्म्यम् विदेशषरूपेण लिङ्गमहापुराणे द्रष्टव्यमिति ॥ (अपरः) पृथक् अन्यो वा (मन्त्रः) जपा त्थिप्रसिद्धिप्रदः (न) प्वमेव श्री (गुरोः परं) अन्यत् किञ्चित् (तस्वं नास्ति) तथाचोक्तम्।

"गुरु ब्रह्मा गुरु विष्णु गुरु देवो महेरवरः। गुरुः साक्षा त्परं ब्रह्म, तस्मै श्रीगुरवे नमः॥" स्पष्टोऽत्र सर्वाशय इति ॥ ३५॥

🙀 🧎 संस्कृतपद्यानुवादः 🦂 🐭 💮

महेदवरा न्नास्त्य परो हि देवः, स्तुति मीहम्नोऽःय गरा न काश्वित्। अघोरकल्पा (मन्त्रा) दपरो न मन्त्रो, (मनुनौ) गुरोः परं तस्व मिहास्ति नान्यत्॥ ३५॥

😤 भाषा टीका 😤

(महेरात् अपरः देवः न) महादेवसे भिन्न कोई दूसरा देवता नहीं है—अर्थात् सभी उन्हेंके अंश—रूप है अतः उनसे बढकर दू-सरा कोई नहीं है। (महिम्नः अपरा स्तुतिः न) महिम्नसे बढी चढी दूसरी कोई स्तुतिभी नहीं है। (अधोरात् अपरः मन्त्रः न) अधोरसे बढ़ा कोई मंत्र नहीं है—इसी अधोर मतमें सावर मन्त्रभी है—यथा

"काल विलोकि जग हित हर गिरिजा, सावर मन्त्र जाल जिन सिरिजा। अनमिल आखर अरथ न जापू, प्रगट प्रभाव महेस प्रतापू।" इत्यादि (तु० रा०)

(गुरोः परं तस्वं न अस्ति) गुरुसे परे कोई तत्व नहीं है। तु-हसी दासने रामायणकी पहिलीही चौपाईसे गुरुवंदना प्रारंभ की है और उत्तरकांडमें गुरुका माहात्म्य वर्णन किया है—और सभी पुराणादिकोंमें पाया जाता है।

🏂 भाषापद्यानुवादः ।द्रै

सिवसम अपर न देव कहुँ, महिमनसी स्तुति नाँहि । नहि अघोरसो मंत्र जग,तस्व न गुरु पर जाँहि ॥ ३५ ॥

भाषा विम्बम् 😤 महादेवसो देवता, निह महिम्नसो स्तोत्र। ना अघोरसो मंत्र है, गुरू तत्त्व सम कोऽत्र ॥ ३५॥

दीक्षा दानं तप स्तीर्थं, ज्ञानं यागादिकाः कियाः । महिम्न स्तवपाठस्य कलां नाईन्ति षोडशीम् ॥३६॥

रमें (३२-३६) क्लोकाः स्तोत्रान्तर्गताः सुगमाश्चेति सर्वे भद्गम्॥ इरिशंकरयोरभेदबोधा भवतु श्चद्रधियामपीति यत्नात्।

ष्टभयार्थतया मयेदमुक्तं सुधियः साधुतयैव शोधयन्तु ॥ १॥

यद्यतो वक्रया रीत्या कर्नु शक्यं विधान्तरम्।
यद्यपीह तथाप्येष ऋजुरध्वा प्रदर्शितः॥ २॥
स्ठोकानुपात्तमिह न प्रसङ्गात्किचिदीरितम्।
स्ठोकोपात्तमिप स्तोकैरक्षरैः प्रतिपादितम्॥ ३॥
महिस्राख्यस्तुतेव्यीख्या प्रतिवाक्यं मनोहरा।
इयं श्रीमहुरोः पादपद्मयोरिपता मया॥ ४॥
टीकान्तरं कश्चन मन्दधीरितः सारं समुद्धृत्य करोति चेत्तदा।
शिवस्य विष्णोर्द्विजगोसुपर्वणामिप द्विषद्भावमसौ प्रपद्मते॥५॥
भूतिभूषितदेहाय द्विजराजेन राजते।
पकात्मने नमो नित्यं हरये च हराय च॥ ६॥

हिति श्रीमत्परमहसश्रीमद्विश्वेश्वरसस्स्वतीचरणारविन्दमधुपश्रीमधुसूदन-सरस्वतीविराचिता महिम्नस्तुातिव्याख्या संपूर्णा ।

र्रें। संस्कृत टीका 😤

(दीक्षा) गुरुमुखादेव स्वेष्टदेवतामन्त्रग्रहणं-यथोक्तं-"योगि -नीतन्त्रे"—

"दीयते ज्ञान मत्यन्तं, क्षीयते पापसञ्चयः। तस्मा द्वीक्षे ति सा प्रोक्तां, मुनिभि स्तत्त्वद्र्शिभिः-"इति ॥ (दानं) स्वस्वत्वपरित्याग-पूर्वकं वितरणं दानं, तदुक्तं- "ग्रु-द्धितत्त्वे" यथा-

"अर्थाना मुदिते पात्रे, श्रद्धया प्रतिपादनम्। दान मित्य भिनिर्दिष्टं, व्याख्यानं तस्य वक्ष्यते"॥ इति— "श्रीमद्भगवद्गीतायां" तु सात्त्विक-राजस—तामसभेदात्रिविधं द्दानमभिहितं तद्यथा—१७ अध्याये—

[सारिवकं यथा-] "दातब्य मिति यद्दानं, दीयते ऽनुपकारिणे। देशे काळे च पात्रे च, तद्दानं सास्विकं स्मृतम्॥"२०॥

[राजसं-यथा-] ''यत्तु प्रत्युपकारार्थं, फल मुद्दिश्य वा पुनः। दीयते च परिक्किष्टं, तद्दानं राजसं स्मृतम्' ॥२१॥

[तामसं-यथा-] "अदेशकाले यहान मणात्रेभ्यश्च दीयते। असत्कृत मवज्ञातं, त सामस मुदाहतम्॥"२२॥ प्वमेव "कूर्मपुराणे" तु चतुर्विधं दानं कथितं तद्पि स्मर्तद्यम् — "नित्यं नैमित्तिकं काम्यं, त्रिविधं दानमुच्यते। चतुर्थं विमलं प्रोक्तं, सर्व्वदानोत्तमोत्तमम्"-

इति । उत्तरार्ध-अ० २६।४॥ पतेषां लक्षणानि तत्रेय द्रष्टव्यानि विस्तरतो नेह लिख्यन्ते। दानधर्मियः पये-दानकमलाकर, दानचिन्द्रकादयो ग्रन्था द्रष्टव्या इति । (तपः)- शास्त्रोक्तविधिपूर्वकक्केशजनकं कर्म तप इति कथ्यते। तपोमाहात्म्यं सः वैत्रेय पुराणादिषु दृश्यते, विशेषतस्तु "मत्स्यपुराणो" कं क्षेयं-यथाः

"तपाभिः प्राप्यते ऽभीष्टं, नासाध्यं हि तपस्यतः। दुर्भगत्वं वृथा लोको. वहते सति साधने-"इति।

प्रमोव "श्रीमद्भगवद्गीतायां" अपि-शारीर-वाचिक-मानिसकभेदा-ब्रिविधं तपः कथितं तद्यथा १७ अध्याये दर्शनीयम्। [शारीरं-यथा] "देवद्विजगुरुपाञ्च पूजनं शौच मार्जवम्॥

ब्रह्मचर्यं महिंसा च, शारीरं तप उच्यते ॥१४''॥

[बाचिकं-यथा] "अनुद्वेगकरं वाक्यं, सत्यं प्रिय-हितञ्च यत्। स्वाध्यायाभ्यसनं चैव, वाङ्मयं तप उच्यते॥१५॥'

[मानसं, यथा] "मनःप्रसादः सौम्यत्वं, मौन मात्मविनिग्रहः। भावसंशुद्धि रित्येत त्रापा मानस मुच्यते ॥१६॥

तद्पि सात्विक-राजस-तामसभेदाित्रविधमेतद्ग्र एव स्पष्टीकृतमत्र स्यज्यतेऽतस्तत्रैव द्रष्टव्यमिति च प्रार्थ्यते। (तीर्थ)-तरित पापादिकं

यस्मात्तत्तीर्थं तृ-प्रवनतरणयोः -- "पातृतुदिवचिरिचिसिचि भ्यस्थ-क्-" २ । ७ उणा० इति थक् प्रत्ययः । पुण्यस्थानादिकं ।

"तीर्धे शास्त्राध्वरक्षेत्रोपायोपाध्यायमन्त्रिषु।

अवतारिषंजुष्टाम्मः,स्रोरजःसु च विश्वतम्॥"[कौमुद्युद्धतिषद्यकोदाः] एवं च तीर्थमाहात्म्यं सर्वपुराणप्रसिद्धमिप काशीखण्डस्य षष्टा-ध्याये विशेषरूपेण द्रष्टव्यं तथाच तत्रत्यमेवेदं पद्यं यथा—

"प्रभावा दद्भुताद्भूमेः, सिललस्य च तेजसा।
परिग्रहा न्मुनीनाञ्च, तीर्थानां पुण्यता स्मृता" ॥ ४४ ॥ इति ।
(ज्ञानयागादिकाः) तत्रादौ ज्ञानं-"मोक्षे धीर्ज्ञानमन्यत्र विज्ञानं
शिल्पशास्त्रयोः"-इत्यमरः । "श्रीभगाद्गीतायां" तु एवसुक्तं—

"अमानित्व मद्मिमत्व महिंसा क्षान्ति रार्ज्जवम् । आचारयोपासनं शाचं, स्थैर्य्य मास्मविनिम्रहः ॥ ७॥ हिन्द्रसार्थेषु वैराग्य मनहङ्कार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥ ८॥
असक्ति रनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु ।
नित्यञ्च समचित्तत्व-मिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥ ९॥
मयि चानन्ययोगेन भक्ति रव्यभिचारिणी ।
विविक्तदेशसेवित्व मरीत जैनसंसीद ॥ १०॥
अध्यात्मद्वानन्तित्यसं, तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।
एत ज्ञान मिति श्रोक्त मज्ञानं यदतो न्यथा॥"११॥(१३ अ०)
योगशास्त्रे त "मोक्ष्मम्मे" एवं निक्रणितं तद्या

योगशास्त्रे तु "मोक्षधर्म" एवं निरूपितं तद्यथा— "एकत्वं बुद्धि-मनसो रिन्द्रियाणाञ्च

आत्मनो व्यापिन स्तात ! ज्ञान मेतद नुसमम्" इति ।
ततो यागो-यज्ञः, यथाहामरः-"यज्ञः सवो ऽध्वरो याग-"इति ।
स यागो बहुविधो भवति, तत्र श्रौतामिकृत्यहिवर्यज्ञा अग्न्याधानादयः
सप्त, स्मार्तामिकृत्यपाकयज्ञा औपासनादयः सप्त, श्रौतामिस्तसंस्थाः सोमयागादय, पवमुत्तरक्षतवस्तु महावतसर्वतोमुख-राजस्य-पौण्डरीक-अभिजिद्-विश्वजिद्-अश्वमेधादयो बहवः श्रौतस्त्रादिमि क्षातव्याः। पवश्च "श्रीभगवद्गीतायाः" च चतुर्थे ऽध्यायेऽपि
बहुशो यज्ञविधिवर्णनं तथाच सप्तदशेऽध्याये सात्विकादिभेदत्रयं
द्रष्टव्यम्। पश्चयज्ञाश्च भगवता मनुना प्रोक्ता एव [मनुस्मृतौ चतुर्थाध्याये २१ श्रोकः]--

"ऋषियझं देवयझं, भूतयझ अ सर्वदा । नृयझं पितृयझ अ, यथादाक्ति न हापयेत्"॥ इसमेच-दिावपुराणे वायुसंहिताया मृत्तरभागे अ०१८ ऋो०८९-"कर्मयझ स्तपोयझो, जपयझ स्तदुत्तरः। ध्यानयझो झानयझः, पश्चयझाः प्रकीर्तिताः"॥

यश्चवर्णनादिकं च मत्स्यपुराणस्य ११८। ११९ अध्याययोः। पः श्रापुराणस्य-सृष्टिखण्डे ३१ अध्याये, तथाच कालिकापुराणस्या-पि ३० अध्याये, विस्तरको द्रष्टव्यमिति। यश्चस्यावस्यकत्वन्तु मनुः स्मृतिभगवद्गीताभ्यां सम्मतं सुप्रसिद्धमेव-यथा--

> "अमी प्रास्ता हुतिः सम्य गादित्य मुपतिष्ठते। आदित्याजायते दृष्टि र्षृष्टेरसं ततः प्रजाः॥"इति॥

हान्श्र यागश्च आदिर्यासां ताः—ज्ञानयागादिकाः, अत्र आदि-द्याब्देन अन्यान्यपि वेदाध्ययनपरोपकारदेवमन्दिरनिर्माणसेतुबन्धोः षधालयस्थापनादीनि धर्माचरणान्यृद्यानि । ताः क्रियाः कर्माणि (मः हिस्नः स्तवपाठस्य षोडशीं कलां नार्हन्ति) अर्थात् महिम्नस्तोत्रः स्य पाठन यत्फलं लभ्यते तस्य षाडशांशत्वमीप पूर्वोक्त-दीक्षादाना-दिकमिभिनैव प्राप्यत इति ॥ ३६ ॥

🧩 संस्कृत पद्यानुवादः 🦂

सुमन्त्रदीक्षा बहुशस्तु दानं, तपः कठारं शुचितीर्थसेवा। स्नानार्ज्जनं विश्वतयज्ञकर्मन्त्रभृत्यशेषं विहितं विधानम्॥ शुम्भो महिमनः स्तवपाठभृ(जा)तां, न षोडशीं याति कलां कदाचित्। अतो महिमनः स्तवपाठ एव, कार्यः प्रयत्ना दिखलेशभक्तैः॥ ३६॥

条 भाषा टीका 🦂

(दीक्षा) गुरुमुखसे अपने इष्ट देवका मंत्रोपदेश ग्रहण करः ना—दीक्षा कहाती है। यथा

"संसुमंत्र द्विजवर मोहि दीहा,

सुभ उपदेश विविधविधि कीहा।" (तु॰ रा॰)

(दानं) अपना स्वत्व उठाकर देना दान कहा जाता है, यथा— 'प्रकट चारि पद धर्मके, कलि महँ एक प्रधान। येन केन विधि दीहे, दान करै कल्यान॥'' (तु० रा०)

(तपः) शास्त्रके कथना नुसार हुं श जनक कर्म तप कहे जाते हैं—यथा—

"कराहें अहार साक फल कंदा, सुमिराहें ब्रह्म सिच्चदानन्दा। पुनि हरि हेतु करन तप लागे, यारि अहार मुल फल त्यागे। इहिविधि बीते वर्ष पट-सहस वारि आहार। संबत सप्त सहस्र पुनि, रहे समीर अधार॥ वर्ष सहस्र दस त्यागेंउ सोऊ, ठाढे रहे एक पद दोऊ।" (तु० रा०)

तपके क्षेत्रा जनक होंनेसे उसका फलभी क्षेत्रामय होगा ? ऐसी दांका नहीं करनी चाहिए क्योंकि क्षेत्र उठानेका फल सुख मिलना प्रस्यक्षसिद्ध है और समस्त तपोंका फल मनोऽभिलित वस्तुका लाभ ही कहा गया है—यथा "दुराराध्य पे अहाई महेसू, आसुतोष पुनि किये कलेसू। जो तप करिह तुझारि कुमारी, भाविदु भेटि सकैं त्रिपुरारी।" (तु० रा०)

तपका माहात्म्य और फलभी यों कहा गया है—यथा
"जिन आचर्य करहु मन मांही, सुत! तपते कछु दुर्लभ नांहीं।
तपबलते जग स्जै विश्वाता, तपबल विष्णु सकल जग त्राता।
तपबल संभु करिह संहारा, तपबल सेष धरिह महिभारा।
तप अधार सब सृष्टि भुआरा, तपते अगम न कछु संसारा।"(तु॰रा॰)

(तीर्थ) तीर्थ स्थान प्रसिद्ध हैं, काशी-प्रयाग इत्यादि तीर्थों का माहात्म्य बहुत विस्तृत रूपसे पुराणादिकों में पाया जाता है-अत एव इस विषयको ढूंढलेना चाहिए प्रथके विस्तार-भयसे विशेष व नहीं लिखा जाता।

"तीरथवर नैमिषविख्याता, अति पुनीत साधक सिधिदाता।" (तु॰ रा०)

(ज्ञानं) ईश्वरके समझलेनेहीका नाम ज्ञान है-इस ज्ञानो-रपादनके लिये वेदांत इत्यादि समस्त शास्त्र जाल हैं, गीतामें ज्ञान निरूपण उत्तमरीतिसे किया है।

'कहर्हि संतमुनि वेद पुराना, नाहि कछु दुर्लभ ज्ञान समाना।''(तु०रा०)

(यागादिकाः कियाः) यज्ञ इत्यादि पवित्र कर्म यथा -"प्रात कहा मुनिसन रघुराई, निर्भय यज्ञ करहु तुम जाई। होम करन लोगे मुनि झारी, आपु रहे मखकी रखवारी।"(तु॰ रा०)

(मिह्मनः स्तवपाठस्य षोडवीं कलां न अहीन्त) ये सब पूर्वीक् क कम माह्मन स्तोत्रक पाठकी सोलहवीं कलाकीभी योग्यता नहीं रखते भाव यह कि—इस मिह्मनस्तेत्रके पाठसे जो फल मिक् लता है इन पूर्वोक्त दीक्षा-इत्यादिसे उसका सोलहवां भागभी फक् ल नहीं मिलसकता-अर्थात् रूपयेमें एक आना भी नहीं होसकते॥

कु भाषापयातुनादः कु दीच्छा दान सतीर्थ तप, झान मखा-दिक कर्म। सहिं न महिमन पाठकी, कला सोलही मर्म॥ ३६॥ र्भ भाषाविम्वम् 😤 दिञ्जा दान तया तीर्थ, ज्ञान जज्ञादि कर्मभी। महिम्न पाठके आगे, कला है सोलहीं नहीं॥ ३६॥

(१)कुसुमद्दशननामा सर्वगन्धर्वराजः शिशुशशिधरमौले देवदेवस्य दासः। स खलु निजमहिस्रो भ्रष्ट एवा स्य रोषा-रस्तवन मिद्दमकाषी दिव्यदिव्यं महिस्रः॥३७॥

🧩 संस्कृत टीका 😽

(शशिधरवरमें छेः) चन्द्रमों छेः क्विच्छिशुशशिधरमों छेरिन्यपि पाठः स्पष्टार्थ पव। (देवदेवस्य) महादेवस्य (दासः) सेवन्कः। "भृत्ये दासेयदासेरदासगोध्यकचेटका—"इत्यमरः (सर्वगन्धः व्वराजः) सर्वेषां गन्धर्वाणां राजा—"राजाहः साखिभ्य एच्"-५। ४। ९१-इति टच्प्रत्ययः। गन्धर्व्वस्तु देवयोनिविशेषां देवेषु गायकां चा—"विद्याधरोऽप्सरो यक्षरक्षोगन्धर्वकिष्ठराः। पिशाचो गुह्यकः। अद्यो भूतोऽमी देवयोनय—" इत्यत्राप्यमर पव। (कुसुमदशननामा) नामोपछक्षणमेत तेन पुष्पदन्ताचार्य्य इत्यवाभिप्रायः (अस्यव) महादेवस्य, पव-इत्यनन नान्यस्यत्यर्थः। (रोषात् कोपात् (निजमहिम्नः) समहत्त्वात्। अपादाने पश्चमी। (भ्रष्टः) पातितः सन् (दिव्यदिव्यं) दिवि भवा दिव्या स्तेष्त्रपि दिव्यं परमोत्तमं (इव्यं) पूर्वाभिहितं (महिम्नः स्तवनं) महिम्नः स्तेषत्रं (सः) उक्ताचार्यः (अकार्षात्) विरचितवान् (खळु) इति निश्चयेन। अत्र महिभ्वररोषादेव परिभ्रष्टेन पुष्पदन्ताचार्य्येण शिवतोषार्थमेवेदं महिम्नः स्तोत्रं व्यधायीति स्पष्टोऽर्थो भावश्चेति॥ ३७॥

⁽१) महिम्नस्तुतेरेकिविशस्क्लोका एव श्रीमधुस्रदनसरस्वत्याख्ययितिवरैन्यांख्याताः । तता द्वाविशदादि षट्विशस्यवेत्तं स्रोकान्संगृद्धाग्रे न्याख्यापसंहारे 'इमे स्रोकाः स्तोबान्तर्गताः सुगमा-श्रेति सर्वे भद्रं' इति लिखितमस्ति नामेतनानि पद्मानि, तथापि, लोकपाठमसुमृत्यास्माभिरत्र संगृ-इतिनानीति शम् ॥

संस्कृतपयानुवादः । ।
गन्धव्वराजः स हि (किव) पुष्पद्नतः,
श्रीचन्द्रमौल्यङ्घिसरोजभृङ्गः (दासः)।
भ्रष्टोऽस्य शापा त्स्वमहत्त्वतोयः (त्स्वमहिम्न एव)
स्तोत्रं महिम्नो विधिवद्यधत्त ॥ ३७॥

र्रें भाषा टीका 😤

(शशिधरवरमोलेः) चन्द्रकलाको मस्तकमें धारण करने वाले (देवदेवस्य) भगवान महादेवका (दासः) सेवक, एवं (सर्वगंधर्व-राजः) समस्त गंधर्वोके राजा (कुसुमद्शाननामा) पुष्पदंत नामक कविने (अस्यैव रोषात्) इन्हीं महादेवजीके कोपसे (निजमहिस्नः भ्रष्टः) अपने महत्वसे पतित होकर (इदं दिव्यदिव्यं महिसः स्तवनं) इस परमोत्तम महिस्न स्तोत्रको (सः अकार्षीत् खलु) निश्चय करके बनाया।

भाषापद्यानुवादः क्रु राजा सब गंधर्वके, पुष्पदंत विख्यात । बाल चन्द्रधर-मौलिके, जो सेवक किद्यात ॥ महादेवके रोषते, निज महिमा बिनसाय। सिव महिमाकी स्तुति रची, अतिसय दिव्य बनाय॥ ३७॥

कुसुमद्सनगाजा सर्व-गन्धर्व राजा,

ससिधर प्रभुकेरा भक्ति संज्ञुक चेरा। निज-पद महिमाते भ्रष्ट ह्वे रोष घाते,

स्तुति शिव महिमाकी दिव्य दिव्यै रची (यहै) की (बनायी)॥३०॥

सुरवरमुनिपूज्यं स्वर्गमोक्षेकहेतुं पठित यदि मनुष्यः प्राञ्जिल नीन्यचेताः । वजित शिवसमीपं किन्नरैः स्तूयमानः स्तवन मिद ममोघं पुष्पदन्तप्रणीतम् ॥ ३८॥

र्भ संस्कृत टीका भू-(यदि) कदाचित् (प्राञ्जलिः) प्रबद्धकरणसम्पुटः (नान्यचे- ताः) अनन्यमनस्कः (मनुष्यः) सामान्यमुपलक्षणमेतत् । (इदं) पूर्विविहितं (सुरवरमुनिपूज्यं) सुरवरा इन्द्रादयो देवा, मुनयो विशिष्ट छादयस्तैः पूजनीयं, अर्थादिदं स्तात्रं न केवल्रेमेनुष्येरेव पूजितः मस्ति परन्तु देवा मुनयश्चेतेन स्तुवन्तीति भावः । अत एव (स्वर्गमोक्षेकहेतुं) स्वर्गापवर्गयोरेकमात्रं साधनभूतं (पुष्पदन्तप्रणीतं) पुष्पदन्ताभिधानकिवना विरचितं (अमोधं) अव्यर्थं, सर्वदैच्य फलदानोन्मुखं-तेनास्य पाठस्तु कदाचिद्षि व्यर्थतां न प्रयाति सर्वथेव यथोक्तमाबिलमपि फलमवश्यमेव ददाति, इति सूचितम् (स्तवनं) माहिस्नः स्तोत्रं (पठिते) अध्येति, पाठमात्रं करोतीति या । तिर्हे (किक्षरैः) देवाविशेषः (स्त्यमानः) स्तत्यः सन् (शिष्मभिषं) विभोः पार्श्वं (व्रजति) गच्छिते । अर्थादादीः गणत्वस्मिष्टाते सामीष्याख्यं निर्वाणपदं प्राप्नोतीति भावः । पूर्वपद्येऽत्रापि स्मालिनीवृत्तमेव ॥ ३८ ॥

र्भ संस्कृत पद्यानुवादः द्वै सुर्गिवृन्दवन्दितं स्वरादिमोक्षसाधनं (दायकं), पठत्यमुं स्तवं नरः प्रबद्धहस्तसम्पुदः । अनन्यमानसो यदि प्रयाति दाम्भुसन्निधि समस्तिकन्निरं स्स्तुतः सुपुष्पदन्तिनिर्मितम् ॥ ३८ ॥

र्रे भाषा टीका 🦂

(प्राञ्जिल्डः) दोनां हाथांको जोडकर (नान्यचेताः) एकाप्रचित्त हो (मनुष्यः) कोईभी मनुष्य (सुरवरमुनिपुज्यं) इन्द्रादिकदेवता स्वीर विश्वाद्यादिक महर्षियोसे पूजनीय (स्वर्गमोक्षेकहेतुं) स्वर्ग और मोक्षके एकमात्र साधन (पुष्पदन्तप्रणीतं) पुष्पदन्ताचार्यके बनाये हुए (अमोघं) कभी व्यर्थ नहीं होने वाले अर्थात सदा फलदायक (इदंस्तवनं) इस महिस्नस्तोत्रको (यदि पठिते) जो पढ़े तो (किः श्वरैः स्तूयमानः [सन्]। किन्नर लोगोंसे स्तुत होता हुआ (शिव समीपं) महादेवके पास (वजिते) जाता है-अर्थात् यह स्तोत्र अव्य-र्थ है इसके पाठसे स्वर्ग और अपवर्ग दोनों ही मिलते हैं वरन सामीप्य नामक परं पद भी इससे प्राप्त हो जाता है-और किन्नर लोग उसकी सडाई गाया करते हैं। भाषापद्यानुवादः क्रि पूजिं सुर मुनि जाहि सब, देत स्वर्ग अरु मुक्ति। एक चित्त है जोरि कर, जो पढ नर तिज्ञ मुक्ति॥ किन्नर गाविहें ताहिको, सो जावै सिव पास। पुष्पदन्त प्रनीत यह, अस्तुति पुरवित आस॥ ३८॥

कु भाषा विम्बम् कु सुरु सुनि सम पूज्ये स्वर्ग औ। मोच्छ मूलै, स्तुति यहि अमाधे पुष्पदन्ते रची है। पिंड नर कर जोरे चित्त एकाग्रतासे, पहुँचत शिव पासें किन्नरे ताहि गाँवे॥ ३८॥

आसमाप्त मिदं स्तोत्रं, पुण्यं गन्धर्वभाषितम् । अनौपम्यं मनोहारि, शिव मीश्वरवर्णनम् ॥ ३९॥

्रिः संस्कृत शैंका द्वि (गन्धर्वभाषितं) गन्धर्वराजपुष्पदन्ताचार्यकथितं (पुण्यं) पुण्यप्रदं पवित्रमित्यर्थः "पुण्यं धर्मे मनोक्षे च पावन च प्रयुज्यते" इति मेदिनी । (अनीपम्यं) उपमारिहतमद्वितीयत्वात् (मनोहिरि) पठतां शृण्वताञ्च जनानां चित्तापहारकं (सर्वे) अखिलमेव (ईश्व-रवर्णनं) परमेश्वरमाहिमवर्णनापूर्णं (इदं) पूर्वोक्तं (स्तोत्रं) म-हिम्नः स्तोत्रं (आसमाप्तम्) आ समन्तात्समाप्तिं गतिमिति ॥३९॥

प्रसिद्धमतेच्छ्रीद्दारमोर्द्धार्तिदाच्छ्लोकसम्मितम् । समस्तमीश्वरस्यैव, वर्णनेन समापितम् ॥ असमानमिदं स्तोत्र, मभिज्ञानां मनौहरम् । गन्धर्व्वगीतं गीतेव, पवित्रं पुण्यवर्द्धनम् ॥ ३९॥

भाषा टीका क्ष्रे (पुण्यं) परम पिवत्र (गन्धर्वभाषितं) गन्धर्वराज-पुष्पदन्ताः चार्यका कहा हुआ (अनूपम) उपमारिहत (मनोहारि) पढ़ने सुन् नने वालेंका मन लुभानेवाला (सर्व ईश्वरवर्णनम्) सर्व प्रकार ईश्वरहीके वर्णनसे भरा हुआ (इदं स्तोत्रं) यह महिम्न स्तोत्र (आसमाप्तम्) समाप्त हुआ। कि भाषापद्यानुवादः कि है समाप्त अस्तोत्र यह, ईस्वर बर्नन सर्व । अनुपम पुन्य मनोहरै, जिहि भाष्यो गंधर्व ॥ ३९ ॥

भाषा विज्वम् 😤 है समाप्त यही स्तोत्रे, सर्व ईश्वर वर्निकै। वे जोड चित्त-हारी है, पुन्य-गंधर्व-भाषिते॥ ३९॥

श्रीपुष्पदन्तमुखपङ्कजानिर्गतेन स्तोत्रेण किल्बिषहरेण हरप्रियेण । कण्ठस्थितेन पठितेन समाहितेन सुप्रीणितो भवति भूतपतिर्महेशः ॥ ४०॥ इति श्रीपुष्पदन्तविरचितं शिवमहिस्नस्तोत्रं संपूर्णम् ।

दें। संस्कृतटीका 😤

(श्रीपुष्पदन्तमुखपङ्कजनिर्गतेन) श्रीमत्पुष्पदन्ताचार्यस्यैव मु-खकमलाद्विहिर्गतेन। एतेनेयं प्रभोरनादिस्तुतिरिति सुचितं (कि-व्यिषहरेण) पापपुञ्जविदारकेण (हरित्रयेण) शम्भोः प्रेमारस्पदृत्वं प्रयातेन (कण्ठस्थितेन) कण्ठस्थेनैवास्य पाठमाहात्म्यमिति ध्व-नितं, तेन पुस्तकसाहायेन पाठे कृते न ताहराः फललामा भवतीति च विश्वापितम्। (पाठितेन) अधीतेन,पाठ्यतां गतेन (समाहितेन) अङ्गीकृतेन, निर्विवादीकृतेन अथवा प्रतिक्रातेनेति यावत्।—'सङ्गी-र्ण-विदित-सश्चत-समाहित-उपश्चत-उपगतम्'' - इत्यमरः । समाहित नेत्यत्र "निष्ठा"— ३ । २ । १०२ — इत्यनेन ततश्च-"द्धार्तेहिः-" ७।४। ४२-इत्यतोहित्वमपि । केचिद्र समाहितेनत्यस्य समाहितचित्तेन जनेन पठितेनेति योजयन्ति, तम समीचीनं नान्यचेता इत्येव पूर्वोक्तत्वात् । (स्तोत्रेण) महिम्न-स्तोत्रपाठेन (भूतपतिः) भूतानां पृथिब्यादीनां देवविशेषाणां वा पतिः स्वामी (महेशः) महाँश्चासौ ईशस्य महेशः (सुप्रीणितः) अत्यन्तप्रसन्नः (भवति)। अस्य स्त्रोत्रस्य कस्ठस्थपठनमेव महे-इवरमसमताहेतुः हरप्रियत्वादिति तात्पर्ग्यार्थः स्पष्ट एव सिद्धः।

षसन्तातिलकावृत्तम्-"उक्ता वसन्ततिलका तभजाजगौगः-"इतिवृ∙ चरनाकरे ॥४०॥

🔆 संस्कृतपद्यानुवादः 🦂

श्रीलश्रीपुष्पदन्ताननसरसिजतो निर्गतेन स्तवेन, पापौघत्रावभेदप्रवितताभिदुरेणेश्वरातिष्रियेण। कण्ठस्थानस्थितेन प्रणिहितमनसोश्वारितेनैव भक्त्या, देवानामादिदेवो भवति(पशु)भवपतिः प्रीणितोऽतीव शीघ्रम्॥४०॥

महिम्नस्तोत्रेऽस्मिन्परमभगवन् ! पद्यखाचिता, द्विधा टीका नारायणपतिमहीदेवरचिता । मुदे तेऽस्तान्मार्गा-सितद्छद्शम्यां कुजदिनेऽ-पिता भक्त्या वर्षे ऋतु-रस-निधि-क्षोणि-गणिते ॥ *॥

🧩 भाषा टीका 😤

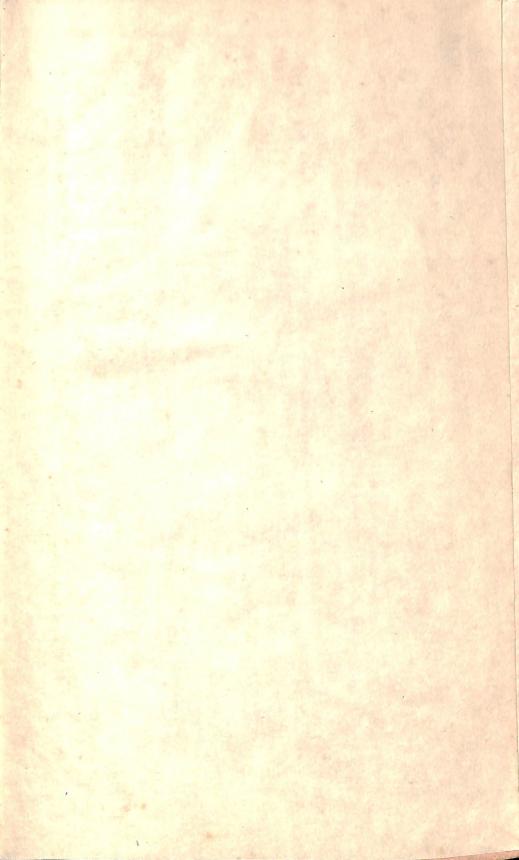
(श्रीपुष्पदन्त मुखपङ्कजनिर्गतेन) श्रीपुष्पदन्ताचार्यके मुख कमल खे निकले हुए (कि व्विषहरेण) पापेंके हरण करने वाले (हरिप्रयेण) महादेवके बडे प्यारे (समाहितेन) प्रतिज्ञा किये हुए (कण्ठिस्थितेन) कण्ठाग्रही (पिठतेन) पढे गये क्योंकि पुस्तक देखकर पाठ करने से मन अक्षरों पर लग जाता है जिससे स्तोत्रार्थ का भाव-कभी कभी नष्ट प्राय हो पडता है (स्तोत्रेण) इस महिस्स्तोत्रसे (भूतपितः महेशः) समस्तभूतोंके अधिपति महेश्वरदेव (सुप्रीणितः भवति) अत्यन्त प्रसन्न होते हैं-अर्थात् इस स्तोत्रके कंठस्थ पाठ करनेसे महादेवजी बडे ही प्रसन्न होते हैं।

भाषा पद्यानुवादः 😤
पुष्पदंत-मुखकमलते, निसरी अस्तुति जोष ।
पाप हरै ष्यारी लगै, महादेव को सोय ॥
याहि पढें कंस्ठथ जौ, भले समाहित जानि ॥
तांप परम प्रसन्नाचित्त, होवहि संभु-भवानि ॥ ४० ॥

शिपुष्पदन्त मुखपंकजते कढ्यो जो, श्रीपुष्पदन्त मुखपंकजते कढ्यो जो, स्तोत्रे अघे हरत है हरको पियारो । कंठस्थ याहि पढिहै, स्थिर चित्त है जो ताँप प्रसन्न रहि हैं नितही महेशो ॥ ४०॥ हति श्रीः। विष्र रमापतिको तनय, नारायन पति नाम।
सेवत श्री विश्वेश पद, वसत बनारस धाम॥१॥
संवत रस ऋतु अंक महि, माघ अमावस पर्व।
अर्पत यह अनुवाद सब, विनवत "स्वीकुरु शर्व!"॥२॥

इत्येषा वाङ्मयी पूजा श्रीमच्छंकरपादयोः । अर्पिता तेन देवेशः प्रीयतां मे सदाशिवः ॥ ४१ ॥ तव तत्त्वं न जानामि कीदृशोऽस्मि महेश्वर । यादृशोऽसि महादेव तादृशाय नमो नमः ॥ ४२ ॥ एककालं द्विकालं वा त्रिकालं यः पठेन्नरः । सर्वपापविनिर्मुक्तः शिवलोकं महीयते ॥ ४३ ॥





परीक्षोपयोगी ग्रन्थ

र रघुवंशम् । महाकविकालिदासविरवितन्, 'ताशीविनी' तथा	'erwi'
व्याच्या सहित, पं नहाशहर मिश्र संपादित, प्रथम समे	3-00
द्वितीय सर्ग ३-००, १-५ सर्ग १५-००, १-२ सर्ग	E-00
	3-00
व किरातार्जुनीयम् । महाकविभारवि-विरश्वितम्, वण्टापथ-सुवा-	
सहितम्, व्या॰ पं॰ गङ्गाधर मिश्र । १-२ सर्गं ६-००, १-३ ।	मर्ग ९ -००
प्रथम सर्ग ३-००, द्वितीय सर्ग ३-००, तृतीय सर्ग	
र मीमांसान्याय प्रकाशाः। आपदेव कृत । सं० पं० पं० विश्वर	
शास्त्री कृत 'सारविवेचिनी' संस्कृत ब्याख्या सहित	26-00
४ नागानम्दनाटकम् । श्री हर्पदेवविरित्तम्, भावार्थदीपिका-स	
हिन्दीटीका सहित, ब्याक्या - आचार्य कळदंव उपाध्याय	
५ मेचदूतम् । कालिबासविरचितम्, सञ्जीवनी-चरित्रवर्द्धिनी-भावव	ोधिनी-
सौदामिनी-स्याच्याचतुष्टयोपेतम् । सम्पादक-पं श्री ब्रह्मशंकर मि	¥ €-00
६ बृहद्देवता । हिन्दी अनुवाद, टिप्पणी तथा परिशिष्ट सम्पूर्ण	
डॉ॰ रामकुमार राय अध्याय १-२	
७ व्यक्तिविवेकः । हिन्दी व्याक्या - टॉ॰ रेवाप्रसाद द्विवेदी	The state of the state of
प्रथम विमर्श	
८ नलचम्पू अथवा दमयन्ती कथा। त्रिविकमभह विरचित, हिन्दी	
•याच्या•—कैलासपति त्रिपाठी प्रथम उच्छास १-२ उच्छास १७-०० सम्पूर्ण	4-00
९ काब्यालङ्कार । भामह इत । ५० बदुक नाथ शर्मा तथा पं० क	
उपाध्याय द्वारा भूमिका आदि युक्त	24-00
• काव्यवरी । चन्द्रकला संस्कृत तथा विद्योतिनी हिन्दी टीका, नोट्स,	
भूमिका आदि सहित । कथामुख पर्यन्त	\$0-00
आदि से शुक्रनाशोपदेशान्त ३०-००, प्रथम भाग (पूर्वाई)	40-00
द्वितीय भाग (उत्तराई) २५-००, संपूर्ण १-२ भाग	
< काब्यप्रकादा । मन्मटाचार्य कृत । पं• हरिशंकर शर्मा कृत 'नागेश्वरी'	
के व्याप्त कर्म कर्म के विश्व में किया है से मान क्षेत्र में किया है से मान	. 47.

प्राप्तिस्थान चौखम्भा संस्कृत संस्थान, पो. बा. १३६ वाराणसी-२२१००१